An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

SATRAVACHEE

ISSN 2348-8425

सत्रावाची

A UGC-CARE Enlisted
Peer Reviewed Research Journal

वर्ष 11, अंक 40, नं. 1
जुलाई-सितम्बर, 2023

Editor
Anand Bihari

Chief Editor
Kamlesh Verma

ISSN : 2348-8425

सत्राची

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 11, अंक 40, नं. 1, जुलाई-सितम्बर, 2023

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

संपादक
आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक
आशुतोष पार्थेश्वर, सुचिता वर्मा,
प्रवीन कुमार यादव

सह-संपादक
अर्चना गुप्ता, जयप्रकाश सिंह,
हुस्न आरा

सहायक संपादक
सुशांत कुमार

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल

अनीता राकेश, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, जे.पी.विश्वविद्यालय, छपरा।
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्राध्यापक, शांति निकेतन, प.बंगाल।
ब्रज बिहारी पांडेय, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी।
पुष्पलता कुमारी, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, म.म.कॉ., पटना।
राजू रंजन प्रसाद, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास, मुजफ्फरपुर।
नीरा चौधुरी, प्राध्यापक, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
अरविन्द कुमार, एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत, पटना विश्वविद्यालय, पटना।
नीतु चौहान, सहायक प्राध्यापक, शिक्षा विभाग, पटना वीमेन्स कॉलेज, पटना

❑❑❑

SATRAACHEE

SATRAACHEE

Peer Reviewed and Refereed Research Journal

A UGC-CARE Enlisted Journal

मूल्य : ₹ 250

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक	: 5,000	रुपए (व्यक्तिगत)
	: 10,000	रुपए (संस्थागत)
आजीवन	: 12,000	रुपए (व्यक्तिगत)
	: 20,000	रुपए (संस्थागत)

बैंक खाते का विवरण :

SATRAACHEE FOUNDATION,
A/c No. 40034072172, IFSC : SBIN0006551,
State Bank of India, Boring Canal Rd.-Rajapool,
East Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

Google Pay: 9661792414

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी
कला कुंज, दूसरा तल्ला
बाजार समिति रोड, बहादुरपुर, पटना, पिन : 800016

Website : http://satraachee.org.in
E-mail : satraachee@gmail.com
Mob. : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.)
: 9415256226 (Kamlesh Verma.)

❖❖❖

SATRAACHEE

इस अंक में...

संपादकीय

05 :: स्त्री सशक्तीकरण की दिशा... – *आनन्द बिहारी*

आलेख

07 :: केदारनाथ सिंह की कविता और पारिस्थितिकी – *यवनिका तिवारी*

11 :: कम शब्दों के बड़े कवि : अरुण कमल – *चन्द्रबिंद*

17 :: जीवन-राग एवं ताप के कवि केदारनाथ अग्रवाल – *चंद्रकांत सिंह*

25 :: नब्बे के दशक की हिंदी कविता में मानव मूल्य एवं पर्यावरणीय चेतना – *मनकामना शुक्ल*

32 :: भारतीय स्वाधीनता आंदोलन और हिंदी गीत – *मनोज कुमार मौर्य*

39 :: 'मतवाला' मंडल और निराला – *राजीव कुमार*

44 :: मोहनदास नैमिशराय की कहानियों में दलित जीवन का संघर्ष – *प्रीति के.*

49 :: समकालीन स्त्री कथाकारों के लेखन में दर्ज स्त्री छवियाँ – *मो. दानिश*

54 :: सुभद्राकुमारी चौहान के 'ग्राम-स्वराज' का स्वप्न और 'राही' कहानी – *सितारे हिन्द*

59 :: महामारी और मृत्यु : स्वतंत्रतापूर्व कहानियों के बहाने – *रवि कुमार*

64 :: फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों की संरचना और यथार्थवाद – *रंजना सिंह*

75 :: संस्कृत साहित्य को औपनिवेशिक बिहार का योगदान – *राजू रंजन प्रसाद*

88 :: हिंदी में मिश्र क्रिया : स्वरूप एवं संरचना – *धनजी प्रसाद*

94 :: आदिवासी विमर्श : इतिहास, संघर्ष और प्रासंगिकता – *मोहन कुमार*

101 :: अनुपम मिश्र के गद्य में कहावतें और लोकोक्तियाँ – *रमेशचंद्र सोनी*
आशुतोष पार्थेश्वर

106 :: सेवासदन और बाजारे हुस्न की 'सुमन' – *ज़ीनत ज़्या*
आशुतोष पार्थेश्वर

113 :: गणेश शंकर विद्यार्थी की राजनीति और होमरुल लीग – *शशि यादव*
आशुतोष पार्थेश्वर

117 :: माधुरी में प्रकाशित कहानियाँ – *बिशाली यादव*
आशुतोष पार्थेश्वर

122 :: शृंखला की कड़ियाँ : स्त्री विमर्श का भारतीय पाठ – *किंगसन सिंह पटेल*

127 :: आचार्य शुक्ल का सैद्धांतिक चिंतन – *दिनकर सिंह*

पूर्वोत्तर की लाली

135 :: नारी कंठ से निकली है पहाड़ों की चीत्कार – *अभिषेक कुमार यादव*

मुजफ्फरपुर प्रसंग

143 :: कवि-लेखक-नाट्यकर्मी-अभिनेता लतीफ हुसैन उर्फ ललित कुमार सिंह 'नटवर' – *वीरेन नंदा*

शोधालेख

173 :: अमेरिकी प्रवासी हिंदी साहित्य एवं स्त्री मन का यथार्थ – *शालू*

179 :: कश्मीर के दर्द का जीवंत आख्यान : शिगाफ –*अमित कुमार चौबे*

186 :: 'दाम्पत्य के अनंत आतंक में प्रतिरोधी स्त्री-पुरुष मन – *प्रियंका श्रीवास्तव*
डॉ. रीता सिंह

196 :: महाराष्ट्र की कोकणा आदिवासी लोक-संस्कृति – *निलेश शिवाजी देशमुख*

201 :: समकालीन हिंदी ग़ज़ल में पर्यावरणीय चेतना – *विनीत कुमार यादव*
डॉ. क्षमा शर्मा

❖❖❖

संपादकीय

स्त्री सशक्तीकरण की दिशा...

बीसवीं सदी के अंतिम दशक से लेकर अब तक स्त्री सशक्तीकरण का मुद्दा विमर्श के केन्द्र में है। स्त्री बदल रही है, उसका परिवेश बदल रहा है, स्त्री के लिए निर्धारित मानदंडों में भी बदलाव आ रहा है। खास बात यह है कि इस बदलाव में ठहराव नहीं है, एक निरंतरता है। परिणामत: सामाजिक संक्रांति की दिशा अनिर्णित है। संक्रांति काल के दौर में ध्वंस ज्यादा है, निर्माण कम; शांति व शकुन और भी कम। एक हद तक यह आतंक का दौर है जिसे स्त्री अपने भीतर और बाहर दोनों जगह महसूस करती है। देखते ही देखते उसने एक बड़ी दुनिया रच डाली है। उस दुनिया में उसकी बहुआयामी छवियाँ हैं, उन छवियों में प्रबल शोषण, दया और सहानुभूति की अनगिनत गाथाएँ हैं। संक्रांत समाज स्त्री की इस बहुआयामिता से आक्रांत है।

स्त्री सशक्तीकरण की दिशा निर्धारित करने वाली ताकतें परेशान हैं। उन्होंने जो दिशा निर्धारित की थी, स्त्रियों ने उसका अतिक्रमण कर लिया है। अब वे व्यक्तित्व विकास के उस मॉडल से बाहर आ चुकी हैं जिसमें उनसे उम्मीद की जाती थी कि वे शिक्षित होकर अध्यापिका बनें और आत्मनिर्भर हों। ये उनके विकास का सांचा था। समझदार (?) बौद्धिक वर्ग आज भी इसी सांचे को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने पर तुला हुआ है और अपनी बेटियों व पत्नियों के लिए टीचर व प्रोफेसर के पद की प्राथमिक आकांक्षा रखता है। परंतु स्त्री इस षड़यंत्र को खूब समझती है। वह अच्छी तरह जानती है कि एक अध्यापिका के रूप में उसे क्या करना होगा। मान-मर्यादा और सामाजिक-पारिवारिक उत्तरदायित्व के बहाने अंतत: उसे पितृसत्ता का ही संरक्षक बना दिया जाएगा। उसके व्यक्तित्व को दो हिस्सों में बांटकर कमजोर कर दिया जाएगा, जिसकी परिणति अंतत: एक पारंपरिक सांचे में ढली हुई मर्यादित, अनुशासित, परिश्रमी और शालीन स्त्री के रूप में होगी। हमारे देश की अध्यापिकाएँ माँ के व्यक्तित्व में ही सिमट कर ही रह जाती हैं और उन्हीं मूल्यों को सामाजिक स्तर पर जीने लग जाती हैं जिसे एक साधारण माँ परिवार के स्तर पर जीती आ रही है। पितृसत्ता का यह व्यापक दायरा स्त्री को मंजूर नहीं है। वह अपने लिए एक बड़ा आकाश रचना चाहती है, जहाँ वह तस्लीमा नसीरन बनने की आजादी पा सके; कल्पना चावला,

शाहबानो, सुधा गोयल, शिवानी भटनागर, मधुमिता, मथुरा और नैना साहनी जैसा व्यक्तित्व पा सके।

पिततृसत्ता का दांव-पेंच अत्यंत गहरा है। वह बदलते परिवेश के मुताबिक नई शक्तियों की रचना कर लेता है। सामंतवाद, जातिवाद, संप्रदायवाद, राष्ट्रवाद, संस्कृतिवाद, बाजारवाद और पूँजीवाद इसकी सबसे मजबूत भुजाएँ हैं। पितृसत्ता की ये भुजाएँ प्रकारांतर से स्त्री सशक्तीकरण की दिशा को अपने हित में प्रभावित करती आयी हैं। स्त्री का विकास उतना ही हुआ जितना इन भुजाओं के आगोश में रहते हुए स्पेस मिला। वर्तमान दौर में पितृसत्ता की ये समस्त भुजाएँ पूँजीवाद के नेतृत्व में अत्यंत ताकतवर हो चुकी हैं। स्त्री सशक्तीकरण की समस्त उपलब्धियाँ अंततः पूँजीवाद को प्राप्त हो रही हैं। स्त्री प्राणपन से अपने देश और समाज के लिए खुद को बेहतर बनाने का प्रयास कर रही है, किंतु विडंबना यह है कि उसके प्रत्येक प्रयास का लाभ केवल पूँजीवादी शक्तियों को हो रहा है। स्त्री भ्रमित है और चकित भी कि उसकी विकास यात्रा के दो सौ वर्षों का संघर्ष का क्या फल हुआ? उसकी समस्त उपलब्धियाँ कहाँ गईं, उसकी उपलब्धियों ने उसकी आत्मा को तृप्त क्यों नहीं किया? उसके रिश्तों में बिखराव कैसे और कहाँ से आ गया? आर्थिक स्तर पर मजबूत होकर वह किस स्तर पर कमजोर हो गई? इक्कीसवीं सदी के इस दौर में आखिर वह क्या करे कि सम्मान और प्यार का जीवन हासिल हो? ये तमाम प्रश्न स्त्री सशक्तीकरण की चुनौतियाँ हैं। इनसे गुजरे बगैर स्त्री सशक्तीकरण की दिशा तय नहीं की जा सकती। स्त्री जीवन के लिए समाज में सम्मानजनक और सुरक्षित स्थिति की इच्छा रखने वाले शोधार्थियों को इन प्रश्नों के आलोक में चिंतन व शोध करना चाहिए। 'सत्राची' के अंकों में ऐसे शोध को प्राथमिकता देने की योजना है। उम्मीद है, सत्राची के आगामी अंकों में पूँजीवाद और पितृसत्ता के परस्पर संबंध को समझाने वाले लेखों की उपस्थिति रहेगी।

– आनन्द बिहारी

आलेख

केदारनाथ सिंह की कविता और पारिस्थितिकी

❍ यवनिका तिवारी✡

'दिग्विजय का अश्व', 'कमरे का दानव' और 'अनागत' केदारनाथ सिंह की प्रारम्भिक कविताओं में सबसे चर्चित तो है ही, अपने मिजाज में तीसरा सप्तक के रंगरोगन से बहुत भिन्न भी है। इन कविताओं की व्याख्या और कई बार अति व्याख्या तो बहुत हुई है पर उन्हें पारिस्थितिक संदर्भों से लगभग काट कर हुई है। इन कविताओं के अर्थ-पार्श्व सम्प्रभु मानव प्रजाति की सनकों इसके पारिस्थितिक दुष्परिणामों और महाजाति की दमित त्रासदियों को भी उघाड़ते हैं। इन तीन कविताओं में एक चीज सामान्य है कि यहाँ आतंकित, आशंकित और अपराध-बोध से ग्रसित है तथा 'मैं' नामवाची वाचक उसका प्रतिनिधि है। पारिस्थितिक आलोचना इन कविताओं में निबद्ध नरेतर के लिए अप्रियत्व और उनके अस्तित्व के विरुद्ध भ्रष्ट अर्थ संदर्भों को उद्घाटित करती है। कवि की उत्तरवर्ती कविताओं में जो प्रत्यक्ष पर्यावरण सजगता और पशु/पक्षी केंद्रिकता है उससे बिल्कुल अलग ये कविताएँ अधिक आयास की अपेक्षा तो करती हैं पर पर्यावरण की अधिक वयस्क और प्रौढ़ समझ विकसित करती हैं। कविताओं की शिल्पकारिता और कहन की सूक्ष्मता सप्तकीय भाव-बोध से पूर्णत: भिन्न अपने समकाल के अचर्चित संकट को सम्बोधित करती है।

'दिग्विजय का अश्व' प्रचलित मानवकेन्द्रित मूल्यों और दीर्घकालीन पशु दासत्व के विरुद्ध एक ऐन्टिथिसिस है। पर आलोचना के मौजूदा मानदण्ड 'अश्व' को प्राकृतिक अश्व नहीं रहने देते हैं बल्कि उसका प्रतीकीकरण करते हैं। या अनिवार्यत: कोई मानव सम्बन्धी संदर्भ आरोपित करते हैं। यह कविता कई अर्थों में पारिस्थितिक, सांस्कृतिक और साभ्यतिक दरारों को उभारता है। 'दिग्विजय' अपने आप में भी एक मानवेतर विरोधी संज्ञा है। अश्व को यदि प्रतीक न मानकर प्राकृतिक अश्व माना जाए तो यह पर्यावरणीय दृष्टि से एक उत्कृष्ट कविता बन जाती है। पहली कुछ पंक्तियों को पढ़ने से यह लगने लगता है कि यह अश्व मानव द्वारा 'टेम्ड' अथवा प्रशिक्षित है क्योंकि उसका दुरुपयोग मानव अपने दिग्विजय के लिए कर रहा है। यह पशु-विमर्श (जूक्रिटिसिज्म) के लिए अहम मुद्दा है। कविता के पार्श्व में पशु के दीर्घकालीन दास प्रथा का संदर्भ सक्रिय है। लेकिन कविता के उत्तरार्द्ध में अश्व वही मानव-प्रशिक्षित अश्व नहीं रह जाता है। वह मानव के कठोर बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि कवि की गहरी पक्षधरता अवदमित पशु प्रजाति के प्रति है। इस कविता के कुछ ऐसे तथ्य हैं जिससे मानव के असामान्य विक्षिप्तता का पता चलता है। 'मैं' नामवाची व्यक्ति यह दावा करता है कि उसी ने इस अश्व को दिग्विजय के लिए विजय कुलों की दिशा में मोड़ा है।

✡ यवनिका तिवारी, शोधप्रज्ञ 27/7, गुरुपल्ली (दक्षिण), शान्तिनिकेतन-731235; मो. 8158965642; ईमेल: tiwary.yavanika@gmail.com

और इसी लिए वह उस सुनहरे पत्र को भी जानता पहचानता है जो अश्व के गले में बंधा है। लेकिन अब बहुत सी चीजें वह भूल भी चुका है और अश्व से आतंकित-आशंकित भी है। 'मैं' अश्व से इस प्रकार आतंकित है कि उसे हर जगह वही भागता हुआ दिग्विजय का अश्व दीखता है। उसकी मानसिक अवस्था स्मृतिलोप या शीजोफ्रेनिया के निकट पहुँच जाती है। "हाँ वही/बिल्कुल वही था। कभी हल्के झुटपुटे में जिसे देखा था/तलहटी में/घाटियों में/नींद की खामोश गलियों-पार/जिसकी डूबती टापें सुनी थीं/हवाओं के साथ/उड़ते जिसे देखा था/हाँ वही था/वही था यह अश्व/इस पथ से गया है/अभी बिल्कुल अभी/...../भूलता हूँ मैं कि मैंने कब, कहाँ, किस सिन्धु तट पर/तुम्हें छोड़ा था ?/कब दिये थे पंख ये तुमको ?/किधर/किन विजय कूलों की दिशा में/तुम्हें मोड़ा था!" (अभी बिल्कुल अभी, राजकमल प्रकाशन सं. 201, पृ. 38-39) यह एक ऐसे व्यक्ति की स्वीकारोक्ति है जो अपनी प्रजाति (Species) की विभीषिकामय विडम्बना को साफ साफ देख रहा है। असफल अश्वमेध यज्ञ का बिम्ब और अश्व की अवज्ञा मानव प्रजाति के श्रेष्ठत्व के मिथ और उनके 'फ्युडल' मानसिकता को तोड़ते हैं। यह मानव की हार का भय है जो 'मैं' नामवाची व्यक्ति की चिति में विद्यमान है। उसके अवचेतन में स्थित इसी भय के कारण ही उसे हर जगह अश्व का भ्रम होता है। जो इच्छाएँ यथार्थ नहीं हो सकती थीं उसे वह स्वप्न में या फंतासियों में पूर्ण करता है। उसने सफलता की जैसी कामना की थी उसे स्वप्न/फंतासी में फलित होता देखता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर कवि इच्छा पूर्ति के सिद्धान्त की ओर संकेत करते हैं जहाँ असंतुष्ट इच्छा की भरपाई स्वप्न में की जाती है। यह महज स्वप्न भी नहीं है। पूरा दृश्य ही दृष्टिभ्रम है। उसका भय, हीनता-बोध और विक्षिप्तता इस बात पर आधारित है कि उसके द्वारा प्रशिक्षित अश्व प्रशिक्षण को नकारता हुआ चला जा रहा है। वह किसी के रोके नहीं रुकता है। वह उसे रोकने के कई प्रयत्न करता है और गुहार भी लगाता है। वह अश्व को बार-बार पुकारता है पर वह 'खिड़कियों को तोड़ता' और हर हॉक पीछे छोड़ता हुआ आगे बढ़ता जा रहा है। यही वह जगह है जहाँ पशु दीर्घकालीन दासत्व से स्वयं को मुक्त करता है और मानव प्रजाति के प्रभुत्व की हार होती है। आहत अहम् वाला 'मैं' जब उसे रोकने में असमर्थ होता है तो उसे रोकने के लिए दूसरों को ललकारता है। "आह, कोई उसे रोके/उसे बाँधे/झुटपुटे में फिर कहीं वह बिला जाएगा।/चक्रवर्ती कहाँ है वह/कौन है हम में ?/दिग्विजय का अश्व यों ही चला जाएगा।" (अभी बिल्कुल अभी राजकमल प्रकाशन सं. 2016, पृ. 40) यह कविता प्रजाति विशेष की ह्रासोन्मुखता का संकेतक है। अतः केवल 'मैं' की नहीं समूचे मानव समाज की हार है। विशेष रूप से पशु विरोधी विशेषाधिकार प्राप्त सामंती मानसिकता प्रधान मानव की हार है। यह साम्राज्यवाद की हार है। इतर मानव जातियों की सांस्कृतिक और भूमिगत स्वतंत्रता का हनन करने की मानसिकता की भी हार है। यह पशुओं की जयिष्णुता और मानव की त्रासदी की कविता है। केदारनाथ सिंह के यहाँ पशु-पक्षी कई तरह से बदला लेते हैं। चाहे वह सारस और बाघ की मानव के प्रति घृणा भरी दृष्टि हो या आलोच्य कविता का अश्व। अश्व कोई प्रतीक नहीं है बल्कि मानव के दिग्विजय के स्वप्न को ध्वस्त करने वाला प्राकृतिक अश्व है।

'कमरे का दानव' और अनागत कविताएँ इस लिहाज से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन कविताओं की राजनैतिक या व्यक्तिवादी अर्थों से भिन्न इनका एक अतिरिक्त आशय भी है। कविताओं में व्यक्त प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न पारिस्थितिक संदर्भ इन कविताओं के अर्थ-पार्श्व खोलते हैं। कविताओं के केन्द्र में मानव है। मानसिक रूप से दुविधाग्रस्त या शिजोफ्रेनिक। आतंकित और अपराध बोध से ग्रसित। तमाम अमूर्तता के बावजूद इनमें पारिस्थितिक अर्थ अभिनिवेशित किए गए हैं। अनागत और कमरे का दानव अमूर्त है। चाहे यह महज वाचक का दृष्टिभ्रम हो या फिर वे प्रेत हों, यहाँ एक चीज सामान्य है। दोनों में अस्पष्ट ही सही, पक्षी-बिम्ब समान रूप से प्रतिबिम्बित होता है। दोनों जगह इन अमूर्त अशरीरी शख्मों के पंख या डैने होने का जिक्र है जो उन्हें मानवेतर प्राणी जगत से जोड़ता है। कमरे के दानव में कई ऐसे पाश्विक संकेत हैं जो उसे पशु/पक्षी से संबंधित सिद्ध

करते हैं जैसे कि बड़े-बड़े और काले-काले डैने और गहरी नीली आँखें। पर आलोचना की प्रचलित मापन अंकन की पद्धति उसे पाश्विक मानने से इंकार करती है। यह साहित्य की मानवकेंद्रीयता और अपनी प्रजाति के प्रति मुग्धता ही है कि कोई भी मानवेतर पात्र अपने वजूद पर कायम नहीं रह सका। उन्हें निरन्तर किसी मानवीय आशयों में या प्रतीकों में 'रिड्यूस' किया जाता रहा है। अत: यह अनिवार्य हो जाता है कि मानवेतर सचेतन प्राणियों को सिम्बॉल के साँचों-खाँचों से निकाला जाए और तमाम ऐसे क्लू को जो मानवेतर सचेतन प्राणियों की ओर संकेत करते हैं नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। इसीलिए अनागत और कमरे का दानव के प्रेतनुमा शख्स के साथ जो पशु बिम्ब जुड़ा हुआ है। उसका सम्यक मूल्यांकन होना चाहिए। यह न तो केवल वाचक का अकेलापन है जो उसे हॉन्ट करता है न ही इकहरे रूप में सिर्फ दुविधाग्रस्त मस्तिष्क की उपज भर है। उपलब्ध पशु-बिम्ब गूढ़ पारिस्थितिक/पर्यावरणीय अर्थों की ओर इशारा करता है। पशु/पक्षी की 'सुपरनेचुरल' उपस्थिति, क्षत-विक्षत डैनों का होना, लड़ने की इच्छा शेष न होना, अपनी लड़ाई में अकेला और लाचार होना आदि पर्याप्त संकेत हैं। यह मानवेतर सचेतन प्राणी का नए ढंग का मिथकीकरण है। मानव ने अपने अस्तित्व से अलग जो अन्य तैयार किया है, जिसने मानव अपने (अ) विवेक से बर्बर, हिंसक आदि कहता है, यह उसी का प्रतिनिधिक चेहरा है। पहली पंक्ति-डरता नहीं हूँ-इस बात का सूचक है कि मानव ने सभी प्राकृतिक भय (जिसमें जानवरों और आपदाओं का डर भी शामिल है) पर विजय प्राप्त कर ली है। कमरे के दानव के संदर्भ में कई बार इसे कवि का अकेलापन कहा गया है। पर कविता का सूक्ष्म अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि यह टेम्ड शोषित और समूह से अलगाए गए मानवेतर प्राणी का प्रेत है। एक पंक्ति है "फूल कब खिलते हैं/त्योहार कब आता है/अकस्मात मौसम किस रोज बदल जाता है। उसे सब ज्ञात है।" (अभी बिल्कुल अभी, राजकमल प्रकाशन, सं. 2016, पृ. 54) प्रकृति से इस हद तक सम्बद्धता केवल मानवेतर प्राणियों में हो सकती है या फिर उन प्रजातियों में हो सकती है जिसे मुख्य धारा की सभ्यताएँ अवमानव या आदिवासी कहती हैं। कमरे का दानव में यह प्रच्छन्न रूप से सक्रिय है कि मानव शोषक और शासक है तथा मानवेतर शोषित और शासित है। मगर उसे जब देखता हूँ/गुमसुम अपलक उदास/देखा नहीं जाता है। विजित के प्रति करुणा है। कविता में वर्णित अवस्था मृत मानवेतर अवमानवों का उत्तरजीवन है और इसी से उनके पूर्व जीवन के शोषण और कारुणिक विस्थापन का भी संकेत मिलता है। क्षत विक्षत डैने, गुमसुम अपलक, उदास आदि पदों का प्रयोग उसकी उसी प्रतिकूल परिस्थितियों के सूचक हैं। इसके उलट 'मैं' के लिए योद्धा का सम्बोधन मिलता है इसलिए क्योंकि वह प्रकृति के विरुद्ध अनवरत एक युद्ध में सक्रिय है और विजयी है। उसमें लगातार ललकारने, लड़ने और पछाड़ने की हुड़क बनी हुई है। "आज उसे चलकर ललकारुँगा/लड़ूँगा/पछाड़ूंगा/काले-काले उसके पंख तोड़ डालूंगा।" यह पंक्ति मानव-मानवेतर युद्ध के उपरांत कथ्य की तरह है जहाँ मानव का प्रजातिवाद (Peciesism) और मानवेतर द्वेष प्रकाश में आता है। 'मैं' की करुणा मानवेतर को विजित करने के बाद ही पैदा होती है पर मानवेतर के इस 'प्रेत' में स्वाभाविक करुणा विद्यमान है। यह और बात है कि उसमें मानव के स्वामित्व के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना बिल्कुल निष्क्रिय है। मैं में मानवकेंद्रीयता का दम्भ है पर फिर भी पारिस्थितिक दृष्टकोण से यह कवि केदार की श्रेष्ठ कविताओं में है। यदि 'दिग्विजय के अश्व' का अश्व और कमरे का दानव की प्रतीकात्मकता या अन्योक्तिपरकता ही कवि का अभीष्ट हो तो भी इन कविताओं में विद्यमान पशु/पक्षी-बिम्ब की पारिस्थितिक दृष्टि से जाँच होना अनिवार्य है। जिस तरह स्त्री-विमर्श के लिए परोक्ष-अपरोक्ष स्त्री-संदर्भ को आलोच्य भाव से देखा जाता है उसी प्रकार पारिस्थितिक-विमर्श के लिए भी सारे प्रकृति संदर्भ महत्वपूर्ण हैं। इसी क्रम में उनकी 'अनागत' कविता भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अनागत के अतिमानवीय संदर्भ उसके पाँव का छटपटाना और पंखों का खोना कई संकेत देते हैं। कविता का मुख्य पक्ष वाचक के भय के विश्लेषण से डिकोड होता है। उस भय का मूल कारण मानव का वृहदाकार अपराध बोध है। जिसका संबंध

पारिस्थितिकी से भी है। यह दृष्टिभ्रम हो या दु:स्वप्न इसकी वाचक इसकी कल्पना पंखों वाले किसी प्राणी में करता है। अत: इस मानवेतर संदर्भ को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। कुहासे का जिक्र है। यह जितना प्राकृतिक है उतना ही मानव द्वारा दूषित पर्युषित वातावरण का संकेतक है। कविता का अनागत मानवेतर प्राणियों के विस्थापन, नाश विलुप्त होने की त्रासदी का आभास देता है। "बाँसुदी को छेड़ता है/खिड़कियों के बन्द शीशे तोड़ जाता है।/किनारों पर लिखे नामों को मिटा देता/बिस्तरों पर छाप अपनी छोड़ जाता है।" मानव सम्पत्ति पर विस्थापित-विलुप्त मानवेतर प्राणी दावा करते हैं। और कमरे का दानव के उलट यहाँ इनका रुख प्रतिवादी है। और "आजकल ठहरा नहीं जाता कहीं भी/हर घड़ी हर वक्त खटका लगा रहता है।" वाचक को अपराध बोध द्वारा जनित भय या आतंक है। यह अनागत शब्द जो भविष्यमुखी है वास्तव में विगत अतीत (जहाँ प्राकृतिक तत्वों का भीषण नाश हुआ है) और आगत वर्तमान (जहाँ वही शोषण प्रक्रिया लगातार जारी है) का तीखा बोध भी कराता है। मानव जिसके अस्तित्व को नकारता आया था अब उससे भयभीत, आतंकित और उसकी ओर बरबस खिंचा जाता है। अनागत उन सभी जगहों पर अपनी उपस्थिति दर्ज करवाना चाहता है जहाँ से उसे खदेड़ा गया है। वह मानवों के समूचे स्थापत्य पर धावा बोलता है क्योंकि यही प्राकृतिक तत्वों के विनाश का कारण है। पूरा का पूरा नगर-निर्माण मानव को केन्द्र में रखकर मानव के हित में सम्पन्न होता है। इसलिए इन जगहों पर उसका हस्तक्षेप लाजमी है। प्राकृतिक संसाधनों या सुविधाओं पर सम्प्रभु प्रजाति विशेष का एकाधिकार के विरुद्ध यह कविता एक मोर्चा है। इन कविताओं का संबंध मानवेतर के विस्थापन और संकुचन से इसलिए भी होना चाहिए क्योंकि उनकी उत्तरवर्ती कविताओं का यह मुख्य सरोकार है।

आलोच्य तीनों कविताएँ केदारीय शिल्प से भिन्न हैं। अर्थ की दृष्टि से तिहरी और बहुवाची हैं क्योंकि मानव अर्थ के अतिरिक्त मानवेतर अर्थ भी निवेशित हैं और दबी जुबान से कहे गए मुख्यधाराई सभ्यता से इतर मानव समूहों के विस्थापन संदर्भ भी हैं। ये कविताएँ इस बात पर बल देती हैं कि मानवेतर को अब तक जिस तरह से अचेतन के निकट मानने की ग्रंथि रही है उसे अब तर्कसंगत नहीं माना जा सकता है। ये कविताएँ पाठकों भावकों में यह आस्था उज्जीवित करती हैं कि मानवेतर सचेतन और आनुभूतिक स्तर पर सजग होते हैं। कविता के 'मैं' में कवि की जैविक उपस्थिति हो या न हो इनमें वर्णित पशु/पक्षी संदर्भों/बिम्बों को मानवेतर के लिए डेरोगेटरी नहीं माना जा सकता है। न ही यह मैं कवि का मानवेतर द्वेष या ग्रंथि है क्योंकि कविता का अर्थ अंतत: मानव हित या स्वार्थ के उन्मुख नहीं है। 'कमरे का दानव' जहाँ मानव प्रकृति द्वन्द और मानव पशु के प्रभुत्व दासत्व के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की पोल खोलती है वहीं 'दिग्विजय का अश्व' और अनागत में मानवेतर को तार्किक सचेतन घोषित करती है तथा उन्हें केवल सहजानुभूति प्रधान (इन्ट्यूटिव) मानने के मिथ को भी तोड़ती है।

❖❖❖

आलेख

कम शब्दों के बड़े कवि : अरुण कमल

❍ चन्द्रबिंद✡

कोई बात हो या फिर कोई विचार, अरुण कमल उसे अपनी कविता में जितनी सादगी और सरलता से कह जाते हैं, यह कला समकालीन कवियों में लगभग दुर्लभ है। आम तौर पर यह देखने में मिलता है कि किसी कवि का मंतव्य, विचार या फिर घटना के प्रति प्रतिरोध या समर्थन इतना जोरदार होता है कि उसकी कविता या तो नारा बन जाती है या फिर एक ऐसी वैचारिक अभिव्यक्ति जिसे कम से कम कविता तो नहीं कही जा सकती है। दूसरी बात यह कि ऐसी कविताएँ पाठकों पर कोई स्थायी छाप भी नहीं छोड़तीं। सच तो यह है कि ऐसी कविताएँ स्थायी चेतना पैदा करने के बजाय एक त्वरित प्रतिक्रिया को जन्म देती हैं जिसका कोई स्थायी काव्यगत मूल्य नहीं होता है और जिन कविताओं में स्थायी काव्यगत मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है, वैसी कविताएँ कई बार एक से अधिक पाठ की मांग करती हैं। अरुण कमल एक सजग कवि हैं। कई बार उनकी भाषा हमें उबड़-खाबड़ लगती है और यह बहुत स्वाभाविक भी है क्योंकि मानवीय संवेदनाओं के उत्स नक्काशी की भाषा में संभव भी नहीं है। भाषा का अतिरिक्त दबाव कई बार कविता को शुष्क बनाता है। उसका रस सोख लेता है। अरुण कमल इस बात को बखूबी जानते हैं। बानगी के तौर पर हम उनकी "जब तुम किसी के करीब आते हो" कविता को देख सकते हैं -

"ज्यूँही तुम जानते हो कि वह भी तुम्हारी तरह कर्ज में डूबा है
उसको भी एक बहन है ब्याहने को
और वह कहता है हमारे यहाँ भी दहेज बहुत है
तब तुम भीतर ही भीतर भहरने लगते हो
सारी मेंड़ें गिरने लगती हैं
और तब तुम्हें लगता है वो बस एक कटा उदास खेत
बस आदमी जो सोये में कराह रहा है
और तब अपना चाकू वापस आस्तीन में खोंस
तुम बहार आ जाते हो दबे पाँव"

हम जाति, धर्म और क्षेत्रवाद के विरोध में ढेर सारी बातें करते हैं जहाँ हमारे विचार कविता में अक्सर क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप ले लेते हैं, पर अरुण कमल की कविताओं में कोरे विचार और लम्बी बहस की गुंजाइश

✡ चन्द्रबिन्द, युवा कवि और आलोचक, पटना, बिहार; संपर्क : 9631074501

लगभग नहीं के बराबर है। कारण यह है कि वे एक ऐसी संवेदनात्मक दुनियाँ रचते हैं जो अपने आप में परिपूर्ण है। वहाँ बहस के लिए कुछ बचता ही नहीं है। इसीलिए कवि के लिए दो जातियों, दो धर्मों एवं दो देशों के बीच की असमानताएँ महत्वपूर्ण नहीं है। उसका जोर इस बात पर है कि दोनों के दु:ख एक जैसे हैं। दोनों की समस्याएँ एक जैसी हैं। और यह जुड़ाव एक ऐसा जुड़ाव है जिस भूमि पर विश्व भर में न जाने कितनी क्रांतियाँ फलीभूत हुईं जबकि इसके ठीक विपरीत असमानताएँ (उक्त स्तरों पर) एक प्रकार की कट्टरता को जन्म देती हैं। आज उसी का एक जीता जागता उदहारण अंधराष्ट्रवाद है। बात साफ है असमानताएँ जहाँ हमें तोड़ने का काम करती हैं वहीं समानताएँ हमें जोड़ती हैं। इस सन्दर्भ में अज्ञेय की इस कविता को उद्धृत किया जाना समीचीन जान पड़ता है –

'दु:ख सबको माँजता है
और
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें'

अरुण कमल की एक कविता है "मैंने लाहौर में एक तोता देखा"। पहली नजर में यह कविता एक साधारण सी कविता लगती है, पर थोड़ा गौर से देखते ही इस कविता के कई नये पन्ने खुलते चले जाते हैं। पिंजरे में कैद तोता दोनों मुल्कों की बहुत बड़ी आबादी का प्रतिनिधित्व करने लगता है, जो वर्षों से पिंजरे में कैद है। यह कविता हमें बताती है कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बीच तमाम भिन्नताओं के बावजूद आम जिन्दगी के जद्दोजहद एक जैसे हैं। उनके सुख-दु:ख एक जैसे हैं। खास बात यह कि उनके संघर्ष के तरीके भी एक जैसे हैं। खान-पान, रहन-सहन सब एक जैसे हैं। इस तरह यह कविता पिंजरे को तोड़कर बाहर निकलती है और लोकल से ग्लोबल रूप अख्तियार कर लेती है। कवि अपनी कविता में लिखता है –

"फर्क यही था कि लाहौर का यह तोता उर्दू बोलता और थोड़ी पंजाबी
जात-धर्म तो खैर तोते की क्या होती होगी
मैंने दरियाफ्त भी नहीं किया किसी से, वैसे भी सियासी गुफ्तगू
परदेस में ठीक नहीं,
पर एक बात जो खास लगी वो ये कि
यहाँ भी वो लोहे के पिजड़े में बंद था जैसे वहाँ
और यहाँ भी वो पिंजड़ा काटने के मुहिम में जुटा था जैसे वहाँ।"

कितनी सरलता और तरलता से, कितने कम शब्दों में कितनी बड़ी बात कह दी जाती है और कविता दोनों मुल्कों के पीड़ित-शोषित, कुछ दूर तक षड़यंत्र के शिकार और हासिए पर धकेल दिए गए उन करोड़ों-करोड़ लोगों की मुक्तिगाथा बन जाती है। पिंजड़े में बंद तोते का संघर्ष यहाँ सिर्फ तोते का संघर्ष नहीं रह जाता है, वह दो मुल्कों के आम आदमी का मुक्ति-संघर्ष बन जाता है। अंत में कविता हमें ले जाकर उस भूमि पर खड़ा कर देती है जहाँ सरहदें टूट जाती हैं। दो मुल्कों के बीच खींची गई राजनैतिक लकीर मिट जाती है।

इस सन्दर्भ में रज्जिया सज्जाद जहीर की कहानी "नमक" का जिक्र बहुत स्वाभाविक जान पड़ता है। यह भारत-पाक विभाजन के बाद सरहद के दोनों तरफ के विस्थापित लोगों के दिलों को टटोलती एक मार्मिक कहानी है। इस कोशिश में यहाँ अपने-पराये, देश-परदेश जैसी कई प्रचलित धारणाओं पर सवाल खड़े किए गए हैं। पर ध्यान देने की बात यह है कि अरुण कमल सिर्फ कुछ सवालों के साथ हमें छोड़ नहीं जाते बल्कि

उनका तोता उससे आगे बढ़ता है और उस भेद और बंधन को खत्म करने की दिशा में पाठकों के अन्दर एक संघर्षशील चेतना पैदा करना चाहता है। एक और बात यह कि यदि यहाँ आलोकधन्वा की कविता "सफेद रात" की चर्चा न की जाए तो बात अधूरी रह जाएगी। ऐसा इसलिए क्योंकि यह कविता हमें एक अलग ऊँचाई पर ले जाती है जहाँ कवि की यात्रा गाँव और शहर होते हुए ग्लोबल कंसर्न में बदल जाती है। यहाँ ग्लोब पर खींची तमाम रेखाएँ सिर्फ मिटती ही नहीं बल्कि कविता में प्रवाहित आवेग का वेग उन्हें कहीं दूर बहा ले जाता है।

(सफेद रात से उद्धृत)
"क्या है इस पूरे चाँद के उजाले में
इस बिखरती हुई आधी रात में
जो मेरी साँस लाहौर और कराची और सिंध तक उलझती है ?
क्या लाहौर बच रहा है ?
वह अब किस मुल्क में है ?
न भारत में न पाकिस्तान में
न उर्दू में न पंजाबी में
पूछो राष्ट्र निर्माताओं से
क्या लाहौर फिर बस पाया ?
जैसे यह अछूती
आज की शाम की सफेद रात
एक सच्चाई है
लाहौर भी मेरी सच्चाई है
कहाँ है वह
हरे आसमान वाला शहर बगदाद
ढूँढ़ी उसे
अब वह अरब में कहाँ है ?

ऐसा कहना कि उपर्युक्त तीनों रचनाकारों की मूल संवेदना एक है, बेमानी होगी; क्योंकि संवेदनाओं की निर्मिति व्यक्ति विशेष के समकालीन परिस्थितियों से घात-प्रतिघात के परिणाम स्वरूप होती है। हाँ यह जरूर है कि एक रचनाकार अपनी संवेदना को रूपांतरित करते हुए सामाजिक एवं साहित्यिक मूल्यों का निर्धारण करता है। इस नाते दो या दो अधिक रचनओं और रचनाकारों के उद्देश्य एक हो सकते हैं पर संवेदनाएँ एक कतई नहीं हो सकतीं।

अरुण कमल की कविताओं में एक संगीत है। एक धीमा संगीत जो हमें बहुत दूर से सुनाई देता है इसीलिए वह हमें बहुत दूर तक ले जाता है। उनकी कविताओं का यह सहज स्वभाव है जो उसकी बुनावट, संरचना, भाषा और कथ्य में घुला-मिला है जबकि आलोकधन्वा ठीक इसके उलट हैं। उनका स्वर धीमा नहीं है। उनकी कविताएँ एक दम लाउड हैं। उन्हें पढ़ते हुए ऐसा लगता है मनो हमारे पास में कोई ड्रम-बीट बज रहा हो। हाँ, उनकी बाद की कविताओं में ऐसा नहीं है। पर सच यह भी है कि उनकी लाउड कविताओं को ही ज्यादा ख्याति मिली है। कुछ लोगों का मानना है कि आलोकधन्वा की कविताओं में एक फ्लाइट है जो कविता के प्रारम्भ से अंत तक बना रहता है और यह फ्लाइट उनके समकालीन कवियों में लगभग दुर्लभ है। यह सच है कि उनकी प्रारंभिक कविताओं में एक फ्लाइट है, पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि किसी कविता का मूल्यांकन सिर्फ इस आधार पर किया जाना कि उक्त कविता में एक बड़ी उड़ान है, यह बात तर्कहीन प्रतीत होती है।

यह बात सही है कि उनकी प्रारम्भिक कविताएँ आसमान तारे की तरह एक लम्बी उड़ान भरती हैं, पर इस उड़ान के अपने खतरे भी होते हैं जिसे हम नजर अंदाज नहीं कर सकते। ऐसा इसलिए क्योंकि यह उड़ान क्षणिक होती है। खैर, आलोकधन्वा में ऐसी बात नहीं है। एक बड़े कवि होने के नाते वे धूमिल की तरह अपनी कविता को इस खतरे से बचा ले जाते हैं।

इस सन्दर्भ में इस बात की चर्चा भी समीचीन जान पड़ती है कि कविता में यह उड़ान शुरू से अंत तक बरकरार रहे, इसके लिए शब्दों का चयन महत्वपूर्ण होता है। एक भी अनुपयुक्त शब्द का प्रयोग पूरी कविता को बिगाड़ सकता है और इस बात को आलोकधन्वा भलीभांति जानते हैं। इस नाते आलोकधन्वा अपनी कविताओं में शब्दों के चयन और प्रयोग को लेकर आज भी बहुत अधिक सजग दीखते हैं। मैं यहाँ एक बात और स्पष्ट करना चाहूँगा कि किसी कविता का सौन्दर्य उस कविता की सम्पूर्ण बुनावट में निहित होता है, सिर्फ भाषा या सिर्फ शिल्प या फिर सिर्फ कथ्य में नहीं। भाषा के मोर्चे पर आलोकधन्वा अरुण कमल की अपेक्षा ज्यादा सजग दीखते हैं। अरुण कमल शब्दों के चयन को लेकर बहुत अधिक संजीदा नहीं हैं और उनके लिए यह जरूरी भी है ताकि कविता की तरलता बची रहे, क्योंकि शब्दों के चयन के प्रति अतिरिक्त सतर्कता धीरे-धीरे हमारी रचना-प्रक्रिया का हिस्सा बन जाती है और यह कविता के लिए बहुत अच्छी बात नहीं है।

अरुण कमल अपनी तमाम कविताओं के माध्यम से हमें एक ऐसी दुनिया में ले जाते हैं जो हिंदी कविताओं के लिए अब तक लगभग अछूता और अलक्ष्य रहा है। अरुण कमल की कविता अपने समकालीन कवियों की तरह क्रूर व्यवस्था के प्रति आक्रोश और उस आक्रोश से उत्पन्न कोई भावनात्मक बिस्फोट की कविता नहीं है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि वे इस अमानवीय व्यवस्था से संतुष्ट हैं या फिर उससे अनभिज्ञ हैं। उनके यहाँ भी परिवर्तन की आकांक्षा है, पर वे उसे पुरानी परंपरा को नये सन्दर्भों से जोड़कर देखते हैं। इस नाते अरुण कमल की कविताओं में चित्रित संवेदना मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय की अपेक्षा नागार्जुन और त्रिलोचन की प्रगतिशील धारा के अधिक निकट प्रतीत होती है। अरुण कमल अपने काव्य-बोध को कल्पनाशीलता और तार्किकता के बल पर स्थापित करने की कोशिश नहीं करते। सबसे पहले उनका काव्य-बोध परम्परा-बोध से जुड़ता है, उसकी पड़ताल करता है और फिर वह जनमानस में व्याप्त प्रगतिशील और प्रतिगामी परंपराओं और रूपकों की पहचान कर उसे संवेदनात्मक(काव्यात्मक) अभिव्यक्ति देता है। हम कह सकते हैं कि अरुण कमल का ध्यान प्रगतशील चेतना की निर्मिति पर है न कि प्रगतिशील तर्कों और विचारों की स्थापना पर और यही वह भूमि है जो अरुण कमल को आलोकधन्वा से अलग करती है।

किसी रचनाकार के सामने अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने के दो रास्ते होते हैं। एक तो वह मूर्त चरित्रों, प्रसंगों और बिंबों के सहारे अमूर्त भावों और विचारों को संप्रेषित करता है और दूसरा यह कि वह अपने स्पष्ट विचारों और तर्कों को अमूर्त प्रसंगों, रूपकों एवं दृश्यों के माध्यम से स्थापित करता है। दूसरी पद्धति का इस्तेमाल कला के क्षेत्र में खूब किया जाता है। ललित कला इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। इस परिप्रेक्ष्य में जब हम अरुण कमल की कविताओं को देखते हैं, तो पाते हैं कि उनकी अधिकांश कविताओं में आने वाले दृश्यों, रूपकों एवं प्रसंगों में मूर्तता है, जबकि कविता में संवेद्य विचार अमूर्त हैं। बानगी के तौर पर हम उनकी इस कविता "जनगणना" को देख सकते हैं -

मैं वो हूँ जिसकी गिनती होने से रह गई
पूरी आबादी में जो एक कम होगा वो मैं हूँ
जिसके वास्ते किसी अदहन में डाला नहीं जाएगा चावल
जिसके नाम की रोटी नहीं पकेगी वो मैं हूँ।

जब भी उनकी गिनती गलत होगी
जब भी वे हिसाब मिला नहीं पाएँगे
मैं हँसूंगा आँकड़ों के पीछे से तालियाँ देता
वो मैं हूँ मैं वो अंक वो शंख महाशंख।

यह कविता एक सामान्य प्रसंग और उससे संबंधित कुछ बिम्बों को लेकर हमारे सामने प्रस्तुत होती है, किन्तु जब हम इस कविता पर गंभीरता से विचार करते हैं तो इसके अर्थ में कई कोण बनते चले जाते हैं और इसमें एक ऐसा विस्तार होता है कि कविता कई-कई अर्थों में खुलने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्तन से परे उसका कोई और संसार है, जहाँ कवि हमें ले जाना चाहता है। अंततः भूमंडलीकरण, निजीकरण और पूँजीवाद के इस भयानक दौर में कवि उनके साथ खड़ा हो जाता है जो जीवन के बाहर धकेले जा रहे हैं और विडम्बना तो यह कि आज उनकी कोई खोज खबर भी लेने वाला नहीं है। परन्तु कवि सजग और संवेदनशील है। उसे फिक्र है उस निर्बल की जो हासिए पर उठाकर फेंक दिया गया है और धूल में कहीं दबा पड़ा किसी अंधड़ का इन्तजार कर रहा है। बात साफ है यह अंधड़ कुछ और नहीं बल्कि क्रांति है, जिसकी आहट पाकर निराला की कविता "बादल राग" में सजग सुप्त अंकुर सक्रिय हो उठे हैं। परन्तु दोनों कविताओं में एक मूलभूत अंतर है, और वह यह कि "बादल राग" में हँस रहे छोटे-छोटे पौधे क्रांति की आहट सुन चुके हैं, इसलिए वे उत्सव मना रहे हैं जबकि अरुण कमल का धूल में दबा पड़ा निर्बल अंधड़ का इंतजार कर रहा है। वह अभी मौके की तलाश में है, पर उम्मीद से भरा है। निराला की कविता "बादल राग" में जहाँ गतिशीलता है वहाँ अरुण कमल की कविता में स्थिरता और ऐसा स्वाभाविक भी है।

नहीं मुझे ढूँढना मत
रात भर यदि घर ना लौटूं
कोई खोज इश्तहार मुनादी नहीं
अगर मैं हफ्ता दस दिन घर न लौटूं
कोई काम रोकना मत
शाम को भी कभी इंतजार नहीं
समझना मैं हूँ कहीं न कहीं
जैसे दुनिया में इतने लोग हैं जिन्हें हम जानते नहीं
और जो नहीं हैं उन्हें भी हम कहाँ खोजते
नहीं मुझे ढूँढना मत
मैं कभी खोऊंगा नहीं
मैं वहीं धूल में दबे सिक्के सा
कभी अचानक चमक उठूँगा चाँद रात में।

कहना नहीं पड़ेगा कि उक्त कविता में कवि की मुख्य चिंता है कि "जैसे दुनिया में इतने लोग हैं, जिन्हें हम जानते नहीं, और जो नहीं हैं उन्हें भी हम कहाँ खोजते"। एक समाज के लिए इससे बड़ा अभिशाप भला और क्या हो सकता है? आज पूँजी की इस अंधी दौड़ में वह सब कुछ हम खोते जा रहे हैं जो एक आदमी को आदमी बने रहने के लिए सबसे जरूरी है। अब हमें बड़े से बड़े हादसे चौंकाते नहीं। "हमें फर्क नहीं पड़ता" के अंदाज में हम आगे बढ़ने को विवश हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि अरुण कमल की अधिकांश कविताओं में आने वाले दृश्यों, रूपकों एवं प्रसंगों में मूर्तता है जबकि कविता में संवेद्य विचार अमूर्त हैं। इस सन्दर्भ में जब हम आलोक धन्वा की कविताओं को

देखते हैं तो अरुण कमल के ठीक विपरीत उनकी कविताओं में आने वाले दृश्यों, रूपकों एवं प्रसंगों में अमूर्तता है परन्तु वहाँ संवेद्य विचारों एवं तर्कों में स्पष्टता है। यह खास प्रवृत्ति आलोकधन्वा को अरुण कमल से अलग करती है। इस प्रवृत्ति के प्रतिफलन के रूप में दोनों बड़े कवियों की कविताओं का स्वरूप बदल जाता है अर्थात् शिल्प और संरचना बदल जाती है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आलोकधन्वा की काव्यात्मक यात्रा अमूर्तन से मूर्तन की ओर है जबकि अरुण कमल की मूर्तन से अमूर्तन की ओर। एक बात और मैं यहाँ साफ कर देना चाहूँगा कि इसका मतलब यह कतई नहीं है कि उक्त किसी एक कवि की रचनाएँ दूसरे पैटर्न की है ही नहीं। हैं, परन्तु बहुत कम। जिसे हम सपाटबयानी कहते हैं उसका संबंध भी कविता की रचना-प्रक्रिया से होता है। मूर्तन से अमूर्तन की ओर यात्रा करने वाली कविताओं में सपाटबयानी की गुंजाइश कम होती है जबकि अमूर्तन से मूर्तन की यात्रा करने वाली कविताओं के लिए सपाटबयानी लगभग अनिवार्य शर्त होती है और ऐसी कविताएँ तरल होने की बजाए लाऊड होती हैं। इसीलिए धूमिल लाउड हैं। आलोकधन्वा लाऊड हैं। और जिसे हम कविता में फ्लाइट का होना कहते हैं, वह परोक्ष रूप में उसका लाऊड होना ही है।

❖❖❖

आलेख

जीवन-राग एवं ताप के कवि केदारनाथ अग्रवाल

❍ चंद्रकांत सिंह✡

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में जीवन-संघर्ष, प्रेम और करुणा की आवृत्ति दिखती है। कवि जिस भी विषय पर भी लिखते हैं, पूर्ण मनोयोग से लिखते हैं। कविता उनके लिए जीवनदायिनी प्राण-शक्ति है। इसी शक्ति के बल पर कवि ने समाज को नई दिशा देनी चाही है। 'कविता तो है' शीर्षक कविता में कवि ने कविता को देशकाल की काया से उपजने वाली चेतना के तौर पर रेखांकित किया है। कविता का जगत शब्दों का वाग्जाल नहीं है प्रत्युत देश-समाज की धड़कन है, जिसमें सामाजिक सचाईयाँ निरुपित होती हैं। कवि केदारनाथ अग्रवाल जी के लिए कविता का भाषिक जगत अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनका मानना है कि कविता ही वह धुरी है जिसके सहारे जीवन नं केवल विकसित होता है बल्कि अपनी अपूर्व छटा के साथ परिवर्धित भी होता है। कविता के संदर्भ में विचार करते हुए कवि लिखते हैं-

कविता तो है
    देश काल की काया
अंतर्मन की माया
कवि ने जिसको
काव्य-कला की सृष्टि बनाया
मानव ने जिसको अपनाया।
कविता का
    भाषिक भूगोल
    अर्थवंत अभिव्यक्ति है,
नहीं
अन्य कोई भूगोल !¹

जिस कवि को अपनी लेखनी और सृजन-कर्म पर विश्वास नहीं होता वह बहुत जल्द निस्तेज हो जाता है। उसकी लेखनी सत्ता की लेखनी बन जाती है और सत्ता उसका अपने हित में उपयोग कर लेती है। चूँकि

✡ प्रो. चंद्रकांत सिंह, प्रोफेसर (हिंदी विभाग), हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धौलाधार परिसर-एक, धर्मशाला, जिला-कांगड़ा, हि.प्र.-176215; मोबाइल नंबर : 09805792455
ईमेल : chandrakants166@gmail.com; Chandrakants166@hpcu.ac.in

केदार जी जनता के कवि हैं, इसलिए उनकी लेखनी में जीवटता है। और इस जीवटता के कारण उनके मन में गहरा आत्मविश्वास है। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में उनकी लेखनी अपना मनोरथ नहीं हारती है बल्कि जागरण का गीत बनकर मेहनतकश लोगों को शक्ति एवं साहस प्रदान करती है। 'मैं' कविता उस विश्वास की कविता है जिसके बल पर कवि बड़े से बड़े साम्राज्यवादी दुर्ग को ढहाने और विदीर्ण करने का साहस रखते हैं। कवि का विश्वास है कि सृजन-कार्य से बहुत कुछ बदल उठेगा। कविता जागरण का स्वर पैदा करेगी, कविता के द्वारा परिवर्तन की बयार उठेगी और निश्चय ही समाज में बहुत कुछ बदलेगा-

शक्ति मेरी बाहु में है,
शक्ति मेरी लेखनी में,
बाहु से, निज लेखनी से
तोड़ दूँगा मैं शिलाएँ!

जागरण है प्राण मेरा,
क्रांति मेरी जीवनी है,
जागरण से क्रांति से मैं
घनघना दूँगा दिशाएँ !²

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में प्रकृति का अनूठा सौंदर्य दिखता है। जीवन में सौंदर्य की जो कोमल छवियाँ हैं उन सबको शब्द-रूप देते हुए कवि नए ढंग से उसे अपनी कविता का विषय बनाते हैं। कवि की कविता केवल प्रकृति का बाह्य अंकन भर नहीं है अपितु कविता में अभिव्यक्त सौंदर्य मानस को रसमय करने वाला है। प्रकृति पुराने और नवीन जीवन रूपों की समीक्षा करती है और उसमें हर संभव बदलाव करती है। कविता इस मायने में अनूठी है कि उसमें प्रकृति के जीवनधर्मी स्वरूप की मार्मिक झाँकी मिलती है। कविता में व्याप्त प्रकृति पुरानी एवं मलिन नहीं होती अपितु हर क्षण अपनी मनोहारिता से पाठकों को बाँध रखने की कला में दक्ष होती है। 'नव गुलाब' कविता गुलाब की सुंदरता का चित्र भर नहीं उकेरती बल्कि सर्जक और प्रकृति के सहचर्य की अपूर्व मनोहारता को नए आयाम देती है। 'नव गुलाब' कविता में कवि केदारनाथ अग्रवाल की सौंदर्य-दृष्टि एवं वाक्चातुर्य के दर्शन होते हैं। कवि केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं-

ओस- बूँद कहती है : लिख दूँ
नव-गुलाब पर मन की बात ।
कवि कहता है : मैं भी लिख दूँ
प्रिय शब्दों में मन की बात ।।
ओस-बूँद लिख नहीं सकी कुछ
नव -गुलाब हो गया मलीन ।
पर कवि ने लिख दिया ओस से
नव-गुलाब पर काव्य नवीन ।।³

केदारनाथ अग्रवाल को प्रकृति के सभी रूपों से प्रेम है। उनकी कविताओं में प्रकृति के विविध रूप मिलते हैं। 'मैं अयाचित पुष्प हूँ' कविता में कवि ने पुष्प के सौंदर्य को दर्शाया है। माखन लाल चतुर्वेदी की कविता 'पुष्प की अभिलाषा' से इतर केदार जी की कविता में पुष्प अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ पुष्प की कोई चाह नहीं है, सभी प्रकार की कामनाओं से मुक्त केदार जी का अयाचित पुष्प जीवन के आनंद का इच्छुक है। कोई उसे तोड़ेगा, सूंघेगा, चूमेगा या उससे विरत होगा इन सबसे ऊपर पुष्प अपने जीवन के प्रति उत्साह से भरा हुआ है।

ऐसा लगता है मानो जीवन के प्रति यह स्वीकार-बोध पुष्प का नहीं वरन केदार जी का है जो हर विषम परिस्थिति में हँसना चाहते हैं और जीवन-रस से जुड़कर सृष्टि में अपनी विशेष भूमिका निभाने के पक्षधर हैं। पुष्प को शब्द देते हुए कवि केदारनाथ अग्रवाल कहते हैं-

मैं अयाचित
पुष्प हूँ, प्राकृत सुवासित ;
तोड़ लो
चाहे न तोड़ो;
सूँघ लो
चाहे न सूँघो;
चूम लो
चाहे न चूमो;
मैं खिला हूँ,
हर्ष की मैं भेंट हूँ
आलोक को ![4]

कवि प्रेयसी के सौन्दर्य और फूलों में व्याप्त सौंदर्य में अभूतपूर्व संगति देखते हैं। उनके अनुसार प्रेयसी के सौंदर्य में एक अपूर्व आकर्षण है और इस आकर्षण के साथ निसर्ग के आकर्षण की कहानी और भी मनोहारी है। आखिर हो भी क्यों न ! केदार जी के यहाँ प्रेम, मिलन एवं सहचर्य सब में प्रकृति की तदाकारिता है। यही कारण है कि उनका प्रेम निर्जीव और एकान्तिक नहीं है बल्कि प्रकृति से जीवन-रस लेता हुआ, प्रकृति को जीवन-रस देता हुआ परिपक्व प्रेम है। 'तुमको देखा' कविता में पुलक है। एक विशेष प्रकार की सिहरन और उल्लास है जिसे कवि ने न केवल अनुभव किया है बल्कि उसी अनुभव के बल पर विराट अनुभव को विस्तारित होते हुए देखा भी है। तभी तो वह कहते हैं-

तुमको देखा-
आज कुमुद को
फूला देखा,
इसमें बिंबित
वपु विराट
अनुकूला देखा ![5]

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में प्रेम और करुणा का स्वर है। कवि प्रेम पर लिखते हुए आकंठ सौंदर्य में डूब जाते हैं और उन्हें किसी बात की भी सुध नहीं रहती। 'तुम चल दोगी तो क्या होगा'? कविता प्रेयसी का नैकट्य चाहने और उसे बचाए रखने की भावना से आगे बढ़ती है। कवि का मानना है कि प्रेयसी के बिना जीवन में कुछ भी शेष नहीं। इस कविता में कवि ने चराचर जीवन-जगत को प्रेयसी के बिना सौंदर्यहीन पाया है। देखने में यह कविता गहरे रोमान की कविता लग सकती है किन्तु इस कविता में अंतर्मन से प्रिय को चाहने की भाव-दशा है। जहाँ प्रिय के बिना कुछ भी प्रीतिकर नहीं, पूरा का पूरा जीवन ही अधूरा एवं बेमानी है। कवि ने प्रकृति के हर रूप को प्रेयसी से जोड़कर देखा है। प्रकृति का दृश्यमान हर रूप मानो प्रेयसी की ही प्रतिछाया है जिसके बगैर मानो जीवन ही अर्थहीन हो। कवि केदारनाथ अग्रवाल प्रेयसी के चले जाने की कल्पना मात्र से सिहर उठते हैं। प्रस्तुत कविता में बिछोह की कंपकंपाती छाया है जिसका घना कुहरिल चित्र कवि ने खींचा है-

तुम चल दोगी तो क्या होगा ?
मौन खड़ा हिमवान अकेला रोता होगा;
सूरज-चाँद सितारों की
आँखों में भी आँसू होगा;
रोते-रोते धरती का भी
आँचल गीला होगा;
मेरा प्यार पवन-पानी में
उड़ता-फिरता जीता होगा;

तुम न रहोगी तब भी हृदय तुम्हारा होगा,
मेरे जीवन में बसता संगीत तुम्हारा होगा[6]

कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में आतुरता है, प्रेयसी से मिलने की तड़प है। 'हे मेरी तुम' संग्रह की सारी कविताएँ प्रणय केंद्रित कविताएँ हैं, जिन्हें कवि केदारनाथ अग्रवाल ने जिया है। प्रेम की भाषा में वाचालता नहीं होती बल्कि मौन का एक अपूर्व जगत होता है, जहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इस चाह के जगत में बिना कुछ कहे बात समझ ली जाती है। यहाँ भाषा मौन होती है किन्तु इस भाषा में बहुत कुछ जानने और समझने की शक्ति होती है। केदारनाथ अग्रवाल जी की अधिकांश कविताओं में जहाँ भी प्रेम के अन्तरंग चित्र उभरे हैं वहाँ अभिव्यक्ति का शोर-शराबा नहीं है बल्कि चुपके-चुपके सौंदर्य में डूबने और गहरे उतरने की आकुल कथा है। प्रेम पर लिखते हुए केदारनाथ अग्रवाल जी एकनिष्ठ भाव से उसे सहेजते हैं। 'तुमने मुझको मौन पुकारा' नामक कविता में कवि प्रेम के औदात्य को स्वीकारते हुए कहते हैं-

तुमने मुझको मौन पुकारा
मैंने तुमको मौन पुकारा;
फिर हम दोनों एक हो गये- दो न रहे ;
कमल-नाभि से
निकले ब्रह्म हुए-
महाकाल से मुक्त हुए[7]

केदारनाथ अग्रवाल जी की कविताओं में प्रेम और प्रकृति के साथ सामान्य जनता से जुड़ने और उनकी व्यथा-कथा को कहने का भी आग्रह है। उनकी कवितायें जहाँ एक ओर प्रकृति में मौजूद सौंदर्य के प्रति जागरूक हैं वहीं इन कविताओं में धरती की विषमताओं के भी चित्र हैं। केदार जी इन्हीं से अपनी कविता का शृंगार करते हैं, प्रगतिशील भाव-धारा के केदार जी चाहते हैं कि धरती से शोषण एवं अवमानना की प्रवृत्तियों का निरसन हो जिससे कि प्रेम और सौहार्द्र को स्थापित किया जा सके। 'किसानों का गाना' शीर्षक कविता में कवि केदारनाथ अग्रवाल किसानों के प्रति लगाव महसूस करते हैं। उनकी कविताओं में किसानी-बोध दिखता है जिसे उन्होंने यथासंभव चित्रित किया है। अपने श्रम और संघर्ष से दुनिया की तस्वीर बदलने वाले भोले-भाले किसानों पर उनका अथाह विश्वास है। उनकी यह कविता परिवर्तन की माँग लिए हुए है। यथास्थितिवादिता पर प्रहार करते हुए कवि ने इस कविता के माध्यम से नए समाज के निर्माण का स्वप्न देखा है। कवि केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं-

हमारे हाथ में हल है,
हमारे हाथ में बल है,

कि हम बंजर को तोडेंगे-
बिना तोड़े न छोड़ेंगे ।

कड़ी धरती इधर भी है,
कड़ी धरती उधर भी है,
कि हम उसको विदारेंगे-
न चूकेंगे, न चूकेंगे ।

पसीना खूब सींचेंगे,
रुधिर सारा उलीचेंगे,
कि हम मिट्टी भिगोएँगे-
छने आटे-सी माड़ेंगे ।[8]

कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में अनुभव की ताब है जिसे कवि ने साकार किया है। 'वह जन मारे नहीं मरेगा' कविता में कवि ने आम आदमी की जीवन-शक्ति पर जो विश्वास किया है वह अत्यंत मार्मिक एवं प्रेरणास्पद है। आम आदमी की जीवटता और जिजीविषा-शक्ति उनकी कविताओं में कई रूपों में प्रकट होती है। कवि ने हाड़-गलाकर अपनी मेहनत से सृजन करने वाले हाशिए के समाज को मुखर अभिव्यक्ति देनी चाही है। उनकी कविताओं को जीवन-संघर्ष की कवितायें कहा जा सकता है। कवि केदारनाथ अग्रवाल स्पष्टत: इस जीवन-संघर्ष पर भरोसा करते हैं। एक नए समाज के निर्माण के लिए जन-सामान्य को न केवल संघर्ष करते हुए देखते हैं बल्कि इस भयावह युद्ध में आम जनता की विजय-कामना करते हुए लिखते हैं-

जो जीवन की धूल चाटकर बड़ा हुआ है,
तूफानों से लड़ा और फिर खड़ा हुआ है,
जिसने सोने को खोदा, लोहा मोड़ा है,
जो रवि के रथ का घोड़ा है,
वह जन मारे नहीं मरेगा,
नहीं मरेगा !![9]

केदारनाथ अग्रवाल मूल्यों के हनन पर रोष व्यक्त करते हैं। आज जिस तरह मानवीय मूल्य छीज रहे हैं और व्यक्ति सत्ता के मद में आकंठ डूबा हुआ दिखता है। कवि ने उन सभी बदलती प्रवृत्तियों को उद्घाटित किया है। उनकी कविताओं में अहिंसा का नाटक रचने वाले नटों की जीवन-सचाई उभरती है। कवि ने झूठ एवं फरेब के तिकड़म को समाप्त कर सत्य के पक्ष में अपनी कविता को खड़ा किया है। देश की जन-शक्तियों के नर-संहार और उनके कलपते हुए त्रासद जीवन को दर्शाते हुए, यथार्थ के विषम स्वरूप को जन-सामान्य के समक्ष रखने का कवि ने काम किया है द्य उनकी कविता अशक्त, निराश्रित जनता की आवाज बनकर प्रकट होती है। 'जिन्दगी' कविता में कवि लिखते हैं -

देश की छाती दरकते देखता हूँ !
मैं अहिंसा के निहत्थे हाथियों को,
पीठ पर बम बोझ लादे देखता हूँ ।
देवकुल के किन्नरों को,
मंत्रियों का साज साजे,

देश की जन-शक्तियों का,
खून पीते देखता हूँ ,
क्रांति गाते देखता हूँ !![10]

रिक्शा चलाते हुए निम्नवर्ग को कवि ने व्यास मुनि की उपमा दी है, यही नहीं भीम, अर्जुन आदि के रूप में उन्होंने सामान्य वर्ग को परिकल्पित किया है। उनका मानना है कि अजब समय है जब हरिचंद झूठ की गवाहियाँ दे रहे हैं और शची-द्रोपदी जैसी ललनाएँ पैसे की चाह में अपने अस्तित्व को दांव पर लगा रही हैं। कवि केदारनाथ अग्रवाल इस विषम समय को रेखांकित करते हुए लिखते हैं -

देश की छाती दरकते देखता हूँ !
व्यास मुनि को धूप में रिक्शा चलाते,
भीम, अर्जुन को गधे का बोझ ढोते देखता हूँ !
सत्य के हरिचंद को अन्याय-घर में,
झूठ को देते गवाही देखता हूँ !
द्रोपदी को और शैव्या को, शची को,
रूप की दुकान खोले,
लाज को दो-दो टके में बेचते मैं देखता हूँ !![11]

एक ऐसा समय था जब गाँधीवाद सारी समस्याओं के हल के रूप में दिख रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि दुनिया के सभी संकटों का उपाय गाँधीवाद के पास है। किन्तु धीरे-धीरे समय बदला और गाँधीवाद की आड़ लेकर अपने कुकृत्यों को छिपाने वाले राजनेताओं की कलई खुलती चली गयी। कथनी और करनी में भेद लिए हुए राजनेताओं ने मक्कारी भरे आचरण के द्वारा जनता को भ्रमित करने का भरसक प्रयास किया किन्तु अंततः वे नाकाम रहे। कवि केदारनाथ अग्रवाल ने ऐसे सुविधाभोगियों पर करारा व्यंग्य किया है। उन्होंने अपनी कविताओं में न केवल जनता की शक्ति को परखा बल्कि यह भी दर्शाना चाहा कि जनता सब जानती है कि किसने उसका उपयोग किया है ? आजीविका के नाम पर उसे किसने और किस भाँति ठगने का कार्य किया है ? 'हम तौ उनका वोट न देबै' कविता को अधिकारों के प्रति सजग रहने वाली जनता की आत्म अभिव्यक्ति कहा जा सकता है, जिसमें निर्धन जनता का रोष है-

हम तौ उनका वोट न दैबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
रोटी कपरा लत्ता खातिर,
जो हमका तरसाइन हैं ।।
अरजी का फरजी कै दीन्हीन,
गरजी जान भगाइन हैं।
आजादी के टोपीधारी,
हमका भीख मँगाइन हैं।।[12]

'लघुत्तम है उसका अस्तित्व' कविता में कवि केदारनाथ अग्रवाल ने सामान्य जनता के अस्तित्व को दिखाया है जिसे सदैव कमतर समझा जाता रहा है। यही नहीं उसकी गरीबी का उपहास उड़ाते हुए, उसे कमतर आँकने की अवसरवादी प्रवृत्ति हर जगह दिखती है। यह कविता केवल अभाव की कविता मात्र नहीं है, बल्कि इस कविता में सामान्य व्यक्ति की संवेदनशीलता को भी कवि ने उकेरा है जिसे हर कोई व्यक्ति कुचलता हुआ दिखता है। कवि केदारनाथ अग्रवाल निर्धन जनता का उल्लेख करते हुए भाव-विह्वल हो जाते हैं। उसकी पीड़ा

को दर्शाते हुए वह कहते हैं-

लघुत्तम है उसका अस्तित्व
जिसे कोई नहीं जानता
महत्तम है उसकी गरीबी
क्षितिज तक फैली छायाओं के समान
जिसे सब जानते हैं
चलते और कुचलते[13]

केदारनाथ अग्रवाल के पास जीवन-अनुभव की आँख है, जिससे हर घटना एवं दृश्य को कवि ने थाहने का कार्य किया है। उनके अनुसार इस धरती में सत्य को देखने-परखने और गढ़ने वाले लोग नहीं रहे। अब झूठ, खुशामद एवं लिप्सा में उलझे हुए लोग हैं जो झूठे मुहावरों से सच की लंबी व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। कवि की 'सत्य' कविता को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सत्य के पराजित एवं अवश होने का गहरा दु:ख उनके हृदय में है। वह सत्य को किसी भी कीमत पर हारता हुआ नहीं देखना चाहते हैं। यही कारण है कि उन्होंने झूठ के चमकीले पुतलों की खबर 'सत्य' कविता में ली है। वह बिना किसी लाग-लपेट के निर्भय होकर कहते हैं -

सत्य
नहीं टिक पाता
यहाँ
इस जमीन में
जहाँ
टिके हैं
झूठ के अलमबरदार
मौत के सिपहसालार[14]

केदारनाथ अग्रवाल की कवितायें व्यक्तिगत राग से शुरू होती हैं और अपनी रोशनी में जीवन के कतरे-कतरे को सिक्त करती हुई एक महत्वपूर्ण सन्देश छोड़ जाती हैं। इन कविताओं में व्यक्तिगत प्रेम है जिसे कवि ने जिया है और यह व्यक्तिगत प्रेम प्रकृति तक फैला हुआ है। आदि और अंत को यानी दिगंत को कवि ने अपनी कविता में जगह दी है। यही कारण है कि केदारनाथ अग्रवाल बड़े कवि हैं। उन्हें प्रगतिशील कवि कह देने भर से बात नहीं बनेगी, जब तक कि उनकी कविताओं को पढ़कर उनमें व्याप्त ध्वनियों को जिया नहीं जाएगा। कवि केदार प्रकृति पर लिखते हैं किन्तु प्रकृति के एक-एक रूप में उनकी प्रेयसी की छाया दिखाई पड़ती है। अभाव-ग्रस्त लोग हैं जिन्होंने अपने श्रम से धरती का रूप बदला है, उनकी एक-एक पदचाप कवि के यहाँ सुनी जा सकती है। कवि ने जी भर प्रकृति को जिया है, प्रेम को जिया है इसलिए उनकी काव्य-धारा सीमित और संकीर्ण नहीं है। असल में वह लोक-धारा है जिसमें नहाते हुए, डूबते हुए, उतराते हुए कवि एक अपूर्व जगत का निर्माण करते हैं।

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में प्यास का जगत है जो कभी नहीं समाप्त होता, कवि इस जगत में दीवाने-सा भटकते हैं और इसके एक-एक रूप का चित्रण करते हैं। प्रेमी-प्रेमिका, पार्थिव-अपार्थिव जगत की छायाओं को स्वीकारते हुए कवि समाज में जहाँ भी बेचैनी, बे-अदबी और भेदभाव का जगत देखते हैं उन सभी को कविता का विषय बनाते हुए सामाजिक समानता की बात करते हैं। उनकी कविता में आर्थिक आधार पर पिछड़े हुए लोगों का जीवन-संघर्ष है जिसे कवि कभी नहीं भूलते हैं। एक-एक व्यक्ति की विशद गाथा को

आधार बनाते हुए कवि ने जीवन की प्रत्यंचा को उद्धृत करना चाहा है।

ऐसा लगता है कि कवि केदारनाथ अग्रवाल चाह और रूप के जगत से होते हुए, यथार्थ की जमीन पर कदम रखते हैं। भेदभाव को तोड़ना चाहते हैं, एक नए समाज के निर्माण का स्वप्न लिए हुए उन धीमे कदमों को बानी देना चाहते हैं जो वक्त की भीड़ में पीछे रह गए। उनकी कविता को लोक-जीवन और संघर्षों की टोह लेने वाली कविता कह सकते हैं जिसमें पीड़ा और दर्द के गहरे नश्तर हैं जो कवि को दिशा देते हैं।

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का एकान्तिक प्रेम कब सामाजिक प्रेम बन जाता है पता नहीं चलता। कवि आसपास की घटनाओं, पीड़ाओं एवं वेदनाओं से इस कदर प्रभावित होते हैं कि उनकी व्यक्तिगत पीड़ा, व्यक्तिगत लालसा उसमें अंतर्भुक्त हो जाती है। प्रेयसी की रूप-माधुरी का चित्र आँकते हुए कवि धरती के सोए हुए रागों का परीक्षण करते हैं और फूल, नदी, तितली आदि पर लिखते हैं। साथ ही लोगों के जीवन-संघर्ष को देखकर मन ही मन प्रमुदित भी होते हैं और उनकी जीवन-यात्रा के विजयी होने की कामना करते हैं। कवि की कविता रूप-माधुरी से होती हुई धरती के बीहड़ खण्डों में उतरने वाली महत्वपूर्ण कविता है जिसमें राग-आग, सुख-दु:ख, मिलन-बिछोह, सृजन-विध्वंस की छायाएँ हैं इन्हीं छायाओं के बल पर उनकी कविता महत्वपूर्ण बनती है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि केदारनाथ अग्रवाल जीवन-ताप के कवि हैं, उनकी कविताओं में जीवन का वैविध्य है। कवि ने जीवन की विराटता एवं व्यापकता को कविता में उकेरते हुए उसे विस्तृत फलक के साथ प्रस्तुत किया है। यह उनकी कविता की विशेषता है कि वह कभी नहीं चूकती, कभी नहीं खत्म होती, क्योंकि कवि को कलम की ताकत पर अथाह विश्वास है। धरती के कुरूप दृश्यों एवं घटनाओं को बदलने की उद्दाम आकांक्षा लिए हुए कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविता जीवन-विवेक की कविता है जिसमें सुन्दरता को बचाए रखने का बोध है। जीवन के स्याह पक्षों की टोह लेते हुए उसे विषम से सम करने की चाह उनकी कविता में है जिससे कि परिवर्तन हो और यह जीवन बदल सके। सारत: कह सकते हैं कि केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ सौंदर्य, संघर्ष और प्रेम की छायाएँ हैं जो जीवन को निश्चय ही बदलने और मूल्यवान बनाने में सहायक होंगी।

संदर्भ :

1. केदारनाथ अग्रवाल, 'पुष्पदीप', पृ. 94
2. केदारनाथ अग्रवाल, 'गुलमेंहदी', पृ. 123
3. केदारनाथ अग्रवाल, 'गुलमेंहदी', पृ. 73
4. केदारनाथ अग्रवाल, 'गुलमेंहदी', पृ. 181
5. केदारनाथ अग्रवाल, 'अनहारी हरियाली', पृ. 36
6. केदारनाथ अग्रवाल, 'आत्मगंध', पृ. 24
7. केदारनाथ अग्रवाल, 'आत्म गंध', पृ. 79
8. केदारनाथ अग्रवाल, 'गुलमेंहदी', पृ. 67
9. केदारनाथ अग्रवाल, 'गुलमेंहदी', पृ. 131
10. केदारनाथ अग्रवाल, 'कहें केदार खरी-खरी', पृ. 65
11. केदारनाथ अग्रवाल, 'कहें केदार खरी-खरी', पृ. 68
12. केदारनाथ अग्रवाल, 'कहें केदार खरी-खरी', पृ. 73
13. केदारनाथ अग्रवाल, 'आग का आईना', पृ. 33
14. केदारनाथ अग्रवाल, 'आग का आईना', पृ. 83

❖❖❖

आलेख

नब्बे के दशक की हिंदी कविता में मानव मूल्य एवं पर्यावरणीय चेतना

❍ मनकामना शुक्ल✡

पर्यावरण एक वैज्ञानिक विषय है। कवियों एवं लेखकों ने इसे साहित्य में समायोजित कर उसे अपने-अपने स्तर से नया आयाम देने का प्रयास किया है। ऐसा भी नहीं कि यह साहित्य के लिए कोई नया विषय रहा हो। क्योंकि प्राचीनकाल से ही वेद, पुराण उपनिषद तथा मनुस्मृति में भी इसका व्यापक उल्लेख मिलता है। भारतीय संस्कृति को तो वन संस्कृति कहा जाता है। क्योंकि वन हमारी धरती के रक्षक हैं। वनों से हमें फल फूल व ईधन मिलता है। इसके साथ ही इससे मिट्टी का कटाव नहीं होता। वन हमारे सम्पूर्ण पर्यावरण को शुद्ध बनाए रखने में सहायक होते हैं। आज हम भौतिकवादी युग में जी रहे हैं। इस स्थिति में हम प्रकृति को पदार्थ के रूप में देखते हैं। प्रकृति को पदार्थ के रूप में ग्रहण करने व उसे इस तरह से देखने की प्रक्रिया हमें पश्चिमी देशों से प्राप्त हुयी। पश्चिमी देशों की इन अवधारणाओं ने हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों की हमेशा उपेक्षा की है। जबकि पर्यावरण की सुरक्षा एवं संरक्षा हेतु भोगवादी वृत्तियों पर नियंत्रण रखना होगा।

भारतीय संस्कृति में वृक्ष लगाने का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। और यह भी मान्यता है कि ये वृक्ष वंशवृद्धि के साथ-साथ पशु व पक्षियों के आवास भी हैं।

दसकूपसमवापी दसवापी सामो ह्रदः।
दसह्रद समः पुत्रों, दसपुत्रो समो द्रुमः।।[1]

अथर्ववेद में पृथ्वी को माता व स्वयं को उसका पुत्र कहा गया है ' माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः'[2]

शतपथ ब्राह्मण में वृक्ष एवं वनस्पतियों को पशुपति अर्थात शिव का रूप माना गया है। इससे साफ-साफ परिलक्षित होता है कि मानव जीवन में साहित्य के साथ-साथ पर्यावरण का भी प्राचीनतम एवं पारस्परिक सम्बन्ध रहा है। ब्रह्मवेत्ताओं ने सम्पूर्ण सृष्टि को चैतन्य शक्ति का रूप माना है जिसमें पृथ्वी, पानी, अग्नि वायु एवं सम्पूर्ण वनस्पतियाँ हैं। यहीं चैतन्य पदार्थों का निर्माण भी करता है। लेकिन विज्ञानवेत्ताओं ने इसे जड़ माना है।

प्रसिद्ध समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि "मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला उसी प्रकार भावों (मन के वेग) की व्याप्ति के लिए भी। अब

✡ मनकामना शुक्ल, शोधार्थी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

यदि आलस्य या प्रमाद के कारण इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा तो उसका आनन्द पशुओं के आनन्द से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकेगा। अत: यह सिद्ध हुआ कि वन, नदी, निर्झर, पशु-पक्षी खेत-बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम से कम वासना के रूप में अंत:करण में निहित है।"[3]

हमें मानव मूल्य एवं पर्यावरण पर चर्चा करने से पहले पर्यावरण के अर्थ को भी भली भांति समझना होगा। पर्यावरण का अर्थ है अच्छी प्रकार से चारों तरफ से ढकने वाला। जैसा कि बताया भी गया है परि + आवरण इन दो शब्दों के मेल से बना है। परि का अर्थ है अपने चारों ओर तथा आवरण का तात्पर्य है आच्छादन अर्थात ढकना अथवा ढकने वाला। इस सन्दर्भ में यह प्रयुक्त होता है कि हमारे चारों तरफ जो कुछ भी है वह हमारा सम्पूर्ण पर्यावरण अथवा पारिस्थितिक है। हम इसे सरल शब्दों में कह सकते हैं कि पृथ्वी पर प्राणी की चारों तरफ जो कुछ भी भौतिक, अभौतिक पदार्थ अथवा वस्तुएँ हैं, वे ही इनका पर्यावरण है। पर्यावरण के सन्दर्भ में मानस में भी प्रकृति के पंचतत्वों का वर्णन मिलता है। 'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।[4]

ईश्वर द्वारा रचित मानव शरीर में प्रकृति के कई तत्व विद्यमान हैं। इस प्रकार से मनुष्य का पर्यावरण से वैसे ही सम्बन्ध हैं जैसे स्त्री का पुरुष से और मछली का पानी से सम्बन्ध है। आप यह आरम्भ से ही देखते आ रहे हैं कि प्रत्येक मांगलिक कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व आर्यों में शान्ति पाठ करने की आरम्भ से ही परम्परा थी, जो हमारी संस्कृति में आज भी जीवित है। वैदिक ऋषि प्रार्थना करते हुए कहते थे।

ॐ द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षँ शान्ति:, पृथ्वी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति: ।
वनस्पतय: शान्तिर्विश्वे देवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति:,
सर्व शान्ति:, शान्तिरेव शान्ति:, सा मा शान्तिरेधि
ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: ।।[5]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसके अपने कुछ नैतिक कर्तव्य भी होते हैं। मनुष्य को पृथ्वी के समस्त जीवों में श्रेष्ठ भी माना जाता है। क्योंकि उसके अन्दर प्रेम, करुणा, दया, सहिष्णुता, सहयोग एवं समर्पण का भाव भरा होता है, जो अन्य जीवों में पूर्णत: नहीं पाया जाता। नीति शास्त्री विचारक मानव के इन्हीं गुणों को मानव मूल्य कहते हैं। यहीं मूल्यपरक नैतिकता मनुष्य को चरित्रवान व निष्ठावान बने रहने के साथ उसे सतत् गतिशील भी बनाए रखती है। आज नयी सदी के भारतीय समाज में साहित्यकार भले ही जीवन तथा मानवीय मूल्यों के जुड़ी नयी-नयी रचनाओं का सृजन कर रहे हों परन्तु आज के कथित आधुनिक जनमानस उन रचनाओं से अछूता रह जा रहा है। जबकि ये सच है कि समाज पर साहित्य का जितना गहरा व दूरगामी प्रभाव पड़ता है, उठना किसी अन्य साधन का नहीं पड़ता। आज के समय में जिस तरह से जीवन मूल्यों में लगातार गिरावट आ रही है वह समाज के लिए शुभ संकेत नहीं है। आज का इंसान इतना स्वार्थी गया है कि वह अपनी सुख सुविधाओं के खातिर मनुष्य को ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी एवं पर्यावरण को भी नुकसान पहुंचाने से नहीं हिचक रहा। आज की नयी पीढ़ी को साहित्य समाज व पर्यावरण की चिन्ता नहीं है, ना ही मानवीय मूल्यों की चिन्ता है। वह आज के अंधानुकरण की दौड़ में शामिल कर खुद को अंधे गर्त में ले जा रहा है। वह अपनी आकांक्षाओं और अपने लोगों की अपेक्षाओं की पूर्ति का साधन मात्र बन कर रह गया है। जबकि पर्यावरण एवं मानवीय मूल्यों की रक्षा किए बिना हम स्वस्थ एवं सुखी समाज की परिकल्पना नहीं कर सकते।

मानव विकास के इस क्रम में कवियों एवं साहित्यकारों ने पर्यावरण से जुड़े मानवीय मूल्यों को अपनी कविता में शामिल कर प्रकृति के प्रति अपना नैसर्गिक तादात्म्य स्थापित किया है, साथ ही मानव को प्रकृति

के प्रति सचेत करते हुये उसे अपने नैतिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक भी किया है। मानव मूल्य एवं पर्यावरणीय चिन्तन के विकास क्रम में समकालीन हिन्दी कविता खासकर नब्बे की हिन्दी कविता इससे अछूती नहीं रही है। इस दशक के कवियों की कविताओं में न केवल पर्यावरण के प्रति नैतिक कर्तव्य व दायित्वबोध दिखाई देता है, बल्कि उनका प्रकृति के साथ आत्मीय जुड़ाव भी दृष्टिगोचर होता है। इस दशक के कवियों ने प्रकृति के साथ निरन्तर किए जा रहे छेड़छाड़ के दूरगामी परिणामों के प्रति लोगों को सचेत भी किया है। आज भूमण्डलीकरण के दौर में बाजारवादी संस्कृति हावी हो चुकी है जिसके कारण सबसे ज्यादा उपेक्षा और दोहन प्रकृति का हुआ है। कवियों ने लगातार अपनी कविताओं में इस उपयोगितावादी प्रवृत्ति का प्रतिकार करते हुए मनुष्य को सचेत किया है, साथ ही मनुष्य ही नहीं सृष्टि के हर प्राणी व वस्तु स्थान आदि जैसे जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, नदी, पहाड़, पशु-पक्षी, जमीन, जंगल और हवा आदि से निरन्तर संवेदनात्मक संवाद कायम करते रहे हैं।

नब्बे के महत्त्वपूर्ण कवि मदन कश्यप के 'लेकिन उदास है पृथ्वी' संग्रह के अन्तिम खण्ड की खासकर 'पृथ्वी दिवस' 1991 और 'इथोपिया की भूख' जैसी कविताओं में पर्यावरणीय चेतना को आसानी से देखा जा सकता है। बचाओ सबसे पहले उन रक्षकों से बचाओ/ जो अपनी हविश के लिए/ बचा रखना चाहते हैं पृथ्वी को/ बम बरसाकर धुएं की चिन्ता करते हैं/ जंगल काटकर भू- स्खलन पर शोध कराते हैं/ सागर के सीने में भरते हैं जहर/ नदियों में कचड़े खेतों में विषैले रसायन/ मेढकों की रान और बन्दरों के सर के साथ/करते हैं हमारी मनुष्यता का भी सौदा/ बचाओ सबसे पहले उन लुटेरों से बचाओ।[6]

संग्रह में संकलित अनेक कविताओं के माध्यम से कवि ने प्रकृति को प्रदूषण से बचाए रखने की चिन्ता ही नहीं व्यक्त करता बल्कि लोगों से सवाल भी किया है और सुझाव भी दिया है। इस प्रकार कवि का प्रकृति के प्रति चिन्ता का होना जायज है।

कवि स्वप्निल श्रीवास्तव तो अपने संग्रह 'ईश्वर एक लाठी है' में महुए के फूल, धान के खेत, फूल की हंसी, गेहूं, सेंबल, कपास के फूल, फूलों का गुच्छा, और बसंत जैसी महत्त्वपूर्ण कविताओं के माध्यम से प्रकृति व पर्यावरण की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए ये मनुष्य व प्रकृति के अंतः सम्बन्धों को बखूबी के साथ उजागर किया है। 'जंगल और पेड़' नामक कविता में नीलेश रघुवंशी लिखती हैं...

घाट का पेड़ जिस पर चिड़िया बैठती है/बोलती है टिटहरी /कूकती है कभी-कभी कोयल /कुत्ते और गाय खुजलाते हैं जिससे पीठ /एक लहर उठती है जो बहुत कम को दिखती है /कोयल कूकती है तो ठंडी राख में होता है कंपन /फूटती हैं कोंपल पेड़ में उसकी आवाज से/ वो पेड़ कटने वाला और विलीन होने वाला है घाट/

वहीं 'खिड़की खुलने के बाद' संग्रह में 'बिना फल का पेड़' जैसे महत्त्वपूर्ण कविता में वे लिखती हैं. ..[7] कब तक छीनोगे हमसे हमारी जगह/। नदी, पर्वत, नाले, नहर, बंजर, जमीनें/ सब तुम्हारी आंख की किरकिरी है/ क्रेता- विक्रेता बन चुके तुम/ क्या आकाश को भी बेदखल करोगे/ उसकी जगह से! इस तरह नीलेश रघुवंशी की कविताओं मे जंगल के कटने की चिन्ता व उसे काटने वालों के प्रति टीस को आसानी से देखा जा सकता है।

मनुस्मृति में तो हरे वृक्षों को काटना अथवा कटवाना भी पाप की श्रेणी में माना गया है। हरे वृक्षों को काटना हिंसा है। इसके लिए अपराधी को यथा योग्य दण्ड दिये जाने का प्रावधान भी है। यही नहीं अपराधी को इसके लिए कितना दण्ड दिया जाना चाहिए उसमें इस बात का भी उल्लेख मिलता है। इस तरह महर्षि मनु ने मनुष्य के सामान्यतः दस धर्मों का निरूपण किया है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचं इन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यं अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।[8]

धैर्य, क्षमा, मन पर संयम चोरी ना करना पवित्रता इंद्रियों पर संयम बुद्धि, विद्या, सत्य तथा क्रोध न करना ये सभी मनु के अनुसार मनुष्य के दस धर्म व लक्षण हैं। ये सभी गुण मानव मूल्य के अन्तर्गत आते हैं। और यहीं हमारे आन्तरिक पर्यावरण को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक भी हैं। जब मनुष्य के मन में इन समस्त गुणों का समावेश होता है तो वह आन्तरिक प्रदूषण से मुक्त होता है। वेदों में यह संदेश मिलता है कि मनुष्य वायु, जल, भूमि, प्रकृति के घटकों को शुद्ध अर्थात स्वच्छ रखता है तो पर्यावरण हमारे लिए स्वयं हितकारी होगा।

जब हम साहित्य में खासकर पर्यावरण को केन्द्र में रख कर मानव मूल्यों का अवलोकन करते हैं, तो स्पष्ट तौर पर पाते हैं कि, वैदिक ऋषियों के द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण की गोद में उत्कृष्ट वैदिक दर्शन, संस्कृति एवं विज्ञान आदि का पोषण हुआ है। आर्यों ने पर्यावरण के सभी महत्तवपूर्ण अवयवों जैसे सूर्य, जल, चंद्रमा, वायु, पृथ्वी, पशु-पक्षी एवं वनस्पतियों की आराधना का विधान किया।

स्वधितै मे न हिंसी अर्थात वृक्षों को कुल्हाड़ी से मत काटो। इस प्रकार से ऋषियों ने वृक्षों एवं वनस्पतियों की हिंसा न करने की बात कही है।

इस प्रकार जब हम हिन्दी कविता पर व्यापक दृष्टि डालते हैं तो हमें पर्यावरण का कविता से प्राचीनतम व पारस्परिक अंतः सम्बन्ध दिखाई देता है, जिसे अलग नहीं किया जा सकता। ठीक उसी तरह नब्बे की कविताएँ भी प्रकृति के तत्वों से सीधा जुड़ाव रखती हैं। इस दशक में रची गई कविताओं ने मानव एवं पर्यावरण के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुये हिन्दी कविता में एक नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ा है।

कवियों का प्रकृति के प्रति प्रेम का होना उनके जीवन का स्वाभाविक अंग रहा है। इसका स्वरूप आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल छायावाद युग से होते आधुनिक काल के कवियों की कविताओं में सुगमता के साथ देखा जा सकता है। छायावादी कवि पंत को तो प्रकृति का चितेरा कवि भी कहा जाता है। नब्बे के इन कवियों ने पर्यावरण के प्रति मानवीय मूल्यों को बखूबी अपनी कविताओं में समाहित कर पर्यावरण के प्रति अपने नैतिक कर्तव्यों का पालन किया है।

कविता के स्वभाव के बारे में नब्बे के कवि श्रीप्रकाश शुक्ल स्वयं कहते हैं कि, "इतिहासकारों के दस्तावेजी स्वभाव के बरक्स सम्वेदी स्वभाव कविता का है।" हर कालखण्ड की कविता की अपनी एक जमीन होती है और यह जमीन बहुआयामी परिवर्तनों और प्रभावों से निर्मित होती है। अगर नब्बे की हिन्दी कविता में मानव मूल्य एवं पर्यावरण के विशेष सन्दर्भों में कवि श्रीप्रकाश शुक्ल की कविताओं से गुजरते हैं तो उन्हें खुद प्रकृति के निकट पाते हैं। क्योंकि उनके प्रत्येक संग्रह में प्रकृति की चिन्ता का भाव दृष्टिगोचर होता है। चाहे वह 'बोली बात' हो या ओरहन और अन्य कविताएँ या रेत में आकृतियाँ हो या फिर नए काव्य संग्रह वाया नई सदी ही क्यों न हो! हर संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि का प्रकृति से जुड़ाव दिखाई देता है। क्षीर सागर में नींद संग्रह कीवरुणा, द्वा सुपर्णा, नल और बन्दर, बसंत, बादल व शोक सभा जैसी कविताओं को पढ़ते साफ प्रतीत होता है कि कवि पर्यावरण के प्रति चिन्ता ही नहीं व्यक्त करता बल्कि पर्यावरण व प्रकृति के प्रति निरन्तर सजग भी रहता है। गौरतलब है कि शुक्ल जी की कविताओं में प्रकृति प्रेम एवं उसके सौन्दर्य आदि की भरमार है।

'रेत में आकृतियाँ' कविता संग्रह के 'बसंत' कविता की ये पंक्तियां कितनी भावपूर्ण हैं...

रेत है कि चूमती है पांव? चांदनी जैसे झुरमुट से गांव? छोड़ मत जाना मीत? बस एक बार? एक बार

उतर आओ? मेरे प्रीत बौर रीत![9]

वहीं बोली बात संग्रह की 'ए बादल' कविता में लिखते हैं..

उतरो उतरो ए बादल/ जैसे उतरता है मां के सीने में दूध? बच्चे के ठुनकने के साथ/ हवाओं में सुगन्ध बिखेरो/पत्तों को हरियाली दो/धरती को भारीपन/कविता को गीत दो/ ए आषाढ़ के बादल/बीज को वृक्ष दो/वृक्षों को फूल दो/फूल को फल दो! उनके नए कविता संग्रह वाया नई सदी की अधिकांश कविताएँ जैसे प्रार्थना, अबकी बसंत बहुत मंहगा है, देवदारु की दुनिया, समुद्र, बादल वंदन, बाढ़ और उसके बाद, सुबह-ए-बनारस, गुलमोहर, झुकना, हरा पपीता आदि कविताएँ प्रकृति से जुड़ी हैं। उदाहरण के तौर पर 'पेड़' कविता की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं। पेड़ बड़े हो रहे हैं/हम छोटे/ हमारा छोटा होना नहीं है कोई विफलता/हमारी सफलता का रहस्य तो/ पेड़ के बड़े होने में है/ जब हम नहीं होंगे/ये पेड़ ही होंगे/ जो अपनी ऊंचाई में/ हमारी गहराई का पता देंगे![10] दूसरी कविता 'अबकी बसंत बहुत मंहगा है' की चन्द पंक्तियाँ... चारों ओर प्रेम भरी पुलकन है/ लेकिन फुनगियों में विद्रोह के अंकुर इतने तीखे हैं कि फूलों में उल्लास के बावजूद टहनियों में भारी तनाव है/और पेड़ की समूची जड़ें अपने कांपते वजूद में हिल रही हैं!

इस तरह कवि की सम्पूर्ण कविताओं में पर्यावरण के प्रति असीम चेतना दिखाई देती है। 'अन्न हैं मेरे शब्द' कविता संग्रह के पहाड़ कविता में एकान्त श्रीवास्तव लिखते हैं...

चाहते हैं बच्चे/कि वे अपने सपनों में/पहाड़ों को बुलाएं/जैसे बुलाते हैं उन्हें पहाड़/अपनी खुशबू फल और फूल देने के लिए/बहुत छोटे हैं बच्चे/बहुत छोटी है उनकी इच्छा/कि दुनिया पहाड़ की तरह सुंदर हो/खुशबू से भरी फलदार[11]/कवि द्वारा रचित इस कविता संग्रह में समुद्र पर 7 कविताएँ शामिल हैं। इन कविताओं में गजब का गुरुत्वाकर्षण है, जो बार-बार हमारा ध्यान प्रकृति की ओर आकर्षित कर लेती है। कवि ने समुद्र तट पर सूर्योदय कविता में कवि ने कितना सुन्दर बिम्ब खींचा है।

"श्याम जल में झड़ते हैं सिंदूरी फूल/ क्षितिज की झुकी हुई टहनी से/ लुहार की भट्टी में तपता तवा/ कि जिस पर सेंकी जाएंगी दर्जनों रोटियां/हमारी भूख और दुर्दिनों के विरुद्ध।"[12] वहीं बीज के फूल कविता में भी कवि ने प्रकृति को बड़े ही सजीव ढंग से उकेरा है। एकान्त श्रीवास्तव की ज्यादातर कविताओं में प्रकृति व पर्यावरणीय चेतना के भाव देखने को मिलते हैं। जो हिन्दी कविता के लिए एक नई अर्थदृष्टि प्रदान करती है। नब्बे के दशक की कवयित्री अनामिका तो वैसे स्त्रीवादी लेखिकाओं के रूप में जानी जाती हैं, किन्तु उनकी आरम्भिक कविताओं में प्रकृति का सुन्दर स्वरूप दिखाई देता है। उनकी कविताओं में प्रकृति आलंबन के रूप में उभर कर सामने आती है। 'शीतल स्पर्शी धूप को 'कविता संग्रह में उन्होंने अधिकांश कविताओं में बाल सुलभ प्रवृत्ति का सुन्दर चित्रण किया है। जहाँ बच्चों के चंचल मन द्वारा धूप को उनके नन्हें हाथों से छूने की चाह तथा चांद को अपने होठों से चूमने की चाह का सुन्दर चित्रण मिलता है। "शीतल स्पर्श एक धूप को दें/ढ़ल कर कन्धों पर वह द्रवित होगी/बहेगा सोना धरती पर/चांदनी को चूम लें गर्म होठों से/छिटक अंक से जाएगी वह/चांदी का वरक नभ पर बिछेगा[13]/अनामिका की कविताओं में सामाजिक समानता और स्त्रियों की चिन्ता तो है ही, साथ ही साथ प्रकृति और पर्यावरण की चिन्ता भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

टोकरी में दिगंत संग्रह में वे लिखती हैं कि निष्पत्र पेड़ धरती का थर्मामीटर हो गए हैं-

आज जब धरती का माथा गरम है/ जलस्रोतों की पट्टी पूरी नहीं पड़ती/निष्पत्र पेड़ हो गए हैं थर्मामीटर[14]/ यहाँ अनामिका की भाषा और उनके कविता का ट्रीटमेंट भी बिल्कुल अलग ढंग से चलता दिखाई देता है। यहाँ कवयित्री ने एक नयी भाषा का संधान किया है। जो प्रकृति की भाषा से मिलती जुलती प्रतीत होती है।

कवि बद्रीनारायण वैसे तो समाजविज्ञानी हैं पर वे कविताएँ भी अच्छी लिखते हैं उनकी कविताओं में न

केवल सामाजिक प्रतिबद्धता का स्वर है बल्कि समसामयिकता और प्रकृति के प्रति दीवानगी का भाव भी देखने को मिलता है। हम सीधे तौर पर कह सकते हैं कि वे सामयिक घटनाक्रम के माध्यम से मानवीय व सामाजिक प्रतिबद्धता का एक नया पैगाम लेकर उपस्थित होते हैं। चिड़ियाँ रे कविता की निम्न पंक्तियां देखें...

चिड़ियाँ होने का अर्थ फाड़ दो/ मछली रे मछली होने का अर्थ काट दो/ लड़की चिंदी चिंदी कर दो/लड़की होने के अर्थ को/ बकुल के फूल, बकुल के फूल/ होने के अर्थ को अपने से थोड़ा अलग करो/और कमल के फूल की रूप छवियों में/ नाभियों अपने लिए जगह माँगो/पृथ्वी के नीचे फैली जड़ों/ पेड़ों के बिंब में अपने प्रति होने वाले अन्याय के खिलाफ रख दो माँग पत्र/पत्तियों! उठो और कहो/कि फूल के बनाने में तुम भी शामिल हो[15]/ वहीं एक दूसरी कविता में वे लिखते हैं.. "वे स्वप्न देखते हैं कि/कैसे जंगल के शिकारियों का आतंक कम होगा/कि कैसे यह जंगल जनतंत्र में तब्दील होगा/कि कैसे चिड़ियों पर किया जाने वाला अत्याचार रुकेगा"[16] ठीक उसी तरह तुमड़ी के शब्द संग्रह की शिल्प कविता पेड़ की शोक सभा और करीमन-बी बुरुँश के फूल जैसी कविता में प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है। ठीक उसी तरह वहीं कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव अपनी "पहाड़ : सात कविताएँ" में लिखते हैं,

"यह समय तुम्हारा है/ सिर्फ तुम्हारा उठो लपककर छू लो आकाश/यह धरती भी तुम्हारी है/ आकाश भी तुम्हारा" इस तरह इन कवियों की कविताओं में पहाड़, जल व पर्यावरण के प्रति चिन्ता को साफ तौर पर देखा जा सकता है।

नब्बे के दशक के कवियों की रचनाओं के भीतर जल, जंगल, जमीन की चिन्ता है साथ ही जीव जंतुओं की भी चिन्ता अधिकांशत: देखने को मिलता है। इस कवियों का प्रकृति के प्रति आत्मीय सम्बन्धों का होना नब्बे के कविता की विशेषता है। पर्यावरण के प्रति आत्मीय लगाव व चेतनशीलता को नब्बे की हिन्दी कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के तौर पर देखा जाना चाहिए।

महाभारत के आदि पर्व में वृक्षों की महत्ता को बतलाते हुए व्यास जी ने लिखा है यदि किसी गांव में एक पेड़ भी हरा-भरा, फल-फूल से परिपूर्ण है तब वह देवमंदिर की भांति पूजनीय है। आज सम्पूर्ण वातावरण में प्रदूषण का जो फैलाव निरन्तर हो रहा है इससे मानव जीवन दुरूह होता जा रहा है। आज गांव से लेकर शहर यहाँ तक कि महानगरों में और जंगल, पर्वत पठार, नदियाँ झरने सब के सब प्रदूषण की गिरफ्त में शामिल हो चुके हैं। प्रदूषण का यह विस्फोटक स्वरूप मानव जीवन के लिए किसी खतरे से कमतर नहीं। वाकई यह चिन्ता का विषय है। मानव अपने विकास में प्रकृति का निरन्तर दोहन करता जा रहा है। उसे यह नहीं पता कि वह जिस शाखा पर बैठा है, उसी को काट रहा है। मणि मोहन अपनी एक छोटी सी कविता में लिखते हैं,

जर्द पत्तों से /ढँक चुकी है धरती /जैसे सो रहा है
कोई भरोसा ओढ़कर![17]

यहाँ कवि पूरी शृष्टि को हरीतिमा के रूप में देखना चाह रहा है प्रकृति के बीच भरोसे को ओढ़ कर सोना कवि के भीतर उम्मीदों के बचे रहने के समान हैं।

इस तरह प्रकृति एवं पर्यावरण के सन्दर्भ में नब्बे के दशक की हिन्दी कविता में एक व्यापक परिवर्तन दिखाई देता है। यह परिवर्तन एक नया आयाम लेकर साहित्य में उपस्थित होता है। हाँ, यह जरूर है कि वीरगाथा काल में प्रकृति थोड़ी उपेक्षित दिखाई देती है। सन्तों और सूफियों ने तो इसे आध्यात्मिक संकेत के लिए ही ग्रहण किया। ऐसा पाया जाता है कि भक्तों ने प्रकृति को उपदेश और व्यंग्य का माध्यम बनाया। रीतिकाल के कवियों ने इसे उद्दीपन और अलंकरण के लिए के रूप में स्वीकार किया। किन्तु समकालीन हिन्दी कविता में खासकर नब्बे के दशक के कवियों ने प्रकृति के वैभव को अपनी कविताओं में बहुत ही सुन्दर ढंग से

समायोजित किया है। जहाँ प्रकृति कवियों के लिए एक स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित दिखाई देती है। इसी लिए प्रकृति मनुष्य से भिन्न एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में घोषित की गई है। नब्बे के इन कवियों के द्वारा समुद्र, पर्वत, पशु-पक्षी, सरोवर, पृथ्वी, वर्षा ऋतु, वसंत ऋतु, ग्रीष्म ऋतु, छाया, संध्या, उषा, प्रभात एवं परियों आदि पर भी अनेक स्वतंत्र कविताएं लिखी गई हैं। इन कवियों द्वारा किया गया प्रकृति का यह वर्णन काफी मनोरम है। नब्बे के इन कवियों ने प्रकृति को अपनी कविताओं में व्यापक स्तर पर प्रयोग किया है। हर कवि ने प्रकृति को अलग-अलग अपने रचनात्मकता का हिस्सा बनाया। जिसका स्वरूप बहुवर्णी और विविध वर्णी है। इस तरह हम पाते हैं कि हिन्दी कविता की एक दीर्घजीवी परम्परा रही है। प्रकृति वर्णन के रूप में नब्बे के कवियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है।

छायावाद तो सम्पूर्ण रूप से प्रकृति का केन्द्र बिन्दु रहा है। समकालीन कवियों ने प्रकृति को एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में अपनी रचनाओं में स्वीकारा और एक स्वतंत्र चेतना के रूप में अपनी रचना धर्मिता का विषय बनाया है यह वर्तमान समय के लिए बेहद महत्वपूर्ण है।

सन्दर्भ :

1. मत्स्यपुराण, 15.4.511-512
2. अथर्ववेद।
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग 2, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्र० वर्ष 2009, पृ. 4
4. तुलसीदास, रमचरितमानस, गीता प्रेस।
5. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, कर्मकाण्ड भास्कर।
6. मदन कश्यप, '*लेकिन उदास है पृथ्वी*', सेतु प्रकाशन पटपड़गंज, दिल्ली, 2019, पृ. 107
7. निलेश रघुवंशी, *खिड़की खुलने के बाद*, 58 कुमार ऑफसेट प्रिंटर्स 381 पटपड़गंज, दिल्ली, 2017, पृ० 33
8. श्रीप्रकाश शुक्ल, *रेत में आकृतियां*, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012, पृ. 57
9. श्रीप्रकाश शुक्ल, *बोली बात*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007, पृ. 108
10 श्रीप्रकाश शुक्ल, *वाया नई सदी*, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., जी 17 जगतपुरी दिल्ली, पृ. 109
11 एकान्त श्रीवास्तव, *अन्न हैं मेरे शब्द*, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, एन -77 पहली मंजिल, नयी दिल्ली, 2013, पृ. 56
12 एकान्त श्रीवास्तव, *बीज के फूल*
13 अनामिका, *शीतल स्पर्श एक धूप को*।
14 अनामिका, *टोकरी में दिगन्त*।
15 बद्री नारायण, *खुदाई में हिंसा*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2010
16 जितेन्द्र श्रीवास्तव, *उजास*, सेतु प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019, पृ. 52
17 मणि मोहन, *पतझर का संगीत*, नियोलिट पब्लिकेशन, अंतर्मन, 13 सोहम पार्क, इन्दौर मध्य प्रदेश, 2021, पृ. 49.

❖❖❖

आलेख

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन और हिंदी गीत

❍ मनोज कुमार मौर्य✡

जब हम स्वाधीनता आंदोलन की बात करते हैं तब हमारे सामने उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हुए भारतीय जनमानस के संघर्ष का चित्र अनायास उभर आता है। भारत में स्वाधीनता संग्राम का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि हमारी परतंत्रता का इतिहास। यह देश एक हजार साल से भी अधिक समय तक गुलाम रहा, लेकिन सांस्कृतिक रूप से अपनी अखंडता को खंडित नहीं होने दिया। भारत की राष्ट्रीयता का आधार सांस्कृतिक एकता ही रही है। मोहम्मद इकबाल ने ठीक ही कहा था कि-"*कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी, सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा*" ऐसा नहीं है कि यह स्वाधीनता की भावना पहली बार आयी थी। पूर्व में भी विदेशी दासता के विरुद्ध संघर्ष होते रहें हैं। यह जरूर है कि ब्रिटिश समय में यह संघर्ष एक नए रूप में था, क्योंकि उस समय प्रेस-प्रकाशन और यातायात के साधनों की समुचित शुरुआत हो चुकी थी। सन् 1857 के विद्रोह की विफलता से सबक लेते हुए बंदूक-तलवार की जगह कलम का सहारा लिया गया। लगभग सभी भारतीय भाषाओं में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। जिसमें हिन्दू-मुस्लिम दोनों की सामान रूप से भागीदारी थी। ऐसे ही समय में हिंदी साहित्य में भारतेंदु और उनके मंडल के रचनाकारों का आना हिंदी के लिए एक युगांतकारी घटना है।

भारतेंदु युग के कवियों ने जहाँ एक ओर भारतीय इतिहास के गौरवशाली घटनाओं का स्मरण दिलाकर देशप्रेम का एक नया स्वर दिया, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजों की न्यायप्रियता, संगठन शक्ति, प्रजातंत्र में आस्था, शिक्षा आदि कार्यों की प्रशंसा के बावजूद उन्होंने अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों का लगातार विरोध किया। देश के उद्योग-धंधों की अवनति, आर्थिक शोषण, करों का निरंतर बोझ आदि मुद्दों पर उन्होंने जनता के दु:ख-दर्द को अपनी कलम से स्वर दिया और क्षेत्रीयता से उठकर राष्ट्र के नवजागरण के गीत लिखे। *'हमारा उत्तर भारत देश'-राधाचरण गोस्वामी, 'जय-जय भारत भूमि भवानी' बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जननी हमें सीख अब दीजै'-राधाकृष्ण दास, 'जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द'-श्रीधर पाठक, 'वन्दे जनहित करी मातरम् वंदे' राय देवी प्रसाद पूर्ण* आदि कवियों की पक्तियाँ उक्त तथ्य को रेखांकित करती हैं। भारतेंदु मंडल के लगभग सभी कवियों ने अपने लेखन में ब्रिटिश शासन की शोषक नीतियों की भर्त्सना की है। यही उद्घोष बाद के कवियों में भी दिखाई देता है। मैथिलीशरण गुप्त ने भारतवासियों के स्वर्णिम अतीत को याद करते हुए उनके वर्तमान और भविष्य के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए लिखा है- *"हम क्या थे, क्या हैं, और क्या होंगे अभी, आओ विचारे*

✡ सहायक प्राध्यापक, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, ईमेल : mauryahcu@gmail.com

मिलकर ये समस्याएँ सभी" इसी तरह उन्होंने अपनी 'भारत-भारती' पुस्तक में लिखा है- *"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है। वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक सामान है।"*

तत्कालीन समय की मांग के अनुरूप काव्य एक ऐसा माध्यम था जिससे सामान्य जन तक अपनी बात को सरलता से पहुँचाया जा सके। उस समय के अधिकांश रचनाकारों में स्वाधीनता की भावना किसी न किसी रूप में व्यक्त हुई है। स्वाधीनता की यह भावना जनमानस के लोक गीतों में मौजूद रही, जिसकी हनक सत्ता के गलियारों में गूंजती रही। ब्रिट्रिश सरकार ने न जाने कितने गीतों और कविताओं को प्रतिबंधित कर दिया। लेकिन लोक में रचे-बसे जाने वालों गीतों पर ब्रिटिश सरकार अंकुश लगाने में असफल रहीद्य 23 मार्च, 1918 ई. को 'अभ्युदय' साप्ताहिक पत्र में एक लोकगीत प्रकाशित हुआ था जिसमें सामान्य किसानों के दु:ख-दर्द का चित्रण है-

"पकरि पकरि बेगार करावत पैसा-कौड़ी देहिं न एक,
छुद्र कर्मचारी ललपग्गा देहिं किसानन कष्ट अनेक।"[1]

उक्त पंक्तियों से मालूम होता है कि उत्तर भारत में 'बेगार प्रथा' अपने चरम पर थी। मूल्य चुकाए बिना श्रम कराने की प्रथा को बेगार कहते हैं। इसमें श्रमिकों की इच्छा के बिना काम लिया जाता था। सामंती, साम्राज्यवादी और अफसरशाही प्राय: समाज के कमजोर लोगों से बेगार करवाते थे। ब्रिटिशकालीन भारत में तो यह आम बात थी। यह प्रथा अंग्रेजों के खिलाफ आम जनता के असंतोष की एक बड़ी वजह थी। किसानों के शोषण में स्थानीय जमींदारों की भूमिका प्रमुख थी, क्योंकि वही ब्रिटिश सरकार के नुमाइंदे हुआ करते थे और किसानों से मनचाहा 'कर' वसूलते थे। संवत् 1953-54 (1896-97) में पड़े अकाल पर एक आल्हा 'हिंदी प्रदीप' में छपा था जिसका सम्पादन बालकृष्ण भट्ट कर रहे थे-

संवत् उनइस सौ तिरपन माँ पड़ा हिन्द में महा अकाल
घर-घर फाके होने लगे दर-दर प्रानी फिरैं बेहाल।
गेहूं चावल सावां मकरा सबै अन्न एक भाव बिकाय,
बिन पैसा सब छाती पीटैं अब तो हाय रहा नहिं जाय।
कोई पात पेड़न के चाबै कोई माटी कोई घास चबाय,
कोई बेटवा बिटिया बेचै अब तक भूख सही नहिं जाय।
कोई घर-घर भीखौ माँगैं कोई लूट पाट के खाय....."[2]

यह वह समय था जब खेती के लिए आज जैसी सुविधाएँ नहीं थीं। किसान पूरी तरह से वर्षा पर निर्भर था। अन्य स्रोत में कुएं और तालाब ही थे जिससे फसल की सिंचाई होती थी। उक्त आल्हा में अकाल की विभीषिका का चित्रण हुआ है। यह जरूर है कि आल्हा में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन होता है लेकिन फिर भी उसमें यथार्थ तो होता ही है। 'हिंदी प्रदीप' जैसी पत्रिका जनता के दु:ख दर्द का मुख्य स्वर थी। इसी तरह 23 मार्च, 1918 ई. के साप्ताहिक पत्र 'अभ्युदय' में एक दूसरी कविता मिलती है, जिसमें किसान संगठन का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश कौंसिल में जमींदार प्रतिनिधि की ही तरह पद लेना है।

"जमींदार प्रतिनिधि कौसिलमहं
आवत जौन नीति-आधार
कृषक समाजनहु के प्रतिनिधि
उहैं भांति आवहिं सरकार।"[3]

यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि किसान प्रतिनिधि मुख्य रूप से उस क्षेत्र के भू-स्वामी हुआ करते थे।

ये लोग अपने स्वार्थ के लिए छोटे किसानों का उपयोग करते थे उनसे उपहार भी लेते थे। किसान सभा की बैठकों में ज्यादातर जमींदार ही भाग लेते थे और अपने हित में काम करते थे। अवध क्षेत्र में हुए किसान आंदोलन इसी सब का परिणाम था। अवध क्षेत्र में किसानों के ऊपर अंग्रेज परस्त तालुकेदारों का दमन जब अपने चरम पर था तब वहाँ के किसानों ने विद्रोह किया था जिसमें कई पुलिस वाले मारे गये थे इस विद्रोह के नायकों में सालिगराम और रामअवतार का नाम प्रमुखता से लिया जाता हैद्य वहां के लोक गीतों उस विद्रोह की गूँज आज भी मौजूद है-

"कहत कथा सेहगों बाजार की, सुनो सबै चित लाई,
मुखिया सरजू प्रसाद ने फिर डंका दीन बजाई।...
यह गति देखि तालुकेदार ने सभा क लीं बोलाई,
फाटक पर भेजि फिरंगी, दंगा दीन कराई।
दंगा सुनि कै आई कलेक्टर छाती पीट घोराई,
जै सुत हमरा दूध पियो तुम, दियौ फिरंगी गिराई।
इतना सुनि रामअवतार उठि धायो कुंदा लीन छिनाई,
वही कुंदा से मारि फिरंगी, धरती दीन गिराई।...
ता पाछे कप्तान आ गयो, सारी जाँच कराई,
सालिकराम, अवतार बँधायो, दीन्ह हथकड़ी डराई।
एक बरस तक चला मुकदमा फाँसी हुकुम होई जाई,
कहें दुलारे सुनौ सब भाई, अन्तिम कथा सुनाई।।"[4]

इस तरह के लोकगीत उस समय (असहयोग आंदोलन) अवध प्रान्त में खूब रचे गये, क्योंकि यह क्षेत्र विद्रोह का मुख्य केंद्र बना हुआ था। इसमें समाज के निम्नवर्ग के किसान थे जो जाति व्यवस्था में निचले पायदान पर आते हैं। 'चौरी चौरा का विद्रोह' भी तो मूलतः किसान विद्रोह ही था। जिसको इतिहास में उचित महत्व नहीं दिया गया। इस सन्दर्भ में उस समय की महत्वपूर्ण राजनीतिक पार्टी कांग्रेस की ढुलमुल रवैये को भी देखा जा सकता है। उस क्षेत्र में कांग्रेस परस्त जमींदार विद्रोह को दबाने के लिए किस तरह से 'अमन सभाओं' का आयोजन करते थे। यह अकारण नहीं हो सकता कि कांग्रेस के किसी भी शीर्ष नेतृत्व ने किसानों के शोषण के विरुद्ध कभी भी आवाज नहीं उठायी। कांग्रेस के धन का मुख्य स्रोत स्थानीय जमींदार ही तो थे। इतिहासकार सुभाषचन्द्र कुशवाहा ने ठीक लिखा है कि "यह घटना मुख्यतः तालुकेदारों के दमन के प्रतिकार में गरीब किसानों का विद्रोह था। इस विद्रोह के नायकों, सालिगराम और रामअवतार को, जिन्हें बाद में गिरफ्तार कर लिया गया था, के पक्ष में आसपास की जनता ने पूरा सहयोग दिया था। महिलाएँ अपने घर की छतों से ईंट-पत्थर उठा-उठाकर पुलिस पर फेंक रही थीं।"[5] ब्रिटिश सरकार इस तरह के विद्रोह को बर्बरतापूर्वक दबाने के लिए स्थानीय जमींदारों की मदद लेती थी। असहयोग आन्दोलन के समय अनगिनत किसान विद्रोह हुए। चौरी चौरा के विद्रोह में फांसी पाने वाले सभी विद्रोही वंचित समाज से थे। शायद इसलिए उनकी ठीक से पैरवी नहीं हुई। चौरी चौरा के बागियों में कोमल का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। वहाँ के लोकगीतों में कोमल की वीरता का उल्लेख मिलता है-

"साथी गद्दार हो गइले, गोरा दिहले रुपइया हो,
कुसम्ही जंगल में पकड़इले कोमल भइया हो।
देश में केतना गोरा अइहें, केतना कोमल झुलिहें फंसिया,
माई रहबू ना गुलाम, ना बहइबू अंसुआ।"[6]

कहना न होगा कि आजादी के आन्दोलन में जनता के संघर्ष को जानबूझकर भुलाने की कोशिश की जाती रही है। इन आंदोलनों को व्यक्ति केन्द्रित करके देखा गया और सारा श्रेय किसी व्यक्ति-विशेष या उसकी राजनीतिक पार्टी को जाता रहा। लेकिन इतिहास को अधिक दिनों तक दबाकर नहीं रखा जा सकता। कभी न कभी उसे बाहर आना ही होता है। भारत का स्वाधीनता आंदोलन जमींदारों की गद्दारी से भरा हुआ है। चौरी चौरा के विद्रोह को दबाने के लिए वहाँ के जमींदारों ने अंग्रेजों का न केवल साथ दिया बल्कि विद्रोहियों को पकड़वाया भी। सुभाषचन्द्र कुशवाहा ने ठीक लिखा है कि "अंग्रेजों से कहीं ज्यादा बेरहमी से पेश आने वाले हिंसक जमींदारों को हिंसा के विरूद्ध, अहिंसा के पुजारियों ने कभी कोई आवाज नहीं उठाई, उलटे उनकों संरक्षण प्रदान कियाद्य स्वयंसेवकों की भर्ती से लेकर आजादी की लड़ाई का नेतृत्व अपनी गिरफ्त में रखने और क्रन्तिकारी उभारों को हाशिये पर धकलने में इन्हीं जमींदारों ने बढ़-चढ़ कर रुचि दिखाई थीद्य...चौरी चौरा के हिंसक विद्रोह को 'गुंडों का कृत्व' बताने वाले अहिंसा के पुजारी भी 1942 तक आते-आते 'करो या मरो' तक जा पहुंचते हैं तो सिर्फ इसलिए कि औपनिवेशिक सत्ता को उखाड़ने के लिए बलिदान की जरूरत थी।"[7] जनता के संघर्षों को कितना भी नजरांदाज किया जाय लेकिन लोक उसे सदैव जीवित रहता है।

"गोरखपुर में सुना,चौरी चौरा ग्राम।
बिगड़ी पब्लिक एक दम, रोकि न सके लगाम। -दोहा
भड़के लोग गाँव के सारे,
दई थाने में आग लगाय।
काट गिराया थानेदार को,
गई खबर हिन्द में छाय।
अनुमान लगाया कुछ लोगों ने,
अग्नि कहीं भड़क न जय,
खबर सुनी जब गाँधी जी ने,
दहशत गई बदन में छाय।
फैली अशांति कुछ भारत में,
आंदोलन को दिया थमाय।
सोचा कुछ हो शायद उनसे,
गलती गए यहाँ पर खाय।
मौका मिली फेरि गोरों को
दीनी यहाँ फूट कराय।
भड़के लोग गाँव के सारे,
दई थाने में आग लगाय।....
खबर सुनी जब गाँधी जी ने,
दहशत गई बदन में छाय।
फैली अशांति कुछ भारत में,
आन्दोलन को दिया थमाय।"[8]

उक्त गीत का उल्लेख सुभाषचन्द्र कुशवाहा की चौरी चौरा पुस्तक में किया है। जिसमें वह बताते हैं कि यह गीत 1931 में बुलंदशहर के रहने वाले पी.एस.वर्मा ने लिखा था। जो ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिबंधित पुस्तक 'गाँधी की लड़ाई उर्फ सत्याग्रह' में संकलित है। उस समय के गीत आज भी कुछ क्षेत्रों में गाये जाते हैं। गोरखपुर

जिला के डुमरी खुर्द गाँव में मुहर्रम के अवसर पर गाया जाना वाला एक गीत है-

"गाँधी बाबा आंधी उठवले, देश में मचल सोरवा
बिकरम, नजर झंडा उठवले घूमले चहूँ ओरवा
गउंवा-गउंवा वोटियर बनवले मांगी के चुटकिया
गउंवा-गउंवा चिट्टी भेजवले, डुमरी में सभा होई।।"[9]

यह स्पष्ट है कि स्वाधीनता आंदोलन की लड़ाई में जनता की भागीदारी बढ़-चढ़कर थी और इन्हीं के बीच से इनके नायक पैदा हुए लेकिन उनके संघर्ष को 'गुंडों का कृत्य' कहकर नकारने की लगातार कोशिश होती रही। सुखद यह है इतिहास को इन्हीं 'गुंडों' की नई पीढ़ी दुरुस्त करने का काम कर रहे है। उस दौर की प्रतिबंधित कविताओं की एक पुस्तक 'स्वतंत्रता की लहर' जिसके संग्रहकर्ता तथा प्रकाशक ठाकुर प्रसाद बुकसेलर, मिर्जापुर सिटी का उल्लेख करना जरुरी है। जिसकी जब्त प्रतियाँ आज भी राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में मौजूद हैं। इस पुस्तक में उन काव्य गीतों को देखा सकते हैं जो जन में लोकप्रिय थे-

"भारत को गारत कर डाला इन लाल मुरेठा वालों ने।
हम सबकी शान मिटा डाला इन लाल मुरेठा वालों ने।।
जिस कुल में जन्म लिया इनने उन्हीं के सर डंडे मारे।
जैचंद सरिस कुल दल डाला इन लाल मुरेठा वालों ने।।"[10]

जनता अपने शोषण से भली-भांति परिचित थी। जो भारतीय ब्रिटिश सरकार के लिए पुलिस के रूप में कार्य कर रहे थे उनके प्रति जन में आक्रोश था और इसी आक्रोश की परिणति चौरी चौरा थाने को जलाने के रूप में हुई थी। ऐसा इसलिए था क्योंकि सभी भारतीयों का विद्रोह केवल ब्रिटिश सरकार और उनका साथ देने वाले उन भारतीय जमींदारों से था जिन्होंने अपनी स्वार्थपरता के कारण कितने क्रांतिकारियों को पकड़वाने में जी-जान से कोशिश की थी। बंगाल से निकला 'वन्देमातरम्' गीत पूरे भारतीय जनमानस की आवाज बन जाता है। क्योंकि उस समय सभी अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहे थे।

"हम गरीबों के गले का हार वन्देमातरम्
छीन सकती है नहीं सरकार वन्देमातरम्।।...
जालिमों का जुल्म भी काफूर सा उड़ जायेगा।
फैसला होगा सरे दरबार वन्देमातरम्।।"[11]

एक गीत है- "हम फरियाद हुए" जिसमें लेखक ने गोरों की उन नीतियों को रेखांकित किया जिसके कारण हम याचक की कोटि में आ गये हैं-

"भारतवासी बचाओं हम फरियाद हुए।
मुमकिन बचाओं सभी इरसाद भी हुए।।...
मुसलिम से कहा गाय की कुरबानी तुम करो।
हिन्दू से कहा चुप क्यों हो जल्दी से लड़ मरो।
फरमाया पुलिस वालों से कि इन दोनों को धरो।
मुद्दत से जेल खाली है इन दोनों को भरो।
सरकार की इन चालों से बरबाद हम हुए।
ये सब हुए पर एक ना आजाद हम हुए ।।"[12]

उक्त गीत में अंग्रेजों की विभाजन नीति का बड़ा सटीक चित्रण हुआ है। यह नीति आज भी उसी रूप

में जीवित है। आजादी का ताना-बाना किसी एक वर्ग, अथवा व्यक्ति विशेष से नहीं बुना गया था बल्कि उसमें उन हजारों-लाखों लोगों की भी कुर्बानियां हैं जिसको इतिहास के पन्नों में जाने-अनजाने दफन कर दिया गया। यह सही है कि जनमानस में गाँधी जी की छवि किसी चमत्कारी पुरुष के रूप में थी। असहयोग आंदोलन के समय गाँधी जी के आह्वान पर विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया गया और खद्दर के निर्माण पर जोर दिया गया। "बचायेगा खद्दर" नाम से एक गीत है जिसमें असहयोग आंदोलन की अनगूंज मिलती है।

"वतन की गुलामी छुड़ाएगा खद्दर।
गरीबों की इज्जत बचायेगा खद्दर ।।...
कहे गाँधी बाबा जो पहनोगे खद्दर।
तो शीघ्र स्वराज्य दिलायेगा खद्दर ।।
ढका लंका शायर मरां मैन चेस्टर।
विदेशी की धज्जी उड़ाएगा खद्दर।।"[13]

यह समय स्वाधीनता आंदोलन के नायकों का था जिनको आजादी का प्रेरणास्रोत बनाया गयाद्य गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस, भगत सिंह आदि के ऊपर अनगिनत गीत रचे गये जो जनमानस में आज भी जीवित हैं। भगत सिंह पर लिखा गया एक गीत है-

"आजादी का दीवाना है मस्ताना भगत सिंह।
बम केश में पकड़ाना ये दीवाना भगत सिंह।।
आलम की एक सान है मस्ताना भगत सिंह।
हम बागी का अरमान है दीवाना भगत सिंह।"[14]

ब्रिटिश सरकार स्वाधीनता आंदोलन को कुचलने के लिए हर तरीका अपनायाद्य बलिया में चार अगस्त,1930 को जुलूस के ऊपर गोली चलाई गई थी जिसका उल्लेख एक गजल में मिलता है-

शहर बलिया में गोली चलाई गई।
अत्याचार की धूम मचाई गई।।
सन् तीस चार अगस्त का यह हाल सुन लीजिये।
महावीर दल जुलूस है अब इसको जाने दीजिये।।
दफा एक सौ चालीस लगाई गई।

देवेश चन्द्र ठीक लिखा है कि "इन गीतों की न कहीं 'खेती' की गई न कहीं 'योजनाएं' बनाई गई। न जाने कितने भजनोपदेशक स्वतंत्रता संग्राम से आ जुड़े। प्रभात फेरियां निकलती जैसे-उठो सोने वालों सबेरा हुआ है, वतन के फकीरों का फेरा हुआ है। विवाहादि के अवसर पर गए जाने वाले गीत भी राष्ट्रीय भावना से रंग उठे। जब छोटी-छोटी सस्ती पुस्तिकाएँ छापकर इन गीतों का प्रचार होने लगा तब ब्रिटिश सरकार ने स्वतंत्रता आंदोलन को दबाने के लिए जो अनेक उपाय किए उनमें प्रमुख था इंडियन प्रेस (इमरजेंसी पावर्स) एक्ट 1931 की धारा 19 के अधीन क्रांतिकारी साहित्य के प्रकाशन और प्रचार पर प्रतिबंध। यह प्रतिबंध पहले भी था लेकिन बाद में यह कानून बना दिया गया। जो गीत-पुस्तिकाएँ आदि सरकार की नजरों से बच न सकीं उन्हें जब्त कर लिया गया"[15]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि स्वाधीनता आंदोलन की लहर जनमानस में उनके गीतों के माध्यम से आई। यह वह दौर था जब भारत का अधिकांश क्षेत्र शिक्षा से वंचित था। ऐसे में शीर्ष नेतृत्व के विचार गीतों के रूप में जनता तक पहुँचते थे। अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद भी ब्रिटिश सरकार उन लोकगीतों पर अंकुश

लगाने में सफल नहीं रही। लेकिन उसने उन पुस्तकों को प्रतिबंधित कर दिया जिनमें स्वाधीनता आंदोलन की अनगूंज थी। ऐसी कई पुस्तकें आज भी राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में मौजूद हैं।

सन्दर्भ :

1. सुभाषचंद्र कुशवाहा, अवध का किसान विद्रोह, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2018, पृ. 39
2. वही, पृ. 46
3. वही, पृ. 62
4. वही, पृ. 178
5. वही, पृ. 177
6. सुभाषचन्द्र कुशवाहा, चौरी चौरा, पेंगुइन बुक्स इंडिया प्रा.लि., सं. 2014, पृ. 96
7. वही, पृ. 289
8. वही, पृ. 290-291
9. वही, पृ. 298
10. प्रतिबंधित कविताएँ, स्वतंत्रता की लहर, संग्रहकर्ता तथा प्रकाशक, ठाकुर प्रसाद बुकसेलर, मिर्जापुर सिटी।
11. वही।
12. वही।
13. वही।
14. वही।
15. 'स्वतंत्रता आंदोलन के गीत', सम्पादक देवेश चन्द्र, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, सं.1999, भूमिका से

❖❖❖

आलेख

'मतवाला' मंडल और निराला

❍ राजीव कुमार✡

26 अगस्त सन् 1923 ई. को मतवाला का पहला अंक प्रकाशित हुआ। इसके मख्य पृष्ठ पर दो कविताएँ छपीं, दोनों ही 'रक्षा बन्धन' पर पहली के लेखक पुराने महारथी, दूसरी के 'निराला'। डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं, " 'मतवाला' के सम पर 'निराला' नाम रख दिया गया था, किसी विशेष विचार से नहीं 'पुराने महारथी' की तरह यह भी एक नाम था। लेखक थोड़े थे, उन्हीं को पूरे अंक की सामग्री तैयार करनी थी। सूर्यकान्त ने कसौटी स्तम्भ में आलोचना लिखी, नाम दिया- 'हथियार'। 'मतवाले की चाबुक लिखी, लेखक का नाम दिया - श्रीमान गरगज सिंह वर्मा, साहित्यशादूल। एक कहानी लिखी - 'क्या देखा?', लेखक का नाम दिया जनाबआली। ग्यारहवें अंक में 'देवी ! कौन वह ?' काफी गहरे रंग की छायावादी कविता छपी पर इसके साथ सूर्यकान्त ने नाम दिया- 'शौहर'। इन तमाम छद्मनामों में एक नाम था 'निराला'। शिवपूजन सहाय, नवजादिकलाल आदि अन्य लेखक भी साधारण : छद्मनाम से ही लिखते थे। जहाँ तीन से तेरह लेखकों का काम लेना हो - यह दिखाने के लिए कि पत्र को बहुत-से लेखकों का सहयोग प्राप्त है - वहाँ छद्मनामों के बिना काम चल ही न सकता था। 'निराला' कवि के उपनाम से अधिक छद्मनाम था।....पर कुछ ही अंकों के बाद 'निराला' की अपनी शैली निखर उठी। कवित्त और गीत - रचना की पद्धति को छोड़कर वह तुकान्त मात्रिक मुक्तछन्द में कविताएँ लिखने लगे। ये रचनाएँ कविता प्रेमियों को बहुत पसन्द आई और सूर्यकान्त ने तय किया कि अब असली रूप में प्रकट हो जाना चाहिए। 'जूही की कली' के साथ उन्होंने पूरा नाम प्रकाशित कर दिया। 'निराला' अब छद्मनाम न होकर उनका उपनाम हो गया।"[1]

वास्तव में 'मतवाला' मानों निराला की विरोधों से दबी प्रतिभा के विकास के लिए ही प्रकाशित किया गया था। 'परिमल' की अधिकांश रचनाएँ 'मतवाला' से ही संगृहीत हैं। इनके मुक्त-छन्दों को पत्रों में छपा देख लोगों ने प्रबल विरोध करना प्रारम्भ किया। बावजूद डॉ० रामविलास शर्मा लिखते हैं, "मतवाला की ग्राहक संख्या बढ़ रही थी, इसके साथ निराला की ख्याति चारों ओर फैल रही थी पर इससे उन्हें सन्तोष नहीं था। 'मतवाला' आखिर हास्यरस का पत्र था; गम्भीर साहित्यिक पत्रिकाएँ तो 'सरस्वती' और 'माधुरी' थीं। इनमें 'माधुरी' ने तो निराला की दो-एक कविताएँ छापी भी थीं, पर 'सरस्वती' का दरवाजा उनके लिए बन्द था। 'मतवाला' में उन्होंने 'सरस्वती' और 'माधुरी' के सम्पादकों की कटु आलोचना शुरू की।"[2]

इतना तो स्पष्ट है कि निराला मुक्त-छन्द के द्वारा हिन्दी में एक नवीन शैली लेकर आए। इस प्रकार हिंदी

✡ सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, बहरागोड़ा कॉलेज बहरागोड़ा

के काव्य-क्षेत्र में इन्होंने क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की चेष्टा की, उसका जोरदार विरोध हुआ। लेकिन निराला अपनी सशक्त प्रतिभा के बल पर विरोधियों की समस्त बौछारों को सहते हुए तेज गति से आगे बढ़ते गए। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है- "छायावाद' शब्द अब काफी प्रसिद्ध हो चुका था। निराला ने जहाँ किसी को नयी कविता की नुक्ता चीनी करते पाया कि उस पर दुहत्या वार किया। लतीफे और चुटकुले उन्हें खूब याद थे। इनका उपयोग बड़े कौशल से करते थे। किन्हीं स्वामी नारायणानन्द सरस्वती ने छायावादी कविता का मजाक उड़ाया था। निराला ने उन्हें आड़े हाथों लिया, 'छायावाद' पर आपने जो कुछ लिखा है, उसे पढ़कर हमें एक देहाती कहावत याद आ गयी। किसी लड़के ने अपने पिता से कहा था, बाबूजी मैं भी 'फफीम खाऊँगा। पिता ने जबाव दिया, बेटा, पहले नाम सीख लो फिर 'फफीम' खाना।"[3] डॉ. शर्मा आगे लिखते हैं- "निराला की निगाह इस समय हिन्दी की हर प्रसिद्ध पत्रिका पर थी। कहाँ क्या निकला, छायावाद के पक्ष में क्या लिखा गया, विरोध में क्या, यह सब कुशल नेता की तरह वे चौकन्ने होकर देखते थे। प्रसाद वाद-विवाद से दूर रहते थे। पन्त अभी उभर रहे थे। गद्य वैसे भी न लिखते थे। केवल 'निराला' ललकार-ललकार कर शत्रुओं का वध करने में लगे थे। पर जो साहित्य की सेवा कर रहे थे अथवा नयी कविता को सहानुभूति की दृष्टि से देखते थे, उनके प्रति वह आदर और स्नेह भी प्रकट करते थे।"[4]

'सरस्वती' में निराला जी की कविताएँ नहीं छपी थी और पंत की छप चुकी थी। बावजूद वे कवि पर कोई प्रत्यालोचना नहीं करते बल्कि उसे प्रोत्साहन देते हैं। उन्होंने लेख लिखा 'कविवर श्री सुमित्रानंदन पंत'। 'वह हिन्दी में पंत जी पर लिखा पहला प्रशंसात्मक लेख था।' लेख 3 मई, 1924 के 'मतवाला' में प्रकाशित हुआ था। आरंभ में उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त की चार पंक्तियाँ उद्धृत कीं -

'मग्न बने रहते हैं मोद में विनोद में,
क्रीड़ा करते हैं कल-कल्पना की गोद में,
सारदा के मन्दिर में सुमन चढ़ाते हैं,
प्रेम का ही पुण्य पाठ सबको पढ़ाते हैं।'

यह उद्धरण दिया केवल बड़ों के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए। लेख में हीं इस बात की झलक भी न आने दी कि मैथिलीशरण गुप्त ने भी खड़ी बोली में अच्छी कविता की है। कवि की प्रशंसा के कई उपमान सजाने के बाद उन्होंने 'ठोके-पीटे कवियों की गढ़ी हुई कविताओं' की निन्दा की और उन सहज कवियों की प्रशंसा की जो प्रकृति का अद्‌भुत चमत्कार है। आधुनिक हिन्दी कविता पर उन्होंने यह राय जाहिर की, 'हिन्दी में जब से खड़ी बोली की कविता का प्रचार हुआ तब से आज तक उसमें स्वाभाविक कवि का अभाव ही था।' यह मैथिलीशरण आदि प्रसिद्ध कवियों पर आक्रमण था। ठीक है, 'उन्होंने साहित्य सेवा की, पर वे निराला की निगाह में साहित्य का पौधा सींचने वाले माली थे; उसके फूल नहीं। बेशक खड़ी बोली के प्रचारकों और कवियों ने बहुत गालियाँ खाई पर पौधे में फूल समय पर ही आते हैं। खड़ी बोली का स्वाभाविक कवि अब इतने दिनों बाद आया है और हिन्दी का वह गौरव-कुसुम श्री सुमित्रानंदन पंत हैं।' पंत इस पर फूल न उठें, अंहकार में पथभ्रष्ट न हो जायें, इसलिए उन्होंने उन्हें सावधान भी कर दिया, 'यह कुसुम अभी पूर्ण विकसित नहीं हुआ, हाँ पंखुड़ियाँ खोलने लगा है। इसके परागों में सुरभि की अभी मादकता नहीं कि रास्ते का हर पथिक सुगन्ध से खिंचकर बाग में आ जाय। अभी दो ही चार भौरे उसके अर्द्ध विकास की रागिनी गाने लगे हैं। अन्त में उनके मंगलमय भविष्य के लिए शुभकामना व्यक्त करते हुए लिखा, "खड़ी बोली में प्रथम सफल कविता आप ही कर सकते हैं। आपसे हिन्दी को बहुत कुछ आशा है। प्रार्थना है, हमारे इस अधखिले फूल (पर) परमात्मा की शुभ दृष्टि रहे। इसका परागमय जीवन उनके विराट रूप की ही सेवा के लिए है।"[5]

इस प्रकार निराला जी अपने आलोचनात्मक निबन्धों में खड़ी-बोली, मुक्त-छंद और छायावादी आंदोलन को

आगे बढ़ाने में मुख्य भूमिका अदा की। डॉ. शर्मा इस पर लक्ष्य करते हुए लिखते हैं षनिराला जो आलोचनात्मक निबंध लिख रहे थे, वे छायावादी आंदोलन को आगे बढ़ाने और उसे शक्ति प्रदान करने वाले थे। तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ, बिहारी, पन्त आदि पर अब तक उन्होंने जो कुछ लिखा था, उससे उनकी गहरी पैठ का पता चलता था। छायावादी कवियों में अभी किसी ने आलोचना के क्षेत्र में ऐसी पैनी सूझबूझ का परिचय न दिया था। अपने नाम से भाषा, साहित्य और दर्शन पर लिखे हुए उनके लेखों के अलावा उन्होंने दूसरें नामों से या कोई नाम दिये बिना ही इन विषयों पर बहुत-सी टिप्पणियाँ लिखीं। 'सरस्वती' और 'माधुरी' की तीखी आलोचना के पीछे व्यक्तिगत कारण अवश्य थे; फिर भी यह आलोचना लेखकों को भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के बारे में सतर्क करनेवाली, द्विवेदी-परम्परा की अगली कड़ी थी। निराला की कविता के साथ ही छायावादी आलोचना का भी जन्म हुआ। निराला के हाथ में आलोचना एक अस्त्र थी जिससे एक तरफ वह विरोधी चिन्तन को छिन्न-भिन्न करते थे, दूसरी ओर नवीन विचारधारा और भावबोध को प्रतिष्ठित करते थे। अपने साहित्यिक कार्यक्रम में निराला ने गद्य को उतना ही महत्व दिया था जितना पद्य को। 'समन्वय' में उन्होंने लिखा था, 'कविता की भाषा से मनोरंजन तो होता है परन्तु वह जीवन-संग्राम के काम की नहीं होती। जीवन और साहित्य के संघर्ष में गद्य बड़े काम का है, निराला अपने व्यवहार से सिद्ध कर रहे थे।"[6, 10]

छायावादी उत्थान के साथ कवियों ने रीतिकालीन कवियों के छंदों की एकांगिकता और विचारों की संकीर्णता के प्रति खुलकर विद्रोह किया। छंद भाषा, भावाभिव्यंजन की प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। अंग्रेजी के (ब्लैकवर्स) अतुकांत छंद और बँगला के अमित्र छंद के आधार पर हिन्दी में अतुकांत छंदों का प्रचलन हुआ। प्रसाद, रूपनारायण पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त इत्यादि कवियों ने अपने ढंग से इनके सफल प्रयोग किए। छायावाद के प्रमुख कवि निराला और पंत ने भावों की संप्रेषणशीलता के अनुकूल छंदों में परिवर्तन स्वीकार किया। उसे हम स्वच्छंद छंद कह सकते हैं। पंत की 'उच्छवास', 'आँसू' और 'परिवर्तन' नामक कविताओं में भावों के अनुकूल मात्राओं में कमी-वेशी की गई है। निराला की इस प्रकार की कविताएँ-'परिमल के दूसरे खंड में संगृहीत हैं। इस तरह के छन्द -

"माँ, मुझे वहाँ तू ले चल।
देखूँगा वह द्वार
दिवस का पार मूर्च्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार।"[7] (आग्रह - कविता)

इसमें तुकों को न कोई नियम है और न चरणों में नियत मात्रा का आग्रह। स्वच्छंदता का सौन्दर्य सहज रूप में देखने योग्य है। कविता के छंद-बंधन से मुक्त हो जाने की आवश्यकता पर जोर देते हुए 'परिमल' की भूमिका में वे लिखते हैं- "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्म के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना है। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह दूसरों के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं, फिर भी स्वतंत्र इसी तरह कविता का भी हाल है।"[8] भावों की मुक्ति के लिए छंदों की मुक्ति निराला ने आवश्यक समझी है। प्रवाह और गति की दृष्टि से साधारण छंदों की अपेक्षा मुक्तछंद अधिक स्वाभाविक सिद्ध होता है। छंदों की वंदिश की रक्षा के लिए प्रवाह और गति की अवहेलना करनी पड़ती है। कभी-कभी व्याकरण के प्रतिकूल प्रयोग करना पड़ता है। तुक मिलाने के लिए शब्दों के रूप बिगाड़ने पड़ते हैं। मुक्तछंद में इस तरह का कोई बंधन नहीं है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मुक्तछंद अत्यंत सरल है और कोई आँखें मूंदकर इसे लिख सकता है। इसकी मुक्ति सापेक्षता की सीमा में बँधी हुई है। जिस प्रकार छंदोबद्ध कविताओं में गति-लय विशेष ध्यान दिया जाता है उसी प्रकार मुक्तछंद इन बंधनों से बंधा है, छंदोबद्ध रचनाएँ लय और संगीत से रहित

भी हो सकती है; पर मुक्तछंद नहीं हो सकती। 'परिमल' की भूमिका में ही वे लिखते हैं "उसमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छंद-सा जान पड़ता है। मुक्तछंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे सिद्ध करता है और उसका नियम-साहित्य उसकी मुक्ति।

"विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी
नेह-स्वप्न-मग्न अमल कोमल तनु तरूणी
जुही की कली
दृग बन्द किये-शिथिल-पत्रांक में।"[9]

इसलिए वह मुक्त भी है और छंद भी। इसकी बाह्य सरलता को लक्ष्य कर बहुतों ने इस दिशा में प्रयोग किए, किन्तु उन्हें उतनी सफलता नहीं मिली। बावजूद प्रारंभ में निराला के मुक्तछंद को लेकर हिंदी में बड़ा वितंडावाद चला। लोगों ने इसे 'रबड़ छंद' और 'केचुआ छंद' के नाम से पुकारा, उनपर तरह-तरह के व्यंग्य किए गए, जैसे-

पिंगल जाल भाव शत्रु हैं, इनको गोली मार।
करो धड़ाधड़ रबड़ छंद में, कविता का विस्तार।।

डॉ० रामविलास शर्मा इलाहाबाद से छपने वाली 'मनोरमा' पत्रिका में निराला की आलोचना का जिक्र करते हुए लिखते हैं- "प्रयाग से एक पत्रिका निकली थी 'मनोरमा'। उसने एक संपादकीय नोट लिखा, 'हिन्दी कविता की गति'। इस नोट में हिन्दी कविता को बंगला और अंग्रेजी की नकल बताया गया। 'जिन दिशाओं से यह नूतन लालिमा दृष्टिगोचर हो रही है वह बंगला और अंग्रेजी हैं....हमारे अधिकांश परिवर्तनवादी कवि बँगला के उत्कृष्ट कवियों की प्रतिभा से प्रतिभा-युक्त, तपस्या से तपस्वी और साधना से साधन बन रहे हैं।' इस आलोचना का लक्ष्य निराला थे, यह इस बात से स्पष्ट हो गया कि नोट में निराला की कविता 'सिर्फ एक उन्माद' से उद्धरण दिया गया था। और भी स्पष्ट से निराला और 'मतवाला' का मजाक उड़ाते हुए 'मनोरमा' में कविता छपी- 'भंगी की मौज'। इसमें कहा गया था -

"ब्रजभाषा कविता उन्मूलन, जिस प्रकार सत्वर हो जाय।
बजे हमारी विजय-दुन्दुभी, नव प्रतिभा-महिमा अधिकाय।
टाँग तोड़ने में कविता की, मैं भी सुभट निराला हूँ।
मित्र सदा मैं भंग-रंग में, मग्न हुआ मतवाला हूँ।"[10]

प्रत्युत्तर में 'मतवाला' की तरफ से भी जबाव आवश्यक हो गयी थी। 'मतवाला मण्डल' से मुंशी नवजादिकलाल ने लेख लिखा 'अन्ध परम्परा'- जिसमें निराला की कविताएँ समझ में नहीं आतीं, यह कहने वाले को उन्होंने समझाया कि "उनके भाव व्यापक, भाषा संयत और व्याकरण सम्मत होती है, थोड़ा ध्यान देने से कविता समझ में आ जाती है। मुक्तछन्द के बारे में लिखा, 'जब कविता का वेग स्वभावत: अबाध गति से निकलता रहता है तब उसकी गति विषम होती जाती है। मुन्शीजी ने निराला की कविता के लिए ऊँचा दावा पेश किया, निरालाजी की कविताएँ उस हिन्दी की सम्पति हैं जो राष्ट्रभाषा होगी। आपके भावों में कहीं भी प्रान्तीयता नहीं है। हिन्दी साहित्य में निराला जी का स्थान कितना ऊँचा है, यह वही समझते जो उनकी कृतियों को ध्यान लगाकर पढ़ते हैं और जो हिन्दी तथा दूसरी भाषाओं के धुरन्धर विद्वान समझे जाते हैं।"[11]

'मतवाला मण्डल' की ओर से मुंशी नवजरिकलाल श्रीवास्तव बार-बार ने प्रार्थना की, "मैं हिन्दी संसार से अनुरोध करता हूँ कि वह 'निराला' जी की मौलिकता में प्रमाण देकर त्रुटि दिखलावें; इससे हिन्दी संसार

का बड़ा लाभ होगा। अन्यथा एक मौलिक और युगप्रर्वतक कवि पर इस तरह आक्षेप करने से लेखक की ही क्षुद्रता प्रमाणित होगी।"[12] साथ ही मुंशी जी ने निराला की गरिमा की घोषणा करते हुए उनके और 'मतवाला मण्डल' के सम्बन्ध पर जोर देते हुए लिखा- "निराला जी क्या हैं, क्या नहीं, उनका स्थान ऊँचा है या नीचा, यह समय खुद जाहिर कर देगा। मैंने उन्हें देखा है, उनकी कवित्वशक्ति और उनकी भावुकता के मुझे यथेष्ट प्रमाण मिल चुके हैं, और ऐसे युगप्रर्वत्तक कवि को प्राप्त करके 'मतवाला' अपने को धन्य समझता है। हम (मैं) पहले भी कह चुका हूँ और अब भी लिखता हूँ कि 'निराला' जी किसी समाज या किसी प्रान्त के कवि नहीं, वे राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रथम महाकवि हैं।"[13]

बहरहाल, निराला ने मुक्तछन्द के लिए आन्दोलन चाहे जितना व्यापक किया हो, लेकिन उनका योगदान छंदोबद्ध रचनाओं में कहीं ज्यादा है। मुक्तछंद के लिए किये गये उनके आंदोलन का वास्तविक लाभ उनके परवर्ती कवियों को मिला, खास तौर से मुक्तिबोध जैसे कवि को, जिसने कवित्त पर आधारित मुक्तछन्द में निराला से भी अधिक महत्त्वपूर्ण कविताएँ लिखीं, मिसाल के लिए 'अँधेरे में'। मुक्तछन्द के किए गये निराला के आंदोलन का प्रगतिशील परिणाम था कि 'अँधेरे में' जैसी कविता जन्म ले सकी।

सन्दर्भ :

1. डॉ. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पृ. 66.
2. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 69
3. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 71-72
4. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 72
5. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 73
6. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 73
7. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 74
8. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', निराला रचनावली, खंड-1, पृ. 127
9. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 425
10. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 41
11. डॉ. रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य साधना, पूर्वोद्धृत, खण्ड-1, पृ. 88
12. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 88
13. वही, पूर्वोद्धृत, पृ. 89

❖❖❖

आलेख

मोहनदास नैमिशराय की कहानियों में दलित जीवन का संघर्ष

❍ प्रीति के.*

मोहनदास नैमिशराय दलित साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनकी कहानियाँ सामंती सामाजिक व्यवस्था की तहें उघाड़ती हैं। येकहानियाँ समाज के जीवंत पात्रों को लेकर लिखी गई हैं जिनमें विचार से लेकर व्यावहारिक पक्ष को बखूबी दर्शाया गया है। नैमिशराय की खसियात है कि वे अपनी कहानियों के माध्यम से ग्रामीण अंचलों में जातिगत और ऊंची जाति के लोगों के सामंती दबदबे को उघाड़ने का काम करते हैं। इनकी कहानियों में जातिवाद और सामंतवाद एक ही सिक्के के दो पहलुओं के तौर पर प्रस्तुत हुए हैं। उनके समग्र व्यक्तित्व पर बाबासाहब अम्बेडकर के विचारों का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। उन्होंने अपने जीवन ही साहित्य सृजन को समर्पित किया है। वे जितने निडर पत्रकार रहे, उतने ही बेबाक और प्रखर साहित्यकार भी। अनुभूति एवं दलित एहसास के साथ लिखी हुई उनकी कहानियाँ दलित संवेदना से भरी हुई हैं। दलित जीवन के भोगे हुए यथार्थ को उन्होंने बड़ी मार्मिकता एवं सजीवता के साथ अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। भाषायी तेवर उनके साहित्य को अलग पहचान देते हैं। उत्कृष्ट सामाजिक एवं साहित्यिक योगदान के लिए डॉ बाबा साहेब अम्बेडकर राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान संस्थान (मध्यप्रदेश), द्वारा उन्हें 2010 में विशेष रूप से सम्मानित किया गया है।

मोहनदास नैमिशराय की प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं : अदालतनामा (1989), हैलो कामरेड (2001) (नाटक) सफदर एक बयान (कविता संग्रह 1989), आवाजें (1978), हमारा जवाब (2005) (कथा संग्रह), क्या मुझे खरीदोगे, मुक्तिपर्व, वीरांगना झलकारी बाई (उपन्यास), अपने अपने पिंजरे (भाग 1, 1995, आत्मकथा), अपने अपने पिंजरे (भाग 2, 2000, आत्मकथा), रंग कितने संग मेरे (भाग 3, आत्मकथा) आदि।

'आवाजें' नैमिशराय का पहला कहानी संग्रह है। जिसमें रूढ़िवादिता को तोड़ने का भरसक प्रयास किया गया है। तेरह कहानियों का यह संग्रह समता प्रकाशन दिल्ली से वर्ष 1998 में प्रकाशित हुआ। इसमें संलग्न कहानियाँ हैं –आवाजें, घायल शहर की एक बस्ती, अपना गांव, हारे हुए लोग, नया पड़ोसी, अधिकार चेतना, गंजा पेड़, बरसात, रीत, उसके जख्म, मैं, शहर और वे, भीड़ में वह, महाशूद्र आदि। दूसरा कहानी-संग्रह 'हमारा जवाब' में 19 कहानियाँ हैं- कर्ज, जगीरा, गांव, हमारा जवाब, परम्परा, तुलसा, आधा सेर घी, सुनो बरखुरदार,

✡ एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभाग अध्यक्षा, हिन्दी विभाग, कन्नूर विश्वविद्यालय, केरला।

सपने, सिकन्दर, सफर, खबर, सिमटा हुआ आदमी, मजूरी, मुक्ति का संघर्ष, दर्द, एक गुमनाम मौत, गवर्नर के कोट कका बटन, एक अखबार की मौत आदि। तीसरे कहानी संग्रह 'दलित कहानियाँ' में 16 कहानियाँ दी गई हैं – सिलसिला, आदमी की तलाश, इज्जत, चमत्कार, प्यास, पूरा आदमी, एक भला मानस, यात्रा, टोकरी की नौकरी, खरपतवार, धर्म परिवर्तन, आप यहां क्यों आते हैं, फेस बुकिया सुबनबा, बात सिर्फ इतनी सी आदि।

दलित अपने सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में अनेक विषमताओं से जूझ रहे हैं, साहित्य में भी वे उन्हीं द्वन्द्वों से जूझ रहे हैं। 'आवाजें' कहानी संग्रह इस संघर्ष का दस्तावेज है, जो दलितों को ऊपर उठने के लिए साहस एवं धैर्य देता है। ये कहानियाँ उन सभी अन्याय और अत्याचारों की गवाह हैं, जिन्हें इस वर्ग के पूर्वजों ने सदियों पहले भोगा था और आज भी भोगने के लिए अभिशप्त हैं। यह समस्या आज किसी एक घर, परिवार, जाति, समाज अथवा देश तक ही सीमित नहीं है, बल्कि प्रत्येक युग में यह वर्ग भेद की समस्या हर समय और हर जगह किसी न किसी रूप में मौजूद रही हैं। ये दलित कहानियाँ इन समस्याओं के खिलाफ आवाज ही नहीं उठातीं बल्कि कुछ सवाल भी पूछती हैं। इस संग्रह की भूमिका में लेखक ने व्यक्त किया है कि "हर एक कहानी लिखने के दौरान मुझे दुर्घटनाओं के आर-पार को जद्दोजहद से जूझना पडा है, मैं भीतर-बाहर बन दहकता रहा। मेरे जैसे तपकर बाहर आते रहे।"[1] दलितों को अन्याय और अत्याचारों से मुक्त कराकर उन्हें न्याय एवं मानवाधिकार दिलाना ही इन कहानियों का उद्देश्य है।

नैमिशराय की कहानियों में दलित अस्मिता के सरोकारों एवं दलित चेतना की बेचैनी का तीखा स्वर है। 'अपना गाँव' शीर्षक कहानी में इसका खुलकर विरोध किया है कि सामंती व्यवस्था में दलित नारी केवल उपभोग मात्र की चीज है, उनका मान सम्मान अर्थहीन है। ग्रामीण परिवेश में सवर्णों द्वारा पिसते दलितों का हाहाकार यहाँ दिखलाई पड़ता है। हरिया की पुत्रवधु और सम्पत की पत्नी कबूतरी जब ठाकुर की हवेली और खेतों पर काम करने से मना कर देती है तो ठाकुर का मंझला बेटा दीपक सिंह उसे नंगा करके पूरे गाँव में घुमाता है। ठाकुर का बेटा गुर्राते हुए कहता है, "इस कबूतरी की तरह तुम सबकी औरतों को नंगा किया जाएगा। तभी तुम्हारे दिमाग ठिकाने आयेंगे।"[2] हरिया के माध्यम से गाँव की वास्तविकता का चित्रण लेखक ने इस प्रकार किया है- "पर इस गाँव में मिला क्या उसे तथा उसकी जाति के लोगों को ? बार-बार बेइज्जती और जलालत की जिन्दगी। उसे नफरत सी हो गयी गाँव से। उसकी जाति के दस लोगों को सौ-सौ गज जमीन मिली थी, ठाकुर ने प्रधान से मिल-मिलकर अपने नाम लिखा ली। वे पहले भी ठाकुर के जरखरीद गुलाम थे, अब भी। गाँव में कितने लोगों के पास जमीन होगी ? न जमीन, न घर, न कुआं, न पोखर। गंदे जोहड़ से पानी पीना पड़ता है आज भी। गाँव में कोई स्कूल भी नहीं, न डिस्पेंसरी है और न ही डॉक्टर है। क्या है आखिर इस गाँव में केवल हवेली और मंदिर। दोनों ही उनके लिए बेकार।"[3] कबूतरी के पति सम्पत ने ठाकुर से पांच सौ रुपये उधार लिए थे। ब्याज न चुकाने पर उसकी युवा सुंदर पत्नी कबूतरी को खेत में काम करने के लिए बाध्य किया जाता है। ठाकुर का विचार था कि कबूतरी से खेती का काम करने के साथ उनका यौन शोषण भी करें। लेकिन वह मना करने पर उसके साथ इस प्रकार के अमानवीय व्यवहार करते है। कबूतरी पर किये गए अमानवीय अत्याचार पर गाँव के सब लोग आन्दोलन करते हैं पर न्याय नहीं मिलता है। अंत में सारे गाँव के लोग एक होकर उस परंपरागत गाँव को छोड़ देते हैं।

यहाँ कहानीकार दलितों को सजग करना चाहते हैं। उन्होंने डॉ अम्बेडकर के विचार को महत्व देकर दलितों के लिए एक नए समाज का निर्माण करने का दृढ़ निश्चय लिया है। दलित चेतना से विकसित इस कहानी में दलित आन्दोलन के प्रबल पक्ष ही विद्यमान है।

शोषण, अत्याचार और दमन से ऊबकर नरकीय जिन्दगी से मुक्ति की छटपटाहट के साथ दलित लोग गाँवों से शहर की ओर भाग रहे हैं, क्योंकि यहाँ गाँवों जैसा शोषण नहीं है। आर्थिक निर्भरता है, पढने-लिखने की स्वतंत्रता है। लेकिन वहाँ भी दलित अपनी समस्याओं से मुक्त नहीं है। शहरों से उन्हें नई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

'हारे हुए लोग' कहानी में दलित अफसर को भी किराये के मकान देने में हिचकनेवाले सवर्णों का चित्रण है। जब तक सवर्णों के मन में नीच जाति के प्रति जातिभेद की भावना मिट जाय तब ही दलितों को श्रेष्ठ समाज की कल्पना कर सकते हैं। शिक्षा द्वारा जागरण ही इसका एकमात्र उपाय है।

'आवाजें' कहानी के जरिए मोहनदास नैमिशराय सामंती और अमानवीय परपंराओं के विरुद्ध उपजे दलित आक्रोश और प्रतिरोध को सामने लाते हैं। 'आवाजें' नामक कहानी में युग युग से दु:ख झेल रहे मेहतरों पर अत्याचार करनेवाले ठाकुर औतार सिंह के विरुद्ध विद्रोह की अभिव्यक्ति दी गयी है। वर्ण व्यवस्था में दलितों के साथ अमानवीय पेशे भी जोड़ दिये जाते हैं। इस व्यवस्था के मुताबिक मरे जानवारों की खाल उतारना और मैला उठाने का काम दलितों के हिस्से में दे दिया गया। जब इतवारी जूठन न लेने और गंदगी साफ न करने का संकल्प लेता है तो सवर्ण समाज पुलिस प्रशासन के साथ मिलकर मेहतरों पर अत्याचार करते हैं। इस कहानी में यह बात स्पष्ट होती है कि गाँवों में दलित पर ऐसे बहुत से नियम लादे गए हैं कि जिन्हें तोड़ने का मतलब सवर्णों की रूढ़िवादी व्यवस्था को नकारना है। परंपरागत जातीय व्यवस्था से मुक्ति की बात दलितों द्वारा जब उठायी जाती है तो इसको अपराध की दृष्टि से देखा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि मेहतरों की बस्ती से बीस-तीस को डकैती के केस में पुलिस बंद कर देती है। इसके बाद मेहतरों की बस्ती में आधी रात को आग लगा दी जाती है। जातिवाद और सामंती व्यवस्था दलितों के लिए कितनी खघैफनाक है, इसका चित्रण इस कहानी में सच्चाई से किया गया है।

'एक अखबार की मौत' नैमिशराय की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। इसमें प्रिंट मीडिया में चलनेवाले संकीर्ण जातिभेद का पर्दाफाश किया है। आज भी जातिभेद की मानसिकता में लिप्त होने के कारण समाचार पत्रों में समाचार की सही तस्वीर नहीं आ पाती है। इसका खुलासा वर्णन इस कहानी में मिलता है।

भारतीय किसान मजदूरों की त्रासदी को व्यक्त करनेवाली कहानी है 'कर्ज'। इसमें दलित जीवन के आर्थिक और सामाजिक पक्ष का अंकन किया है। इस कहानी का नायक अशोक का परिवार ऋण के बोझ से दब रहा है। कहानी शुरू होती है कथानायक अशोक की माता रामप्यारी की हृदय विदारक चीख से। अशोक शहर में रह चुका था। गाँव-समाज के लोगों को उसके पिता के श्राद्ध और क्रिया-कर्म की चिंता थी। लेकिन अशोक का विश्वास था कि ये सब सामाजिक ढोंग के सिवा कुछ नहीं है। इसी सोच में वह अपने पिता के श्राद्ध कर्म और सामाजिक भोज आदि करने को मना करते है। समाज में इसकी जबरदस्त प्रतिक्रया भी हुई। गाँव के महाजन दूसरे दिन ही आकर अपना दु:ख प्रकट करके बताया कि "बेटा अशोक यदि कुछ पैसे की जरूरत पड़े तो बेझिझक कह देना.... और हाँ तेरे पिता तो पहले से ही कर्ज लिए है जो अभी तक शेष है।"[4] अशोक का विचार है कि यह महाजन नहीं कसाई है। अपने पिता द्वारा लिए गए कर्ज को उतारने में भी वह असमर्थ था। इसलिए सरपंच से उसका सवाल यह था कि "पिता द्वारा लिए गए कर्ज भी बाकी है। आगे कर्ज लेकर इन बेकार की बातों में अपना पैसा और समय बर्बाद करने का न तो मुझे शौक है और न ही मैं चाहता हूँ। मेरे घर में खाने को न हो और सारे गाँव को न्योता दूँ?"[5] महाजन ने अपने कारिन्दे और गुंडों के सहारे उसकी माँ और बहन को पहले तो फुसलाया और उसके झांसे में न आने पर उनका बलात्कार कर उनकी हत्या कर डाली। अशोक खबर पाकर शहर से आ चुका था। उसका सब कुछ लुट चुका था। लेकिन उसकी आँखों में आंसू नहीं थे,

उनसे अंगारे बरस रहे थे। उसने चुपचाप माँ-बहन का क्रिया-कर्म किया और आधी रात को एक लंबा छुरा लेकर महाजन की हवेली की ओर चल पड़ा। वहाँ दीवार में टंगी महाजन की बंदूक से महाजन को गोली मार दी। अशोक अपनी माँ-बहन की हत्या का बदला महाजन की हत्या करके लेता है। इस प्रकार वह दलित समाज की अनेक माँ-बेटियों के कर्ज उतार देने में सहायता देता है। महाजनों से कर्ज उठाने वाले दलितों की आर्थिक दयनीयता का चित्रण करना ही इस कहानी का उद्देश्य। महाजनों के कर्ज में ही उसका जन्म होता है और दंड जुर्माना भरता हुआ कर्ज में ही मर जाता है।

दलित समुदाय के संघर्ष और दु:ख को सवर्ण समाज ने कभी भी संवेदना या मानवीयता की दृष्टि से नहीं देखा। उन्हें दास या गुलाम समझकर सदियों से सामाजिक और राजनैतिक शोषण होता रहा है। सदियों से अस्पृश्यता, असमानता का दंश झेलते-भोगते आ रहे दलितों का जीवन साक्ष्य है 'धर्मपरिवर्तन' नामक कहानी। इस कहानी के पात्र हरिराम है, नैमिशराय की राय में वह हरि भी था राम भी, पर मंदिर प्रवेश से रोक दिया गया। इस घटना से उसे बेहिसाब दु:ख हुआ था। इसके बाद उसने मुस्लिम धर्म को अपना लिया, उसका परिवर्तित नाम खाँ साहब है। 'मैं शहर और वे' कहानी में आरक्षण का विरोध आम आदमी पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव का वर्णन किया है। वहीं 'निजाम' कहानी के माध्यम से आरक्षण के समर्थन में किए गए आंदोलन को बताया गया है और आंदोलन को दबाने के लिए किए गए षड़यंत्रकारी उपायों का वर्णन भी किया गया है। इस कहानी का पात्र प्रभात कुमार भी इसी कुटनीति का शिकार हो जाता है।

ब्राह्मण जातियों के बीच जातिवाद, ऊँचनीच की भावना किस हद तक बढ़ गयी है इसका सीधा-सादा दस्तावेज है 'महाशूद्र' कहानी। इसमें मरघट में दाह संस्कार करनेवाले आचार्य और डोम की वेदना को अंकित किया है। श्मशान में शव का संस्कार करके मरे का माल खानेवाला ब्राह्मण, वहीं शवों को उठाने से आग लगानेवाला दलित शूद्र है नंदु डोम। इन दोनों का परिवार शहर में रहता है। श्मशान शहर से तीन मील दूर पर है। सुबह से दोनों श्मशान जाते हैं। रात आठ बजे के बाद आचार्य घर वापस आता है, नंदु डोम अधिक रातें श्मशान में ही सो जाता है। लोग दक्षिणा के रूप में जो पैसे देते हैं उस पर भी आचार्य के परिवार निर्भर रहता है। आचार्य ब्राह्मण होने पर भी दाह संस्कार जैसे नीच काम करने के कारण समाज में सब लोग उनको हीन दृष्टि से देखते हैं। सवर्ण होते हुए भी आचार्य और उनके परिवार शूद्रों से भी ज्यादा यातनाएँ झेल रहे हैं। उनके बच्चे भी कई तरह की यातनायें सहते हैं। वे पिता से कहते हैं कि "पिताजी अब और नहीं सह जाता। सारी दुनिया हम पर थू थू करती है। मरे मुर्दे की चमड़ी खींचनेवाले से लेकर कफन खसोठू तक कहते हैं। वे कहते हैं कि हमारा घर का गुजारा ही तब चलता है जब कोई मरता है। किसी के घर में अँधेरा होने पर ही हमारे घर में उजाला होता हैं।"[6] आचार्य अपने जीवन की विडंबना व्यक्त करते हुए नंदु डोम से कहते हैं कि "हमें कहा जाता है महाब्राह्मण, पर इसका अर्थ जानते हो नन्दू... ?....महाशूद्र.... ।"[7] इसप्रकार 'महाशूद्र' जातिभेद का पोल खोलनेवाली कहानी बन गयी है। समाज के इस खोखलेपन को सबके सामने प्रस्तुत करना इस कहानी का उद्देश्य है।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि नैमिशराय की कहानियाँ दलित जीवन संघर्ष का आईना है। इनमें उस समाज की मजबूरियाँ भी है और असंतोष भी। अंधविश्वास भी है और संघर्ष भी। मानव मुक्ति एवं मानवाधिकारों की घोषणा करनेवाली ये कहानियाँ समाज की दलित जातियों के शोषण को समाप्त करने और शोषित लोगों को उनके सम्मानजनक जीवन प्रदान करने की मांग उठाती हैं। जिस व्यवस्था ने दलितों का शोषण किया, उन्हें गुलाम बनाया तथा उन्हें शिक्षा एवं संपत्ति के मौलिक अधिकारों से वंचित कर दिया, उन व्यवस्थाओं, मान्यताओं, सिद्धांतों पर नैमिशराय जी का कहानी साहित्य जमकर प्रहार करता है। उनका दलित कहानी साहित्य आनन्द

या सौन्दर्यानुभूति के लिए लिखा गया साहित्य नहीं है। बल्कि यह एक परिवर्तन या बदलाव का साहित्य है। ये कहानियाँ मानव हित को महत्व देती हैं। इसलिए इसमें कलात्मकता के अतिरिक्त हकीकत या दायित्वबोध अधिक विद्यमान है। वर्तमान व्यवस्था के प्रति एक विद्रोह की भावना उसमें निहित है और साथ ही पुरानी लीक से हटकर एकमानवतावादी और स्वतन्त्रतावादी दृष्टिकोण भी है। अत: मोहनदास नैमिशराय की समग्र कहानियाँ समाज को एक नई चेतना और सोच का स्वतन्त्र दायरा देने में अपनी सार्थक भूमिका का निर्वाह कर रही हैं।

संदर्भ :

1. मोहनदास नैमिशराय, आवाजें, भूमिका, नटराज प्रकाशन, 2011.
2. वही, पृ. 32
3. वही, पृ. 24
4. वही, पृ. 17
5. वही, पृ. 19
6. वही, पृ. 14
7. वही, पृ. 16

❖❖❖

आलेख

समकालीन स्त्री कथाकारों के लेखन में दर्ज स्त्री छवियाँ

❍ मो. दानिश✡

'समकालीन' शब्द एक कालवाचक संज्ञा है, प्रत्यय है। शाब्दिक तौर पर इसका अर्थ है तत्कालीन अथवा एक ही समय का भावबोध। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जब कोई व्यक्ति दूसरे के समानांतर एक समान समय अथवा युग में मौजूद रहता है तो उसे समकालीन माना जा सकता है। यूरोप में समकालीन शब्द का प्रचलन 17वीं सदी के मध्य से होना शुरू हुआ। 'समकालीन' शब्द के लिए अंग्रेजी में CONTEMPORARY शब्द प्रयुक्त होता है। प्रारम्भिक दौर में समकालीन शब्द वर्तमान समय का अर्थबोध कराता था। समकालीन शब्द की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने लिखा है- "समकालीन शब्द यह बताता है कि काल के इस प्रचलित खंड या प्रवाह में मनुष्य की स्थिति क्या है। इसे उलटकर कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य की वास्तविक स्थिति को देखकर उसे अंकित या चित्रित करके ही हम समकालीनता की अवधारणा को समझ सकते हैं।"[1]

कला और साहित्य की दुनिया में जब सर्जकों ने तत्कालीन या समसामयिक चीजों, घटनाओं अथवा व्यक्तियों को कला अथवा साहित्य का विषय बनाना शुरू किया तब कहा गया कि कला या साहित्य में समकालीन समय की उपस्थिति दिखलाई पड़ रही है। हिंदी साहित्य में सन 1970 के बाद जब कहानीकारों ने नक्सलवाद, इमरजेंसी, गरीबी, भूख, सांप्रदायिकता, भूमंडलीकरण, सामाजिक विघटन और स्त्री पुरुष संबंधों में आ रहे तनाव जैसी घटनाओं पर केंद्रित कहानियाँ लिखनी शुरू की तो समकालीन कहानी के आयाम को विस्तार मिला। आलोचकों ने भी समसामयिक समाज एवं जीवन स्थितियों के चित्रण को समकालीन साहित्य के रूप में स्वीकृत किया। प्रख्यात आलोचक मधुरेश ने साहित्य में समकालीन संदर्भ की सम्यक् व्याख्या करते हुए लिखा है- "समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ है समय के वैचारिक और रचनात्मक दबाव को झेलते हुए उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रभावित करना।"[2]

मोटे तौर पर समकालीनता को आधुनिकता का पर्याय माना जा सकता है ससमकालीन हिंदी कहानी को जिस प्रवृत्ति ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनाया, वह है, रचना और विचार के क्षेत्र में स्त्री समाज की उपस्थिति। 1970 के आसपास साहित्य खासकर कथा साहित्य के क्षेत्र में स्त्रियों ने न केवल बौद्धिक जगत में हस्तक्षेप

✡ *मो. दानिश, ग्राम : जोरावरपुर ,पोस्ट : बाराडीह, थाना : काराकाट, जिला : रोहतास, बिहार, 802214; मो. 8010658553*

किया अपितु स्त्री केंद्रित संगठनों और प्रगतिशील आंदोलनों से जुड़कर रचना और विचार की दुनिया में स्त्री की पहचान को भी स्थापित किया। पश्चिमी नारीवादी आंदोलन की भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जहाँ सिमोन द बुआ, केट मिलेट, बेट्टी फ्राइडमेन, जर्मेन ग्रियर आदि ने आंदोलन और विचारों के जरिए स्त्री के अधिकारों की वकालत की तथा लैंगिक भेदभाव का मुखर विरोध किया। इन सबका असर यह हुआ कि सन् 70 के बाद इस तरह की दुनिया बदलने लगी और स्त्रियाँ घरों से बाहर निकलीं तथा श्रम के बाजार में उनकी भागीदारी भी बढ़ी। बदलाव के इस वातावरण में स्त्री का व्यक्तित्व संघर्षकारी और प्रगतिगामी स्वरूप लेने लगा जिसके कारण कई सामाजिक वर्जनाओं और रूढ़ियों का अंत हुआ तथा कुछ नए सामाजिक समीकरण भी निर्मित हुए। इसी पृष्ठभूमि में स्त्री की बहुआयामी छवि का सशक्त चित्रण समकालीन कहानियों में दर्ज होना शुरू हुआ।

आधुनिक काल में स्त्री पुरुष के पारस्परिक संबंध, धर्म और काम के पारम्परिक मूल्यों से हटकर आत्मनिर्भरता, स्वतंत्रता और मुक्ति, कामना तथा जातीय स्वतंत्रता के पर्याय बन गए हैं। आधुनिक समय में स्त्री समाज में विकसित हुई चेतना और जागरूकता ने स्त्रियों को उनके अधिकारों और अस्मिता हेतु सशक्त आधार प्रदान किया जिसका परिणाम यह निकला कि स्त्री अब एकांगी प्रेम की जगह समभावमूलक प्रेम की माँग करने लगी है। अब वह प्रेम के नाम पर स्वयं के अस्तित्व को दांव पर नहीं लगाती बल्कि वह समाज और परिवार में प्रेम के नाम पर होनेवाले शोषण का खुलकर विरोध करती है। समकालीन कहानी में इन परिवर्तित स्थितियों और अर्थसंदर्भों का मार्मिक चित्रण किया गया है।

समकालीन कहानी में समाज में घटित होने वाली घटनाओं का चित्रण करते हुए इस भाव को बहुत मजबूती से उभारा गया है कि पति पत्नी के संबंध दिखावे के भी हो सकते हैं। एक छत के नीचे रहते हुए भी उनके विगत के संबंध मूर्तिमान रहते हैं। उनके लिए विवाह और प्रेम में गहरा अंतर है। स्त्री पुरुष अब यह सोचने लगे हैं कि प्रेम और वासना में कोई गहरा अंतर कैसे हो सकता है? दोनों एक दूसरे के सहारे ही चल सकते हैं। प्रेम करने में स्वतंत्रता है। एक के बाद दूसरा प्रेम क्यों नहीं किया जा सकता है? प्रेम कोई पाप नहीं है। समकालीन कहानी में इस तरह के भाव पूर्ण रूप से व्याप्त हैं। इस संदर्भ पर टिप्पणी करते हुए डॉक्टर नमिता सिंह ने लिखा है- "आज की स्त्री आर्थिक रूप से पहले की अपेक्षा ज्यादा सक्षम हुई है, इस कारण वह कई पारंपरिक वर्जनाओं को तोड़ने में सफल रही है। यही कारण है कि वह अपने लिए एक खुले आकाश की मांग करने लगी है। वह प्रेम के नाम पर खुद को बलिदान नहीं कर सकती।"[3] आधुनिक स्त्री ठगा जाना स्वीकार नहीं करती स वह प्रेम की पूर्णता को संतुलित रूप में समादृत करना चाहती है। समकालीन कहानी में प्रेम सम्बन्धी इस मान्यता की पुष्टि चित्रा मुद्गल की कहानी 'लाक्षागृह' से की जा सकती है। यह कहानी एक पढ़ी लिखी कामकाजी स्त्री के संघर्ष और उसके अंतर संसार को सामने लाती है। जहाँ उसकी निजता और उसका आत्म स्वाभिमान कदम-कदम पर तिरस्कृत होता है। कहानी की नायिका सुनीता एक सुंदर स्त्री नहीं है और इसी कारण उसका विवाह ठीक समय पर नहीं हो पाता। अंततः सुनीता के दफ्तर का एक व्यक्ति, जिसके साथ उसका प्रेम विकसित होता है, उससे विवाह समझौते के तहत उसके साथ प्रेम का स्वाँग रचता है। और इसी कारण वह उस असुंदर स्त्री से शादी करने को तैयार है। लेखिका ने उस व्यक्ति के मनोभावों का चित्रण करते हुए लिखा है- "छोड़ यार काली वाली ही सही, घर की हालत तुझ से छिपी नहीं। सोच 18000 महीने कमाने वाली कहाँ मिलेगी? सौदे की कोई शक्ल सूरत नहीं होती। मैं जीवन और व्यावहारिकता को एक दूसरे का पूरक मानता हूँ, नहीं तो देखने में ठीक ठाक आशा घर चलाने में अधिक सही लड़की है।"[4] इस प्रसंग को जानने के बाद सुनीता जैसी स्वाभिमानी स्त्री इस समझौते को नकारकर और प्रेम के इस दिखावे को ठुकराकर एक आत्म स्वाभिमानी, किंतु अपंग लड़के से शादी करने को तैयार होती है, जिसे वह अपने बचपन से जानती थी। स्त्री के आत्मस्वाभिमान, उसकी निजता और उसकी स्वतंत्रता के पक्ष में चित्रा मुद्गल की यह कहानी

समकालीन कहानियों की श्रृंखला में एक महत्वपूर्ण रचना है।

समकालीन कहानी में स्त्री और पुरुष के प्रेम संबंधों में आधुनिक संस्कृति की छाप दिखाई देती है। आज की स्त्री एक के बाद दूसरे प्रेम को बुरा नहीं समझती है। दोनों को दो अलग-अलग समय में पूरी शिद्दत के साथ जीती है, प्रेम करती है। यह सांस्कृतिक बदलाव है। नई पीढ़ी रूढ़ संस्कारों से मुक्त हो रही हैं। संस्कृति का वही रूप उसे स्वीकार है जो आज उपयुक्त है।

समकालीन दौर में मानव जीवन पर बाजारवाद और उपभोक्तावाद का दबाव अत्यधिक है। मानव एक तरफ आधुनिक सुख सुविधाओं के बीच जी रहा है तो दूसरी ओर उपभोक्ता समाज के बीच पण्य वस्तु की तरह बिक भी रहा है। स्त्री पुरुष के जीवन में अब विवाहपूर्व और विवाहेत्तर यौन संबंधों में अभूतपूर्व बदलाव आ चुका है। विवाहित स्त्री पुरुष अपनी ऊब, तनाव और विवशता को मिटाने के लिए अन्यथा यौन संबंध विकसित कर लेते हैं। आधुनिक स्त्री यौन शुचिता जैसी सामंती मूल्यव्यवस्था को पूर्णत: नकारती है। समकालीन कहानी में इस मनोदशा को बहुत ही कलात्मक ढंग से उभारा गया है। मन्नू भंडारी की कहानी 'ऊँचाई' की नायिका शारीरिक पवित्रता का परंपरागत मूल्य छोड़कर बिल्कुल नए मूल्यों को सही मानती है। उसका कहना है- "वैवाहिक संबंधों का आधार इतना छिछला है, इतना कमजोर है कि एक हल्के से झटके को भी संभाल नहीं सकता तो सचमुच उसे टूट जाना चाहिए।"[5] इस कहानी में पति और पत्नी के संबंधों में प्रेम की जगह बढ़ते संदेह पर चोट करते हुए दिखाया गया है कि पुरुष हमेशा से स्त्री के चारित्रिक संदेह के लिए उसकी देह पर लांछन लगाता है। ऐसा करते वक्त वह दांपत्य जीवन में स्त्री द्वारा समर्पित की गई प्रेम भावना को भी नजरअन्दाज कर देता है।

आधुनिक समय में प्रेम की उत्तरजीविता प्रभावित हुई है अर्थात् आज का प्रेम 'सात जन्मों का साथ' या 'युगों युगों का साथ' जैसी आदर्श अवधारणा से संचालित नहीं होता। वर्तमान समय में प्रेम की दीर्घजीविता भौतिक आवश्यकताओं से ज्यादा प्रभावित होती है। वर्तमान की इन्हीं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'लिव इन' जैसी सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ है। 'लिव इन' एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें स्त्री और पुरुष प्रेम में रहते हुए अपनी 'लिव इन' एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें स्त्री और पुरुष प्रेम में रहते हुए अपनी इच्छानुसार बगैर किसी पारम्परिक प्रतिबद्धता के एक साथ, एक छत के नीचे सहजीवन करने लगते हैं। सहजीवन की इस अवस्था में स्त्री पुरुष प्रेम करते हुए भी समान अधिकार और सम्मान भाव से अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उपयोग करते हैं। कहना अनुचित न होगा कि सहजीवन की इस अवस्था ने प्रेम को और अधिक लोकतांत्रिक बनाया है स समकालीन कहानियों में सहजीवन को केंद्र में रखकर कई कहानियाँ लिखी गयी हैं। चेतना भाटी की कहानी 'नए समीकरण' की नायिका पल्लवी सहजीवन की हिमायती है। वह वह विवाह किए बगैर प्रेमी के साथ जीना चाहती है। माँ जब उसे पारस्परिक विश्वास, निष्ठा, प्रेम एवं पवित्रता आदि के बारे में उसे समझाती है तो वह माँ से इस प्रकार कहती है- "आप भी क्या दकियानूसी बातें लेकर बैठ गयी? हमें जिंदगी मिली है जीने के लिए मजे करने के लिए न कि घुट-घुटकर मरने के लिए।"[6] इस प्रकार का वातावरण अधिकांशत: नगरों में और महानगरों की युवा पीढ़ी में दिखाई दे रहा है। सूचना प्रौद्योगिकी, बाजारी व्यवस्था आदि के कारण आज स्त्री और पुरुष बराबरी के साथ काम कर रहे हैं। ऐसे संदर्भों में इन दोनों के बीच प्रेम का भौतिक स्वरूप ज्यादा प्रबल होता जा रहा है। इस तरह के प्रेम में भूमंडलीकरण के प्रभावों को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। आज की युवा पीढ़ी विवाह रूपी संस्था को महज प्रेम के नाम पर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। वैवाहिक व्यवस्था से इतर सहजीवन में सामाजिक नियमों से मुक्त होकर जीवन बिताने वालों का चित्रण मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'सौगंध नामा' में भी दर्ज है। अपनी माँ के द्वारा विवाहिता और संतानवान व्यक्ति के साथ मैत्री करार संबंधों को जोड़ने का विरोध किए जाने पर रक्षिता का यह कथन

युवा पीढ़ी की ओर इशारा करता है- "तुम मुझे बेवकूफ समझती हो। हमारी दोस्ती पर कानूनी मुहर लग गई है। तुम क्या जानो नये जमाने की बात है हजारों लड़कियां मैत्री कर रही हैं।"[7] वर्तमान दौर में भूमंडलीकरण के कारण स्त्री के प्रति भोगवादी और व्यावसायिक नजरिया तेजी से पनपा है। समकालीन कहानीकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस स्थिति से उबरने की सृजनात्मक कोशिश की है। उनकी रचनाओं में समाज की इस व्यवस्था में नारी की स्थिति को बड़ी ईमानदारी के साथ व्यक्त किया गया है। डॉक्टर पूनम सिंह ने समकालीन कहानियों में दर्ज स्त्री पात्रों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है- "आज की कहानियों में स्त्री के प्रतिरोधी स्वरूप की कई आकृतियाँ दिखायी पड़ती हैं। इन कहानियों में वह दकियानूसी परम्पराओं, दिखावटी संस्कारों और पुरुष सत्ता के सामंती व्यवहारों के विरुद्ध तनकर खड़ी होती है और यथास्थिति को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है स यह जरूर है कि कुछ ऐसे स्त्री चरित्रों का भी सृजन हुआ है जो स्थितियों से समझौता कर, मन मारकर जीवन गुजारती हैं लेकिन उनपर चेतनासम्पन्न, जुझारू स्त्री पात्र बहुत भारी पड़ते हैं।"[8]

समकालीन कहानीकारों में मृणाल पांडेय का नाम अग्रणी है। नई सदी की नवीनता को दर्शाने वाली इनकी कहानियां स्त्री प्रतिरोध के संदर्भ में बेहद महत्वपूर्ण हैं। 'लड़कियाँ' कहानी में तीन लड़कियाँ होने के बावजूद भी परिवार वालों को लड़के का इंतजार है। इस कहानी में लड़का लड़की के भेदभाव को दर्शाया गया है। तीनों लड़कियों में मँझली हमेशा इस व्यवस्था में अपने अधिकारों के लिए लड़ती रहती है। घर में मार-डांट खाने पर भी वह कभी किसी से डरती नहीं है। एक बार नानी के घर माँ उसे मुसीबत कहती है और अष्टमी के दिन नानी सभी बच्चों को टीका लगाकर पैसा देती है इसपर प्रतिरोध करती मँझली कहती है- "जब तुम लोग लड़कियों को प्यार ही नहीं करते हो तो झूठमूठ में उनकी पूजा क्यों करते हो ? मुझे नहीं चाहिए इन औरतों का हलवा, पूरी, टीका, रुपया। मैं देवी नहीं बनूंगी।"[9] इस कहानी में लेखिका ने आज के समाज में फैल रही कुरीतियों का विरोध कर अपने अधिकारों के लिए प्रतिरोध को स्त्री में भरने का कार्य किया है। इसी प्रकार 'एक पगलाई सस्पेंस कथा' में बेमेल शादी के कारण विष्णुप्रिया संतुष्ट न होकर आत्महत्या कर लेती है। इसमें बिना माँ बाप की बच्ची की त्रासदी है। यह शोषण तथा अधिकारहीनता में तड़पती नारी का प्रतिरोध है।

रूढ़िभंजन अभियान को मैत्रेयी पुष्पा ने भी अपनी कहानियों के माध्यम से बहुत कुशलतापूर्वक गति दी है। 'अपना अपना आकाश' में एक विधवा स्त्री कौशल्या के शोषण और उसके संघर्षों को चित्रित करते हुए लेखिका ने उसमें रूढ़ियों के विरोध की हिम्मत भी भरी है जो अपनी नयी पीढ़ियों को शोषणकारी ताक़तों के ख़िलाफ़ जागरुक कर एकजुट करती है। 'तल्लन' की नायिका कस्तूरी तो पति की मृत्यु के बाद घरवालों के तमाम विरोध के बावजूद अपने बच्चों के सुखद भविष्य की ख़ातिर घर से बाहर निकलती है और नौकरी करती है। इस क्रम में उसे कई प्रकार के उलाहने और ताने सुनने पड़ते हैं लेकिन वो कहती है- "मेरे बच्चे भूखे रहे और मैं इनलोगों की नजरों में सती-सावित्री बनी रहने के लिए घर में दुबकी रहूँ, ये मुझसे नहीं होगा। अपने बच्चों के लिए अब मैं ही माँ और बाप दोनों हूँ। मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता कौन क्या कहता है, मुझे सिर्फ और सिर्फ अपने परिवार की चिंता है।"[10] मैत्रेयी पुष्पा की कहानियों में दर्ज स्त्री पात्रों की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए हेमलता शर्मा ने लिखा है- "मैत्रेयी ने क्रांतिकारी स्त्री चरित्रों को सृजित कर स्त्री मुक्ति आंदोलन को नई ऊँचाई तक पहुँचाया है। उनकी औरतें हर उस पूर्वनिर्मित मान्यता पर प्रश्नचिन्ह लगाती हैं जिससे पुरुष सत्ता को बल मिलता है। मैत्रेयी ने समतामूलक समाज के लिए आधुनिक और प्रगतिशील स्त्रियों की दुनिया को आबाद करके एक बहुआयामी हस्तक्षेप किया है।"[11]

स्त्री मुक्ति के आन्दोलन को क्रन्तिकारी स्वरूप देते हुए प्रख्यात स्त्रीवादी विमर्शकार सीमोन द बुआ ने कहा था- स्त्री जन्म नहीं लेती बनाई जाती है, हमें इस स्त्री बनाने वाली व्यवस्था को खत्म करना होगा। सिमोन के वक्तव्य से प्रेरित समकालीन कहानीकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्त्री अधिकारों और उसकी संभावनाओं

के पक्ष में अपनी प्रखर लेखनी चलाई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज समाज के हर वर्ग की स्त्री कथा साहित्य के केंद्र में आ रही है और निश्चित रूप से यह समाज में घटित हो रहे वास्तविक परिवर्तन का प्रतिफल है। समकालीन कहानियों में दर्ज स्त्री पत्रों के माध्यम से पुरुष सत्ता में हो रहे मानसिक परिवर्तन को भी बखूबी दर्शाया गया है स यह स्त्री के हक में एक सकारात्मक उपलब्धि है।

संदर्भ :

1. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, समकालीन कहानी की भूमिका, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1998, पृ. 56,
2. मधुरेश, हिंदी कहानी की भूमिका, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 1996, पृ. 14
4. चित्रा मुद्गल, प्रतिनिधि कहानियां, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1998, पृ. 33
5. मन्नू भंडारी, प्रतिनिधि कहानियां, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ. 68
6. चेतना भाटी, नए समीकरण, मरू प्रकाशन, जयपुर, 2011, पृ. 74
7. मनीषा कुलश्रेष्ठ, आलपीन, आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2009, पृ. 83
8. डॉ. पूनम सिंह, स्त्री विमर्श का वर्तमान युग, अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, 2008, पृ. 146
9. मृणाल पाण्डेय, प्रतिनिधि कहानियां, वाणी प्रकाशन, 2008, दिल्ली, पृ. 88
10. मैत्रेयी पुष्पा, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 67
11. हेमलता शर्मा, स्त्री विमर्श का युग, कल्पना प्रकाशन, विलासपुर, 2013, पृ. 93

❖❖❖

आलेख

सुभद्राकुमारी चौहान के 'ग्राम-स्वराज' का स्वप्न और 'राही' कहानी

❍ सितारे हिन्द*

सुभद्राकुमारी चौहान भारतीय नवजागरण की एक महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं। ये हिंदी के उन दुर्लभ साहित्यकारों में से एक हैं, जिन्होंने जितनी तत्परता एवं मनोयोग के साथ भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी की उतनी ही तत्परता एवं मनोयोग के साथ मुक्तिकामी साहित्य की सर्जना की। आज सुभद्राकुमारी चौहान का नाम भारतीय नवजागरण के सर्वाधिक चर्चित महिला साहित्यकारों में लिया जाता है।

सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म 16 अगस्त, 1904 ई. को प्रयागराज के एक छोटे से गाँव निहालपुर में हुआ था। इन्हें तुकबंदी की रुचि बचपन से ही थी। नीम के परोपकारी तथा गुणकारी रूप के वर्णन को समेटे इनकी एक कविता सिर्फ नौ बरस की उम्र में सन् 1913 ई. में उस समय की चर्चित पत्रिका 'मर्यादा' में छपी थी। कविता की कुछ पंक्तियाँ नीचे द्रष्टव्य हैं -

"तब तक हमारे देश में तुम सर्वदा फूलो-फलो
निज वायु शीतल से पथिक जन का हृदय शीतल करो।"[1]

सुभद्राकुमारी चौहान का जीवन बहुआयामी था। गृहिणी, समाज सुधारक, सत्याग्रही एवं राजनीतिक कार्यकर्ता के जीवन के कारण इनका लेखकीय रूप भी बहुआयामी तथा बहुरंगी बन गया। स्वतंत्रता आन्दोलन से इनका एकदम सीधा जुड़ाव था। अंग्रेजी सत्ता के दमन और शोषण की त्वरित प्रतिक्रिया इनकी कलम दिया करती थी। इसका प्रमाण इनकी 'जलियाँवाला बाग में बसंत', 'राखी', 'विस्मृत की स्मृति' जैसी कविताओं में देखा जा सकता है। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ये आन्दोलन हेतु चंदा भी इकट्ठा किया करती थीं। सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं पर आलोचक मधुरेश और मुक्तिबोध की टिपण्णी क्रमशः इस प्रकार हैं-

"छायावादी युग में भी सुभद्राकुमारी चौहान का काव्य गहरी पारिवारिकता से ओत-प्रोत है। अपने सीमित और संक्षिप्त परिवार से बाहर आकर वे देश और समाज के एक बड़े परिवार से जुड़ती हैं और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध इसी परिवार-भाव से अपनी सारी शक्ति प्राप्त करती हैं।"[2]

"छायावादी कवि, पारिवारिक-सामाजिक राष्ट्रीय जीवन से आक्रांत होते हुए भी, उसे अपना न सके- उसके अन्दर छिपे हुए मानव संबंधों को वे काव्य-विषय न बना सके। अपनी आत्मवादी भूमिका के कारण वे शिक्षित समुदाय की प्रवृत्तियों को अवश्य संतुष्ट करते रहे और आधुनिक हिंदी काव्य की प्रधान धारा के रूप में हमने उनको पाया। किन्तु इससे सुभद्रा जी के साहित्य का महत्व कुछ कम नहीं होता, वरन वह अधिक हो जाता

✡ *सितारे हिंद, युवा आलोचक एवं अध्यापक, पटना।*

है, क्योंकि उसके द्वारा आधुनिक हिंदी काव्य-साहित्य की एकांगिकता के कम होने के साथ-ही-साथ एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति होती है।"[3] कहने का निहितार्थ यह कि सुभद्रा जी के साहित्य में गार्हस्थिकता और पारिवारिकता की भूमिका और महत्व के रंग पूरी तरह सुरक्षित तथा संरक्षित दिखाई देते हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान के दो काव्य-संग्रह 'मुकुल' (1930 ई.) तथा 'त्रिधारा' प्रकाशित हुए हैं। 'त्रिधारा' वस्तुत: हिंदी साहित्य के तीन महारथियों पं. माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान तथा केशवप्रसाद पाठक की कविताओं का संकलन है। सन् 1935 ई. में लक्ष्मणसिंह चौहान ने इसका सम्पादन किया था। सुभद्राकुमारी चौहान की काफी चर्चित कविता 'वीरों का कैसा हो वसंत' इसी संकलन में प्रकाशित हुई थी।

इनके कथा-संग्रहों में 'बिखरे मोती'(1932 ई.), 'उन्मादिनी'(1934 ई.), तथा 'सीधे-साधे चित्र'(1947 ई.) शामिल हैं। हंस प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा सन् 1983 ई. में इनकी सम्पूर्ण कहानियों का संग्रह 'सीधे-साधे चित्र' नाम से प्रकाशित हुआ। सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियाँ बड़े सामाजिक सरोकारों से जुड़ी हुई हैं। अपनी कहानियों में इन्होंने दहेजप्रथा, परदाप्रथा, छुआछूत आदि का बड़ा ही मर्म स्पर्शी चित्रण किया है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि इनकी कहानियाँ बहुआयामी हैं। इनका लेखन गुलाम भारत की मुक्ति के साथ-साथ भारत को सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति करने हेतु समर्पित है। सुभद्रा जी की कहानियों के सम्बन्ध में वरिष्ठ आलोचक राजेन्द्र उपाध्याय का मानना है कि "उनकी कहानियों को किसी भी तराजू पर तौल लें, उसमें स्त्री सरोकारों की बात दिखेगी तो वे सामाजिक, राजनीतिक विसंगतियों की कसौटी पर भी खरी उतरेंगी। उनकी कहानियाँ स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौर की नारी का मानसिक पटल प्रस्तुत करती हैं। आजादी के पूर्व की भारतीय नारी की दशा और दिशा को सँभालने में वे हमारी बड़ी मदद करती हैं। उनकी नारी केवल राजनीतिक आजादी नहीं चाहती बल्कि सभी प्रकार की गुलामी से मुक्ति चाहती है। वह 'स्वतन्त्रता' नहीं 'स्वराज' चाहती है।"[4] सुभद्रा जी की कहानियों में अपने समय की अनुगूँज पूरी जीवन्तता के साथ मौजूद है। इनका समय स्वतंत्रता आन्दोलन का था। अत: नवजागरणकालीन भारत की झलक इनकी रचनाओं में गहरे रंग के साथ अंकित है। सुभद्रा जी की कहानियों में आए स्त्री-चरित्र के माध्यम से उस दौर की स्त्री-मनोदशा, संक्रमण काल के समय का सामजिक-पारिवारिक कश्मकश आदि का विश्लेषण किया जा सकता है।

'राही' सुभद्राकुमारी चौहान की एक बेहद मार्मिक कहानी है। यह कहानी सन् 1947 ई. में प्रकाशित कथा संग्रह 'सीधे-साधे चित्र' के माध्यम से पाठकों के बीच आई थी। इस कहानी में राही तथा अनीता दो केंद्रीय पात्र हैं, जिनके बीच के संवाद से इस कहानी की शुरुआत होती है। यह संवाद ही इस कहानी की पृष्ठभूमि है। राही, माँगरोरी जाति (इस जाति के लोग भीख माँग कर अपना पेट पालते हैं) की एक स्त्री है जो अपने भूखे बच्चे के लिए अनाज चोरी के जुर्म में जेल आ जाती है जबकि, अनीता स्वतन्त्रता संग्राम में सत्याग्रह करते हुए जेल आती है। कहानी की शुरुआत में अनीता राही से जेल आने का कारण पूछती है। अनीता को पता चलता है कि अनाज की गठरी चोरी करने के जुर्म में उसे एक वर्ष कारावास की सजा मिली है। उसके पति की हत्या भी पुलिस के द्वारा हुई है, वो भी बिना किसी वजह के ! अब उसके बच्चे को भी देखने वाला कोई नहीं है। राही की स्थिति जानकर अनीता को काफी दु:ख होता है। कहानी में ऐसा प्रतीत होता है कि अनीता कोई और नहीं बल्कि खुद लेखिका ही हैं। लेखिका के खुद के व्यक्तित्व की छाप अनीता पर है। सुभद्रा जी गुलाम भारत में सत्याग्रह करते हुए कई बार जेल भी गई हैं। इस कहानी में उसी समय के अनुभवों को प्रस्तुत किया गया है।

'राही' कहानी के माध्यम से सुभद्राकुमारी चौहान ने कई पहलुओं को उद्घाटित किया है जिनपर विचार किये जा सकते हैं

क. माँगरेरी जाति के उद्धार का प्रश्न

ख. पुलिस-प्रशासन के द्वारा की जाने वाली शक्तियों के दुरुपयोग का प्रश्न

ग. सामाजिक भेद-भाव और असामनता का प्रश्न

घ. कांग्रेस नेताओं की अवसरवादिता और उनके द्वारा नकली देशभक्ति और त्याग के प्रदर्शन का प्रश्न

सुभद्राकुमारी चौहान की इस कहानी में माँगरोरी जाति के सम्बन्ध में दिखाया गया है कि इस जाति के लोगों को काम नहीं मिलता है। ये अपनी जरूरतों को भीख माँग कर पूरा करते हैं। अगर भीख न मिले तो चोरी ही दूसरा उपाय है। कहानी में प्रसंग इस प्रकार है -

"- तो तूने चोरी क्यों की? मजदूरी करती तब भी तो दिन भर में तीन-चार आने पैसे मिल जाते!
- हमें मजदूरी नहीं मिलती सरकार। हमारी जाति माँगरोरी है। हम केवल माँगते-खाते हैं।
- और भीख न मिले तो?
- तो फिर चोरी करते हैं।"[5]

इस प्रसंग पर गहराई से विचार करने के बाद पता चलता है कि लेखिका स्वाधीनता के अर्थ को समझा रही हैं। वो कहना चाह रही हैं कि आजादी का अर्थ न सिर्फ सत्ता का हस्तांतरण हो बल्कि देश के अंदर उन सभी पिछड़ी जातियों के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त हो, जो अब तक सामान्य नागरिक समाज के दायरे से भी बाहर है। यहाँ माँगरोरी जाति तो एक प्रतीक भर है। माँगरोरी के अलावा देश में नट, बक्खो, गोड़ी ओझा आदि ऐसी कई जातियाँ हैं जिनकी स्थिति आज भी काफी दयनीय है। यहाँ लेखिका के गहरे देश-प्रेम की झलक मिलती है कि इन्होंने अपने लेखन के माध्यम से उपेक्षित जाति माँगरोरी की समस्याओं को केंद्र में लाने का प्रयास किया है।

किसी भी देश की सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में पुलिस-प्रशासन और वहाँ की न्यायपालिका का विशेष योगदान होता है। पुलिस-प्रशासन और न्याय व्यवस्था अगर अंधी हो जाए और लोगों का विश्वास इनसे उठ जाये तो अव्यवस्था फैल जाती है। इस कहानी में दिखाया गया है कि पुलिस जो कि रक्षक होती है, वही भक्षक बन गई है। पुलिस द्वारा राही के पति की बेवजह हत्या की जाती है। भूखे बच्चे के लिए अनाज चोरी करने के जुर्म में बिना स्थिति को जाने-समझे राही को सजा मिलती है। अब उसके बच्चे को देखने वाला कोई भी नहीं है। कहानी में प्रसंग है -

"- 'अब तेरे बच्चे किसके पास हैं ? उनका बाप है?' अनीता ने पूछा।

राही की, आँखों में आँसू आ गए।

वह बोली- 'उनका बाप मर गया सरकार, सरकार !' 'जेल में उसे मारा था और वहीं अस्पताल में वह मर गया। अब बच्चों का कोई नहीं है।'[6]

यहाँ सवाल यह है कि बच्चा जो कि राही के बाद की पीढ़ी है। देश का भविष्य है। उसका भविष्य अन्धकारमय है। उसका बचपन छीन लिया गया है। इसका जिम्मेवार कौन है? बहुत हद तक संभव है कि वह बेमौत मारा जाए ! अगर बच भी गया तो या तो भीख माँगेगा या फिर चोरी करेगा। पुनः उसकी स्थिति राही वाली ही रहेगी! यहाँ परोक्ष रूप से प्रशासन, कानून और न्याय व्यवस्था से एक प्रकार का तीखा सवाल है।

सुभद्रा जी इस कहानी में असमानता और भेदभाव वाली सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न उठाती हैं। राही की स्थिति देखकर अनीता सोचती है -

"देश की दरिद्रता और इन निरीह गरीबों के कष्टों को दूर करने का कोई भी उपाय नहीं है? हम सभी परमात्मा की संतान हैं। एक ही देश के निवासी। कम से कम हम सबको खाने पहनने का सामान अधिकार तो है ही? फिर यह क्या बात है कि कुछ लोग तो बहुत आराम से रहते हैं और कुछ लोग पेट के अन्न के

लिए चोरी करते हैं ?"[7] सुभद्रा जी का यह प्रश्न वस्तुतः भारतीय नवजागरण से जुड़ जाता है। नवजागरण के केंद्र में 'सामान्य मनुष्य' की मुक्ति का प्रश्न है। चाहे राजनीतिज्ञ हों या फिर साहित्यकार सबकी चिंता इस बात के प्रति है कि किस प्रकार आम आदमी को केंद्र में लाया जाए? सन् 1931 ई. 'साकेत' में मैथलीशरण गुप्त लिखते हैं –

"भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त करने आया !
सन्देश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"[8]

जाहिर सी बात है कि 'नर' को ही ईश्वर बनाने और धरती को ही स्वर्ग का रूप देने की बात की गई है। साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय मुक्ति और सामजिक परिवर्तन की लड़ाई लड़ रहे ये साहित्यिक योद्धा जानते थे कि देश के अन्दर के हर एक तबके की मुक्ति ही असल रूप में राष्ट्र की मुक्ति होगी। 'राही' कहानी की अनीता सोचती है –

"वास्तव में सच्ची देशभक्ति तो इन गरीबों के कष्ट-निवारण में है। ये कोई दूसरे नहीं, हमारी ही भारत माता की संतानें हैं। इन हजारों, लाखों भूखे-नंगे भाई-बहिनों की यदि हम कुछ भी सेवा कर सकें, थोड़ा भी कष्ट निवारण कर सकें तो सचमुच हमने अपने देश की कुछ सेवा की।"[9]

सुभद्रा जी ने इस कहानी में उस समय की कांग्रेस पार्टी के नेताओं के दोहरे चरित्र पर सवाल उठाये हैं। कांग्रेसी नेता एक तरफ तो देशभक्ति और त्याग का ढिंढोरा पीटते थे तो दूसरी तरफ अवसरवादी चरित्र लिए हुए थे। इस कहानी में इनके अवसरवादी चरित्र का चित्रण बिना किसी लाग-लपेट के हुआ है। कहानी में अनीता सोचती है-

"कल तक जो खद्दर भी न पहनते थे, बात-बात पर कांग्रेस का मजाक उड़ाते रहते थे, कांग्रेस के हाथों में थोड़ी सी शक्ति आते ही वे कांग्रेस भक्त बन गए। खद्दर पहनने लगे। यहाँ तक कि जेल में भी दिखाई पड़ने लगे। वास्तव में यह देश भक्ति है या सत्ता भक्ति !"[10]

उपर्युक्त बिंदुओं के अलावा इस कहानी में गांधी जी के सर्वोदय तथा 'ग्राम स्वराज' के स्वरूप की साहित्यिक अभिव्यक्ति भी की गई है। 'ग्राम-स्वराज' में गांधी जी की कल्पना थी कि ग्राम-स्वराज "एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी महत्व की जरूरत के लिए अपने पड़ोसी पर निर्भर नहीं करेगा; और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए, जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा, वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह से हर एक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। उसके पास इतनी फाजिल जमीन होनी चाहिए, जिसमें ढोर चर सकें और गाँव के बड़ों व बच्चों के लिए मनबहलाव के साधनों और खेलकूद के मैदान वगैरह का बदोबस्त हो सके।.....हर एक गाँव में गाँव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभाभवन रहेगा।"[11]

कहानी की पात्र अनीता भी स्वप्न देखती है। कहानी में प्रसंग इस प्रकार है- "रात में उसने (अनीता) सपना देखा कि जेल से छुटकर वह इन्हीं माँगरोरी लोगों के गाँव में पहुँच गई है। वहाँ उसने एक छोटा सा आश्रम खोल दिया है। उसी आश्रम में एक तरफ छोटे-छोटे बच्चे पढ़ते हैं और स्त्रियाँ सूत काटती हैं। दूसरी तरफ मर्द कपड़ा बुनते हैं और रुई धुनकते हैं। शाम को रोज उन्हें धार्मिक पुस्तकें पढ़कर सुनाई जाती हैं और देश में कहाँ क्या हो रहा है, यह सरल भाषा में समझाया जाता है। वही भीख माँगने और चोरी करने वाले आदर्श ग्रामवासी हो चले हैं।"[12] यहाँ ग्राम-स्वराज का स्वप्न अनीता अनायास ही नहीं देखती, बल्कि इसे सुभद्रा जी के द्वारा गांधी

के विचारों की सायास साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में देखना उचित होगा। अफसोस की बात यह है कि अनीता के माध्यम से ग्राम-स्वराज का जो स्वप्न सुभद्रा कुमारी चौहान ने देखा, आजादी के सात दशक बीत जाने के बाद भी वह स्वप्न ही है।

संदर्भ :

1. भारतीय साहित्य के निर्माता सुभद्रा कुमारी चौहान, सुधा चौहान, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2012 (पुनर्मुद्रण), पृ. 06
2. हिंदी आलोचना का विकास, मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012 (प्रथम लोकभारती संस्करण), पृ. 169
3. वही (उद्धृत)।
4. नारी हृदय तथा अन्य कहानियां, राजेन्द्र उपाध्याय (संपादन), आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, 2009, पृ. 14
5. चौहान, 'राही: कहानी', राही-कहानी। Rahi | Story by Subhadra Kumari Chauhan, -भारत-दर्शन, bharatdarshan.co.nz/magazine/literature/1198/raahi-kahani-subhadrakumari-chauhan.html. Accessed 17 Sept. 2023.
6. वही।
7. वही।
8. मैथिलीशरण. "साकेत / मैथिलीशरण गुप्त / अष्ठम सर्ग / पृ. 3." साकेत / मैथिलीशरण गुप्त / अष्ठम सर्ग / पृ. 3 - कविता कोश, कविता कोश, 27 जनवरी, 2010. kavitakosh.org
9. चौहान, 'राही: कहानी', राही-कहानी। Rahi | Story by Subhadra Kumari Chauhan, -भारत-दर्शन, bharatdarshan.co.nz/magazine/literature/1198/raahi-kahani-subhadrakumari-chauhan.html. Accessed 17 Sept. 2023.
10. वही।
11. ग्राम स्वराज, महात्मा गांधी, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष-2011 (प्रथम संस्करण), पृ. 48
12. चौहान, 'राही: कहानी', राही-कहानी। Rahi | Story by Subhadra Kumari Chauhan, -भारत-दर्शन, bharatdarshan.co.nz/magazine/literature/1198/raahi-kahani-subhadrakumari-chauhan.html. Accessed 17 Sept. 2023.

❖❖❖

आलेख

महामारी और मृत्यु : स्वतंत्रतापूर्व कहानियों के बहाने

❍ रवि कुमार✡

महामारी शब्द की अगर सामान्य रूप से व्याख्या की जाए तो हम यह पाते हैं कि यह एक संक्रामक बीमारी होती हैं जिसमें प्रभावित व्यक्ति के सम्पर्क में आने से संक्रमित व्यक्तियों की संख्या अधिक होती जाती है और प्रभावित क्षेत्रों का प्रसार होता चला जाता है, लोग मृत्यु के ग्रास में चलते चले जाते हैं। इतिहास में ऐसी कई बीमारियाँ फैली हैं जिनका वर्णन इतिहासविद् करते हैं और बताते हैं कि कैसे इसके प्रभाव में आकर गाँव के गाँव और शहर वीरान हो जाते थे। शायद ही कोई वर्ग, समुदाय और उम्र का व्यक्ति इन महामरियों के चपेट में न आया हो और अपनी जान से हाथ न धोया हो। और सच यह भी है कि इन मौतों के सबसे अधिक चपेट में बूढ़े, बच्चे और औरतें आईं।

महामारियों का भावनात्मक और वेदना पूर्ण वर्णन हमें साहित्य में भी देखने को मिलता है, जिसमें दुःख, वेदना, करुणा और दया के भाव ज्यादा देखने को मिलते हैं। साहित्य में इनका वर्णन आत्मकथात्मक संस्मरणों, उपन्यासों, कहानियों, यात्रा साहित्य और कविताओं के माध्यम से हुआ है। कहानियों में हमें महामारियों के ऐसे स्वरूपों का वर्णन मिलता है जो समाज में समय-समय पर आती रही हैं और उनके उपचार के लिए लोक में प्रचलित नुख्शों पर अधिक जोर दिया गया है। जैसे कि प्लेग के सन्दर्भ में भारतीय समाज की पूर्व में यह धारणा रही है कि 'प्लेग सिन्धु नदी को पार करके हिंदुस्तान में नहीं आ सकता है'; चेचक के बारे में यह मान्यता रही है कि यह देवी का प्रकोप है। पर यह भ्रम और मान्यताएँ भी बार-बार टूटी हैं और प्लेग ने दुनियां के साथ ही साथ भारत में भी बहुत से लोगों को मौत के घाट उतारा है। परिवार के परिवार इसकी चपेट में आये हैं, शहर के शहर वीरान हुए हैं, नदियों के किनारे लाशें बिछी हुई पड़ी मिली हैं। प्लेग का प्रभाव और व्यापकता इतनी अधिक हुआ करती थी कि लोग दूसरे की तो छोड़िये, अपने सगे-सबंधियों की लाशों का दाह संस्कार करने से डरते थे और बचना चाहते थे। उनका यह मानना होता था कि अगर एक बार वो भी संक्रमण में आये तो उनको भी अपनी जान से हाथ धोना पड़ेगा। यही कारण है की मृत व्यक्तियों की लाशें कई दिनों तक ऐसे ही पड़ी रहती थीं और वो सड़ने तथा बदबू करने लगती थीं।

महामारी सचमुच भयावह है, तभी तो इन्सान अपनों को बचाने की बजाय मरने के लिए छोड़ देना श्रेयष्कर समझता है। हिंदी में स्वधीनता के पहले महामारी पर आधारित चार प्रमुख कहानियां - मास्टर भगवान दास की 'प्लेग की चुड़ैल'-1902, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की 'वीभत्स'-1929, रजिंदर सिंह वेदी की 'क्वारंटीन'-1940

✡ *रवि कुमार, शोध छात्र, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मोबाइल नं. 7607286980*

और फणीश्वरनाथ रेणु की 'पहलवान की ढ़ोलक' (1944) महामारी को केंद्र में रखकर लिखी गयी हैं। ये चारों कहानियां न केवल अलग-अलग जाति, वर्ग और लिंग का प्रतिनिधित्व करती हैं बल्कि इन पर पड़ने वाले महामारी के प्रभाव और उसकी भयावहता को भी रेखांकित करती हैं। 'प्लेग की चुड़ैल' जमींदार ठाकुर विभव सिंह, उनकी पत्नी, पांच वर्ष का बालक और नौकर-चाकर को केंद्र में रख कर लिखी गयी कहानी है। प्रयाग में प्लेग फैलने के चपेट में आई पत्नी, उनके पति विभव सिंह, बच्चे और उनके परिवेश का बीमार के प्रति किये गये बर्ताव और उनके संवेदनहीनता को बयां करती कहानी है। प्रयाग में जब प्लेग फैला और ठाकुर साहब प्रयाग छोड़कर जाने ही वाले थे कि उनकी पत्नी को बुखार और गले में एक गिल्टी निकल आई। डॉक्टर साहब बीमार को देखते ही कहते हैं कि "यह प्लेग की बीमारी है, आप लोगों को चाहिए की यह घर छोड़ दें। यह कह कर वो चले गए। अब ठाकुर साहब बड़े असमंजस में पड़े। न तो उनसे वहां रहते बनता था न छोड़कर जाते ही बनता था। वह मन में सोचने लगे, यदि यहाँ मेरे ठहरने से बहू जी को कुछ लाभ हो तो मैं अपनी जान खतरे में डालूं। परन्तु इस बीमारी में दवा तो कुछ काम ही नहीं करती, फिर मैं यहाँ रुककर अपने प्राण क्यों खोऊं। यह सोच वह जब चलने के लिए खड़े होते थे तब वह बालक जिसका नाम नवल सिंह था, अपनी माता के मुंह की और देख कर रोने लगता था और जाने से इनकार करता था। बालक था कि वहीं बैठा सिसक-सिसककर रोता रहा।"[1] बहू जी का शरीर जब एकदम शिथिल हो गया तो डॉक्टरों ने दूर से देख कर कहा 'बस अब इनका देहांत हो गया उठाने कि फिक्र करो।' यह सुन सब रोने लगे, आस-पड़ोस के लोग इकट्ठे हो गए, ठाकुर साहब मूर्छित होकर गिर गये। होश में आने पर तीस रुपया दे नौकरों के भरोसे दाह संस्कार छोड़कर दूसरे बंगले में रहने चले गये। नहलाने-कफनाने के दौरान यह कहने के बावजूद कि "इनका शरीर तो अभी बिल्कुल ठंडा नहीं हुआ है और आँखे अधखुली-सी हैं, मुझे भय मालूम होता है।"[2]

पुरोहित जी और नौकरों ने कहा "यह तेरा भ्रम है, मुर्दे में जान कहां से आई। जल्दी? लपेट ताकि गंगा तट ले चलकर इसका सतगत करें। रात होती जाती है, क्या मुर्दे के साथ हम लोगों को भी मरना है! ठाकुर साहब तो छोड़ ही भागे, अब हम लोगों को इन पचड़ों से क्या? मतलब है, किसी तरह फूंक-फांककर घर चलना है। क्या इसके साथ हमें भी जलना है?"[3]

यहाँ सब छुटकारा पाना चाहते हैं। रात होने से पहले मुर्दे को जला दें इसी में सब की भलाई थी। अंततः देर होते देख वे मुर्दे को जलाते भी नहीं बल्कि मुर्दे को गंगा में दूर फेक रुपये आपस में बांटकर घर वापस आ जाते हैं। वह तो ठकुराइन की किस्मत थी कि वो पानी में डूबकर मरी नहीं बल्कि गंगा के एक किनारे जा लगी और गंगाजल के शीतल स्पर्श से उन्हें होश आ गया। इस कहानी में महामारी से हुई मौत को लोग छूने के लिए तैयार नही हैं, बीमार को मौत से पहले ही मरा हुआ या मर जायेगा मान लिया जाता है, कारण कि सबके मन में यह बैठ गया है कि संक्रमित व्यक्ति ठीक नहीं हो सकते हैं और उनको छूने पर हम भी बीमार हो जायेंगे। दरअसल महामारी के दौरान "लोगों को अपनी जान बचाना ही सबसे बड़ी बात हो जाती है, और यह बात लोगों को अक्सर दूसरे के प्रति और अक्सर अपने परिवार के प्रति भी क्रूर बना देती है।"[4]

संक्रमित बीमार व्यक्ति को अच्छा खाना-पानी, दवा-दारू न देकर रक्त सम्बन्धियों और अगल-बगल के लोगों का ऐसा व्यवहार होता है कि बीमार यह मान लेता है कि वह इस लाइलाज बीमारी से नहीं बच सकता और स्वयं भी जीवन की आशा छोड़ देता है। इस कहानी में ठकुराइन स्वस्थ होने के बाद भी निराश होकर सोचती हैं कि "मै अभी तक मृत्युलोक में ही हूँ पर क्या वास्तव में मेरा पुनर्जन्म हुआ है? क्या मै सचमुच चुड़ैल हो गयी हूं, जैसा कि यह स्त्री मुझे देखकर कहती हुई भागी है।"[5]

इसके कारण स्वयं ठकुराइन को भी यह विश्वास नहीं हो पाता कि वह अच्छी हो गयी है। पति और अन्य लोग तो खैर उसे चुड़ैल ही मान लेते हैं जो अपने बेटे को प्यार नहीं बल्कि जान लेने के लिए आई है।

आपदा में अवसर की तलाश करने वाले गरीब और अमीर दोनों हैं, जो प्रभावित या संक्रमित व्यक्ति के सम्पर्क में न आकर वे दूर से काम करते है, वे अवसर को भुना लेते हैं। लेकिन जो संक्रमित व्यक्तियों की तीमारदारी करते हैं, मरने पर ढोने और जलाने का काम अधिक रुपया कमा लेने की लालच में करते हैं वे अक्सर स्वयं और घरवाले को भी महामारी का शिकार बना मृत्यु को प्राप्त करते हैं। बेचन शर्मा उग्र की 'वीभत्स' कहानी का गरीब सुमेरा दो रुपये प्रति मुर्दा मिलने के लालच में मुर्दा उठाने और गंगा में लाशों को फेंकने का काम करने लगता है। लालच में पड़ वह सोचता है कि अधिक से अधिक लोग मरते रहें जिससे कि वह रुपया कमा सके। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र सुमेरा की लालच के बारे में लिखते हैं "सचमुच आठवें दिन सुमेरा की गाड़ी पर गंगा यात्रा करने को उत्सुक ग्यारह मुर्दे तैयार मिले, वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। यद्यपि गाड़ी पर आठ मुर्दों से अधिक के लिए स्थान नहीं था, फिर भी उसने ग्यारहों को लाद लिया। कुछ को लंबे-लंबे रखा, तीन को आगे बेड़े-बेड़े और दो को पीछे तर पर रख रस्सी से बांध दिया। मजूरी के बाईस रुपये लेकर टेंट में संभाले, और एक रुखा, ग्रामीण गाना गाता, बैलों की पीठ पर चाबुक से लात देता हुआ गंगा-तट श्मशान की ओर चल पड़ा। मन ही मन सोचता जा रहा था, कि एक दिन और मजदूरी करने से उसकी थैली में सौ रुपये से ऊपर हो जाएँगे।"[6] सुमेरा रुपये तो कमा लेता है लेकिन संक्रमित होने से स्वयं को बचा नहीं पाता है। उसकी मुर्दों की गिनती भी गड़बड़ा जाती है। सुमेरा को लगता है कि एक अघोरी भूत है, उसकी गाड़ी के एक मुर्दा जो उसकी गिनती में कम हो गया था, उसी का मांस चिमटे से निकाल-निकालकर खा रहा था। वह इतना बदहवाश हो जाता है कि जब वह खाट पर लेटता है तो रुपये की थैली भी नहीं निकाल पाता, बुखार और दर्द का तब उसे अहसास होता है कि तमाम देह में पीड़ा उत्पन्न हो गयी है, कमर में दर्द, बुखार, तो क्या वह बीमार हो गया। वह सोचने लगता है तो वह एकाकी पीड़ा और ज्वर से लिपटा अपना होश-हवाश खो बैठता है।

तीन दिन बाद सुमेरा के घर से भयानक बदबू चारों ओर फैलने लगी। "क्षण भर बाद कपड़े से नाक दबाये, पड़ोसियों ने कोठरी में सुमेरा की फूली और सड़ी लाश देखी। उसका पेट तो भयानक फूलकर विदीर्ण हो गया था, अंतड़ियाँ बाहर झांक रही थी। दाहिना हाथ उसका कमर और थैली पर था, जिसमें मुर्दों की ढोआई के पचहत्तर और बाईस -कुल सत्तानबे रुपये थे।"[7] गरीब सुमेरा जैसे लोग अक्सर कमाने के लालच से स्वयं को बचा नहीं पाते और वे संक्रमण का शिकार हो बिना दवा-दारु, देख-भाल के एकाकी मौत मरने के लिए अभिशप्त होते हैं।

महामारी के दौरान संक्रमित होना बीमारी को अकेले झेलना, उबरना या मरना होता है। प्लेग, हैजा इन्फ्लुएंजा, कोरोना जैसी महामारियां शारीरिक दर्द से कहीं अधिक मानसिक, भौतिक अलगाव के कारण भयावह हो जाती हैं। कोरोना और प्लेग इसके गवाह हैं कि जितनी अधिक मौते, शिनाख्त के तरीकों, निवारण की प्रविधियों, क्वारंटीन के खौफ, अपने-परायों द्वारा साथ छोड़ देने की वजह से हुई उतनी बीमारी से नहीं। 'क्वारंटीन' कहानी का भागू इस सच को बड़ी संवेदनशीलता से उद्घाटित करता है-

"बाबू जी- ये क्वारंटीन तो नरक है!

नरक ! पादरी लावे इसी किस्म के नरक का नक्शा खींचा करता था।

मैंने कहा, "हां भाई, ये नरक से भी बढ़कर है। मैं तो यह से भाग निकलने की तरकीब सोच रहा हूं। मेरी तबीयत आज बहुत खराब है,"

"बाबू जी इससे ज्यादा और क्या बात हो सकती है। आज एक मरीज जो बीमारी के खौफ से बेहोश हो गया था, उसे मुर्दा समझकर किसी ने लाशों के ढेर में ले जाकर डाला। जब पेट्रोल छिड़का गया और आग ने सबको अपनी लपेट में ले लिया, तो मैंने उसे शोलों में हाथ-पावं मारते देखा, मैंने कूदकर उसे उठा लिया बाबू जी! वो बहुत बुरी तरह झुलस गया था। उसे बचाते हुए मेरा दायाँ बाजू बिल्कुल जल गया है,

"और बाबूजी.... " भागू ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, "उसके कुछ देर बाद वो इतना तड़पा कि आज तक मैंने किसी मरीज को इस तरह दम तोड़ते नहीं देखा होगा ... उसके बाद वो मर गया। कितना अच्छा होता जो मैं उसे उसी वक्त जल जाने देता।"[8]

'क्वारंटीन' कहानी का पूरा का पूरा वातावरण, अस्पताल का माहौल, डॉक्टर-नर्स और बीमार व्यक्ति सब भयावह हैं। यह रोगियों में उपचार कम खौफ अधिक भर रहे हैं। ऐसे वातावरण में ठीक हो जाने वाले संक्रमित भी बहुत खौफजदा और डरे हुए हैं। इतना कि बेहोश होकर गिर जाते हैं, उन्हें पागलपन के दौरे भी आने लगते हैं। बहुत सारे संक्रमित व्यक्तियों और उनकी बेरहम मौतों को देखकर स्वयं डॉक्टर भी भागू से अपनी पत्नी को क्वारंटीन में ले जाने से मना करते हुए कहता है "इसे कहाँ ले जा रहे हो?" भागू ने अहिस्ता से जवाब दिया, "क्वारंटीन में।"

"तो क्या अब तुम्हारी समझ में क्वारनटीन नरक नहीं। भागू?" भागू बीमार पत्नी की चारपाई घर में ही रख देता है, थोड़ी देर बाद "भागू की बीवी के लब फड़कने लगे, नब्ज जो कि मेरे हाथ में थी मध्यम होकर सरकने लगी। मेरे अदृश्य दुश्मन, जिसकी आमतौर पे जीत होती थी, फिर उसी तरह से मुझे चारों खाने चित गिराया।

भागू फूट-फूट कर रोने लगा,

वो नजारा कितना दिल दहलाने वाला था, जब भागू ने अपने बिलबिलाते हुए बच्चों को उसकी माँ से हमेशा के लिए अलग किया और मुझे बड़ी विनम्रता के साथ लौटा दिया।।"[9]

क्वारंटीन इतनी खौफनाक और जानलेवा जगह है कि भागू जैसे प्रेम करने वाले लोग अपने घर के बीमार सम्बन्धियों को छुपाने लगते हैं ताकि उन्हें क्वारंटीन की भयावह मौत से बचाया जा सके। स्वयं बीमार भी क्वारंटीन नहीं जाना चाहता क्योंकि उसे वहां की वास्तविकता का अंदाजा है! कोरोना गवाह है कि जितनी अधिक और दर्दनाक मौतें क्वारंटीन के कैम्पों और कमरों में हुई उतनी घरों में नहीं। इस सवाल के कारणों को बड़ी मार्मिकता से तलाश करती है 'क्वारंटीन' कहानी।

गांवों और निम्न परिवारों में ऐसे भी परिवार और व्यक्ति हैं जहाँ उन्होंने संसाधनों के अभाव में संक्रमित व्यक्तियों की तीमारदारी पूरे मन से की है। यही नहीं अपने आस-पास के माहौल में भी बीमारी से लड़ने का हौसला भरते हैं। बीमारी जानलेवा है और दवाओं-व्यवस्थाओं के आभाव में अक्सर वे बच नहीं पाते लेकिन उनकी मौत उतनी दर्दनाक, डरावनी, निराशाजनक, अवशादग्रस्त नहीं होती जितनी की अस्पतालों या अपनों द्वारा बिलगा दिए जाने वाले संक्रमित व्यक्तियों की होती है। 'क्वारंटीन' कहानी की भागू की पत्नी और फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'पहलवान की ढोलक' में पहलवान के दोनों बेटो की मौतें इसका प्रमाण हैं। भागू अपनी पत्नी को बचाने की हर संभव कोशिश करता है और पहलवान अपने दोनों बेटो को ढ़ोल की 'उठा पटक दो' वाला ताल बजाते हुए अंतिम दम तक मौत से लड़ने की चुनौती देता है।

अपने बाप की ढ़ोल और उसके प्रेम के सहारे पलवान के दोनों बेटे जब "क्रूर काल की चपेट में पड़े, असह्य वेदना से छटपटाते हुए दोनों ने कहा था- "बाबा! उठापटक दो वाला ताल बजाओ!" 'चटाक चट धा, चटाक चट धा।'- सारी रात ढोलक पीटता रहा पहलवान। बीच-बीच में पहलवानों की भाषा में उत्साहित भी करता था- "मारो बहादुर!"

....

प्रातः काल उसने देखा- उसके दोनों बच्चे जमीन पर निस्पंद पड़े हैं। दोनों पेट के बल पड़े हुए थे। एक ने दांत से थोड़ी मिटटी खोद ली थी। एक लम्बी सांस लेकर पहलवान ने मुस्कुराने की चेष्टा की थी- "दोनों

बहादुर गिर पड़े !"[10]

मरते यहाँ भी हैं, लेकिन भय और निराशा से नहीं, बल्कि जीवन में आयी एक बीमारी की वजह मात्र से। यही नहीं वे निराश हो जीवन की आस नहीं छोड़ते बल्कि अन्तिम दम तक जीवन के लिए लड़ते हैं। पहलवान न केवल अपने बेटों के लिए बल्कि गाँव के सभी प्राणियों में प्राण फूंकने का काम करता है। पहले अनावृष्ट फिर अन्न की कमी तब मलेरिये और हैजे ने मिलकर गाँव को भूनना शुरू कर दिया और गांव सूना हो चला था, घर के घर खाली पड़ गये थे, रोज दो चार लाशें गिरने लगीं तो इस हाहाकार और हृदय विदारक माहौल में सिर्फ पहलवान की ढ़ोलक ही ललकार कर बीमारी को चुनौती देती रहती थी। "पहलवान संध्या से सुबह तक, चाहे जिस ख्याल से ढ़ोलक बजता हो, किन्तु गाँव के अर्धमृत, औषधि-उपचार-पथ्य-विहीन प्राणियों में संजीवनी शक्ति ही भरती थी। बूढ़े-बच्चे-जवानों की शक्तिहीन आँखों के आगे दंगल का दृश्य नाचने लगता था। स्पंदन-शक्ति-शून्य स्नायु में भी बिजली दौड़ जाती थी। अवश्य ही ढ़ोलक की आवाज में न तो बुखार हटाने का कोई गुण था और न महामारी की सर्वनाश-गति को रोकने की शक्ति ही, पर इसमें संदेह नहीं कि मरते हुए प्राणियों को आँख मूदते समय कोई तकलीफ नहीं होती थी-मृत्यु से वे डरते नहीं थे।"[11]

ये कहानियां ये सबक छोड़ जाती हैं कि इन्सान बीमारी से मुक्ति और मरते समय रुपये-पैसों से स्वस्थ और जीवन नहीं खरीद पाता है। रुपये-पैसों के जरिये महामारियों में संक्रमित बीमारों को अस्पतालों-डॉक्टरों के भरोसे छोड़ना उन्हें मौत के मुंह में भेजना है। कारण कि न तो वहाँ पर्याप्त सुविधाएँ हैं और न ही बीमारी के भय से अस्पतालकर्मी अपनी जान जोखिम में डालकर दवा-दारू और उनके खान-पान का इंतजाम करना चाहते हैं। ऐसे में ये जगहें उनमें अधिक खौफ भरती हैं। जहाँ वह अकेला तिल-तिलकर जीवन की आस छोड़ता हुआ मरता है। मरता हुआ इन्सान अधिक सुकून अस्पतालों और परायों के बीच नहीं बल्कि अपने घरों-गाँवों में अपनों के साथ मरते हुए महसूस करता है।

संदर्भ :

1. अभिनव कदम, संपादक : जय प्रकाश 'धूमकेतु' वर्ष : 24, अंक 41-42 संयुक्तांक, जून 2019-मई 2020, पृ. 92
2. वही, पृ. 94
3. वही, पृ. 95
4. साखी, संपादक : सदानन्द शाही, अंक: 33, अप्रैल 2021, पृ. 57
5. अभिनव कदम, संपादक : जय प्रकाश 'धूमकेतु' वर्ष : 24, अंक 41-42 संयुक्तांक, जून 2019-मई 2020, पृ. 99
6. वही, पृ. 111
7. वही, पृ. 113
8. वही, पृ. 118
9. वही, पृ. 120
10. वही, पृ. 129
11. वही, पृ. 129

❖❖❖

आलेख

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों की संरचना और यथार्थवाद

❍ रंजना सिंह✡

रेणु ने औपन्यासिक शिल्प को एक नया रंग, एक नया स्पर्श और एक नया आयाम दिया। उनकी शिल्प-दृष्टि अन्तर्वस्तु का अनुसरण भी करती है और उसे मांजती चलती है। औपन्यासिक शिल्प एक कला है और उसमें प्रयोगधर्मिता का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक सृजनशील लेखक जो कला के रूपों की संलिष्टता को रचनात्मक स्तर पर अनुभव करता है और निर्मित कृति को उसकी सम्पूर्णता में देखता है, वह शिल्प-संयोजन को एक नया आधार देने की ओर निरन्तर अग्रसर रहता है। रेणु के औपन्यासिक शिल्प को हम इसी सन्दर्भ में देख सकते हें। प्रश्न यह है कि शिल्प-संयोजन क्या है और शिल्प-संयोजन में यदि कोई रचनाकार परिवर्तन करता है तो उसके पीछे उसका मन्तव्य क्या होता है? जवाहर सिंह ने लिखा है : "वस्तुतः उपन्यासकार जिस उद्देश्य से अपनी रचना में प्रवृत्त होता है, यदि वह उसके प्रति अत्यन्त सजग है तो वह वर्ण्य-विषय की उपेक्षा कर के शिल्प-विधि के प्रति न तो आग्रहवान हो सकता, न उसे ऐसा करने का अवकाश ही मिल सकता है। उपन्यास के लेखक के लिए अपने प्रत्येक वैसे शिल्प के प्रति श्रद्धा, तल्लीनता और आग्रह का भाव होना चाहिए, जो उसे अपनी विषय-वस्तु के अन्वेषण और मूल्यांकन में सहयोग दे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि उसे शिल्प के द्वारा अपनी विषय-वस्तु में निहित समग्र अर्थों के विस्तार का अन्वेषण भी करे।"[1] कोई भी कृति किसी विधि से ही अभिव्यक्त होती है और जो विधि जितनी सशक्त, सार्थक और प्रभावोत्पादक होती है, उसमें विन्यस्त अन्तर्वस्तु भी उतनी ही प्रभावशाली होती है। इसीलिए अनेक आलोचकों ने शिल्प की महत्ता को स्वीकार किया है और यह माना है कि शिल्प-संयोजन के अभाव में औपन्यासिक कृति अपने मन्तव्य को सही ढंग से प्रक्षेपित कर पाने में असमर्थ रह सकती है। प्रत्येक कृति, जो अपने नाम को सार्थक करने की अधिकारी है, अपना पृथक नियम रखती है और अपनी अलग प्रकृति का विकास करती है। शिल्प-विधि विषय-वस्तु के प्रति अपनाये गये दृष्टिकोण के सामंजस्य से अभिव्यक्ति के विविध मार्गों की तलाश की एक पद्धति है-ऐसा कुछ आलोचकों का मानना है, किन्तु यह एक दृष्टिकोण भर हो सकता है। उपन्यास-रचना तथा उसके पाठ की एक निश्चित प्रकृति होती है, एक निश्चित दृष्टिकोण होता है। उपन्यासकार अपने दृष्टिकोण के अनुसार अपनी कृति के शिल्प को तय करता है। उपन्यास की शिल्प-विधि को परिभाषित करने की समस्या दोहरी है।

रेणु के उपन्यासों के शिल्प-संयोजन के संदर्भ में यह ध्यान रखना आवश्यकहै कि शिल्प-विधि के लिए

✡ *डॉ. रंजना सिंह, चन्द्रज़ेखर नगर, पल्हनी, आजमगढ़, 276001; Mobile No. 8317020918 Whatsapp No. 9450118718; Email ID : drrsy77@gmail.com*

अंग्रेजी में 'टेकनीक' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग रेणु के उपन्यासों को सही ढंग से विवक्षित नहीं करता। शिल्प-विधि से अभिप्राय कृति के निर्माण की उन सारी प्रक्रियाओं तथा रचना-पद्धतियों से है, जिनके माध्यम से अधिकाधिक संवेद्य, प्रभावी और सौन्दर्यबोधक बनाता है। जवाहर सिंह ने लिखा है कि "वस्तुतः किसी भाव को एक निश्चित रूप देने के लिए जो विधान प्रस्तुत किये जाते हैं, वही उस कला की शिल्प-विधि है, लेकिन इसके साथ यह भी याद रखना आवश्यक है कि यह एक वस्तु-सापेक्ष और परिवर्तनीय प्रक्रिया भी है। इसकी वस्तु-सापेक्ष प्रकृति के फलस्वरूप ही महल, देवालय, स्तूप, मस्जिद आदि अलग-अलग रूपों में पड़ता है। शिल्प के ही माध्यम से हम प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गीत, आख्यान, नाटक, एकांकी, कहानी और उपन्यास के अन्तर को समझ पाते हैं।"[2] इस तरह साहित्य के विविध प्रकारों का नियमन, संयोजन और निर्धारण शिल्प के माध्यम से ही होता है और शिल्प के माध्यम से ही पाठक उसके भीतर पैठ कर उसकी अर्थवत्ता को ग्रहण करता है। शिल्प-विधि की परिवर्तनीयता के फलस्वरूप ही एक युग का साहित्य दूसरे युग के साहित्य के लिए भिन्न दिखाई देता है। उदाहरण के लिए हम देख सकते हैं कि वाल्मीकि ने रामकथा को जिस रूप में प्रस्तुत किया, भवभूति ने उसी रूप में रामकथा के स्वरूप को प्रस्तुत नहीं किया और तुलसीदास ने तो उसकी पूरी संरचना ही बदल दी। इसी तरह ग्रामभित्तिक उपन्यासों की संरचना के क्षेत्र में प्रेमचन्द का अलग स्थान है तो नागार्जुन और रेणु की अलग।

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की यह है कि क्या शैली और शिल्प दोनों एक ही हैं या दोनों में कोई तात्विक भेद है। बहुत से विद्वान शैली को ही शिल्प मान लेते हैं, जबकि पश्चिम में शैली के लिए पैटर्न, क्राफ्ट और रिद्म जैसे शब्द भी प्रयोग में लाये जाते हैं। कभी-कभी शैली को शिल्प-विधि मान लेने से कई भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि दोनों में पार्थक्य है अथवा नहीं! शिल्प-विधि एक व्यापक शब्द है, इसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति और रूपाकारों की समस्त प्रक्रियाओं से है, जबकि शैली का क्षेत्र सीमित है और वह अभिव्यक्ति के एक प्रकार विशेष के रूप में मान्य है। शिल्प-विधि की प्रकृति वस्तु-सापेक्षता से जुड़ी है, जबकि शैली की प्रकृति आत्मपराकता से सम्बद्ध है। शैली का सम्बन्ध शील से भी है, जिसमें रचनाकार का व्यक्तित्व झलकता है। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है : "दरअसल, जब कोई किसी कहानी की भाषा-शैली की प्रशंसा करता है, तो उसके आनन्द का कारण अन्तर्निहित विचार या अनुभूति की कोई विशेषता होती है, परन्तु चूंकि अनुभूतिगत विशेषताओं के नाम देना कठिन है, इसलिए बहुत से लोग भ्रम वश यह समझने लगते हैं कि रसानुभूति का कारण भाषा-शैली है।"[3] इसमें इतना जोड़ना आवश्यक है कि भाषा-शैली भी रसानुभूति में सहायक होती है। शैली को शिल्प-विधि की व्यापक परिधि के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिए-विशेषकर उसके एक तत्त्व के रूप में किसी कृति की उस विशिष्टता को शैली प्रदर्शित करती है, जिसके चलते वह अपने ही समान की अन्य कृतियों से भिन्न दिखाई देती है। शिल्प-विधि को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम उसके बाहरी और भीतरी प्रक्रियाओं को देख सकते हैं। रेणु के उपन्यासों में ये दोनों प्रक्रियाएँ एक सूत्रित होकर व्यंजित होती हैं। आन्तरिक प्रक्रिया का सम्बन्ध रचनारत कलाकार के भीतर वैचारिक स्तर पर उसके अवलोकन-बिन्दु से उत्प्रेरित सम्पूर्ण कृति के आकल्पन या रूपाकार से है।

औपन्यासिक शिल्प के विवेचन के सन्दर्भ में यह भी याद रखना चाहिए कि एक उपन्यासकार अपनी विधायक कल्पना के द्वारा जीवन को नये रूप में प्रस्तुत करता है और ऐसा करते हुए भी वह वास्तव को छोड़ता नहीं है। जो रचनाकार वास्तव को छोड़कर काल्पनिक या भावजगत में विचरण करता है, वह यथार्थवादी दृष्टिकोण अपना ही नहीं सकता और न ही उसकी रचना में यथार्थवादी परिदृश्य की अभिव्यक्ति ही हो सकती है। उपन्यासकार अपनी कला द्वारा सृजित उस जीवन का प्रतिनिधित्व करता है, जो जीवन इस संसार में यथार्थतः भोगा और जिया जाता है। यह जीवन भाषा में व्यक्त होता है। डॉ. आशुतोष राय ने लिखा है : "कोई भी रचना

शब्दों के संयोजन द्वारा ही अपना संसार रचती है। इसलिए उपयुक्त भाषा-माध्यम के अभाव में वह अपने महत्व का एहसास पैदा करना तो दूर, अपने अस्तित्व की सार्थकता तक को प्रमाणित नहीं कर पाती। अपने मनोभावों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए रचनाकार के पास भाषा ही एकमात्र साधन है। भाषा मानव जीवन के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति है। अतएव मानव जीवन में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ भाषा का रूप भी बदलता जाता है। साहित्यिक भाषा के स्वरूप-निर्माण में रचनाकार का अपना व्यक्तित्व भी महत्वपूर्ण होता है।"[4] सम्भवत: यही कारण है कि एक विशेष कालखण्ड के साहित्यकारों की भाषा में विविधता दृष्टिगोचर होती है। रेणु की औपन्यासिक भाषा के विवेचन के सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि उनकी भाषा काल की अपेक्षा स्थान पर अधिक आधारित है। यह वह बिन्दु है, जो उन्हें अन्य आंचलिक उपन्यासकारों से ही नहीं, यथार्थवादी उपन्यासकारों से भी अलग करता है। उन्होंने जिस तरह के कथ्य का चुनाव अपने उपन्यासों में किया है, ठीक उसके अनुरूप ही भाषा की सर्जनात्मकता को भी महत्व दिया है। उनके उपन्यासों की भाषा पर विचार करते हुए यह लक्षित हो जाता है कि वे सजग रचनाकार हैं।

रेणु के उपन्यासों के शिल्प-संयोजन के विवेचन के क्रम में उनके द्वारा प्रयुक्त सार्थक शब्दों के संयोजन को भी धयान में रखना आवश्यक है। उनकी भाषा में अनुभूति और संवेदना का, विचार और कल्पना का अद्‌भुत संयोजन प्राप्त होता है। वे शहरी संवेदना के रचनाकार नहीं हैं, किन्तु उनको पढ़ते हुए शहरी जीवन की अनुभूतियां भी खुलती चली जाती हैं। वे अपने क्षेत्र से सम्बद्ध साधारण लोगों की भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु वे यह भी देखते हैं कि समाज बदल रहा है, नयी शिक्षा के प्रभाव में नये युवक शहरों की ओर आकर्षित हो रहे हैं और पुरानी रूढ़ियाँ धीरे-धीरे टूट रही हैं। रेणु के उपन्यासों की कथावस्तु का सम्बन्ध बिहार के एक खास अंचल से है। उनके जो उपन्यास आंचलिकता की सीमा के बाहर खड़े होते हैं, उनमें भी वह अंचल किसी न किसी रूप में जीवन्त हो ही उठता है। जैसे लगता है कि उनकी स्थानीयता, उनकी अन्तर्वस्तु में अन्तर्भुक्त हो गयी हो। इसलिए स्वाभाविक है कि उन क्षेत्रें में बोली जाने वाली लोकभाषाओं के शब्दों का प्रयोग उनके उपन्यासों में हुआ है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने सायास या चमत्कार पैदा करने के लिए इस तरह का प्रयोग किया है। उनके पात्र अपने परिवेश के अनुरूप जगह-जगह कथ्य को शब्दों में मूर्त्त करते हैं। 'मैला आँचल' 'परती : परिकथा', 'जुलूस', 'दीर्घतपा', 'कलंक-मुक्ति', 'पल्टू बाबू रोड', 'कितने चौराहे' आदि उपन्यासों में भाषायी परिवेश लगभग मिलता-जुलता है, किन्तु उनमें एकरूपता ढूढ़ने वालों को निराशा ही हाथ लगेगी।

फणीश्वरनाथ रेणु जिस समय के उपन्यासकार हैं, वह समय कई दृष्टियों से अपने पहले के समय से काफी भिन्न था। उसके ठीक पहले भारत स्वतंत्र हुआ था। जनता के मन में अनेक आकांक्षाएँ पल रही थीं, सपने फल-फूल रहे थे। उन्हें व्यक्त करने के लिए जिस भाषा की जरूरत थी, वह भाषा रेणु इसलिए इस्तेमाल नहीं करते क्योंकि वे सपने पूरे नहीं हुए। डॉ. आशुतोष राय ने लिखा है कि "स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास की महत्तम उपलब्धि के रूप में इसके भाषिक प्रयोग को परिभाषित किया जा सकता है। आजादी के बाद उपन्यासकारों में जीवन की आत्मीयता से देखने के साथ भाज़ा की जड़ता और परायेपन को तोड़ने का प्रयास मिलता है।"[5] रेणु ने संघर्ष की भाषा का इस्तेमाल किया, किन्तु उसमें सरसता को लुप्त नहीं होने दिया। उनके रचनाकाल में एक ऐसा समय आया, जब भाषा जीवन से कट गई और नये प्रयोगधर्मी रचनाकारों ने अस्तित्ववाद के प्रभाव में मानव-मनोग्रन्थियों में आप को उलझाने लगे। ऐसी परिस्थितियों में रेणु ने भाषा के अपने निजी ठाट को और जनजीवन से उनके सम्बन्ध को टूटने नहीं दिया। उन्होंने अपनी भाषा के साथ अपने आपको हमेशा जोड़े रखा। वे न तो भाषा के डिटेक्टर हैं और न तो इतने सहिष्णु हैं कि अनावश्यक शब्दों को उसमें स्थान देते चले जाएं। स्वाभाविकता उनके उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता है।

दरअसल, रेणु के भाषा-कौशल पर विचार करते हुए यह हमेशा ध्यान रखना होगा कि वे दार्शनिक न थे।

वे एक्टिविस्ट रचनाकार थे और एक्टिविस्ट रचना अपने समय और समाज की जीवन्त भाज़ा से अनिवार्यत: जुड़ा होता है। अपनी कृति द्वारा वह जिस प्रभाव की सृष्टि करना चाहता है, उसमें उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उपन्यास-कला में विषय, पतिपाद्य और देश-काल और समाज का चित्रण होता है। 'मैला आंचल' के एक दृश्य के माध्यम से हम इसे और बेहतर ढंग से समझ सकते हैं : "मां के मरने के बाद बलदेव बहुत दिन तक अजोधी भगत की भैंस चराता था। अजोधी भगत की याद आते ही बलदेव के देह लिए सिहर उठती है। कैसा पिशाच था बूढ़ा! बूढ़ी तो और भी खटास थी, खेकसियारी की तरह हरदम खे-खे करती रहती। दिन भर भैंस चराकर आने के बाद बलदेव की उंगलियां भगत की देह टीपते-टीपते दर्द करने लगती थी।"[6] यह प्रसंग एक दृश्यांकन मात्र नहीं है, बल्कि जीवन की एक बड़े और व्यापक परिदृश्य की ओर संकेत करने वाला है। भाषा का यह कौशल बेजोड़ है, इसमें उसका व्यक्तित्व और भी निखर उठता है। बलदेव का चरित्रांकन भी इससे स्पष्ट होता है, कथा के विन्यास में भी यह भाषा अपनी भूमिका निभाती है। यही यथार्थ भाषा है। ब्रेख्त ने कहा था कि यथार्थ अन्तर्वस्तु के चित्रण के लिए यथार्थ भाषा की जरूरत होती है-रेणु ने इस प्रसंग के माध्यम से इस कथन का अक्षरश: पालन किया है। रेणु के उपन्यासों की भाषा कथ्य के अनुरूप बदल जाती है।

रेणु ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिदृश्य की रचना करते हुए भाषा के अनेक रूपों का प्रयोग किया है। उपन्यास की सामाजिक यथार्थवादी शाखा के विभिन्न स्कूलों में मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक कृतियों में भाषा की भिन्नता स्पष्टत: परिलक्षित है। रेणु के व्यक्तित्व का भी प्रभाव उनके उपन्यासों की भाषा-संरचना पर पड़ा है। जिस सामाजिक परिवेश और वातावरण की प्रस्तुति उपन्यास के द्वारा हो रही है, उसी के अनुरूप भाषा की संरचना उपन्यास की सफलता है। रेणु इस दृष्टि से बिल्कुल ही स्कल उपन्यासकारों की श्रेणी में गिने जाने योग्य है। उन्होंने लिखा है कि "सचमुच प्यारू डाक्टर का पुराना नौकर है। टेबुल-कुर्सी ठीक से लगा दिया है। तीन पैर वाली लोहे की सीढ़ी पर पानी का ठेला रख दिया है, सीढ़ी में ही लगी हुई गोल कड़ी में ललमुनिया का कठौत बिठा दिया है। ढोल में कल लगा हुआ है। कल टीपने से पानी गिरने लगता है। बक्से से गमछा निकालकर वहीं लटका दिया है। रस्सी-बकरी की अंतर्डी का भीतरी हिस्सा जैसा रोयेदार होता है, वैसा ही गमछा है। साबुन? साबुन नहीं है? अरे, कपड़ा धोने वाला साबुन नहीं, गमकउवा साबुन चाहिए, भगत की दुकान में गमकउवा साबुन कहां से आयेगा! कटिहार में मिलता है।"[7] यह यथार्थवादी भाषा का अद्‌भुत उदाहरण है, जिसमें कथा-विन्यास की अनेक सम्भावनाएं और संकेत अन्तर्निहित हैं। इससे पता चलता है कि डाक्टर की रुचि क्या है। उसके नौकर की स्थिति क्या है! किस तरह के रहन-सहन के बीच डाक्टर गांव के लोगों से मिलने-जुलने की प्रक्रिया अपनाता है। तहसीलदार साहब की बेटी कमली गमकउवा साबुन लगाती है और प्यारू उसी के माध्यम से गमकउवा साबुन के बारे में जानने लगा है। तहसीलदार साहब कहते हैं, भुरुकुआ उगने के पहले ही बैलगाड़ियों की रवाना कर दिया। साथ में गया है, अलगू चौकीदार। सारा गांव महक रहा है। मेले में ठीक ऐसी ही महक रहती है। तहसीलदार साहब के गुहाल में हलवाई लोग सुबह से ही पूड़ी-जलेबी बना रहे हैं। पूड़ी बनाकर ढेर लगा दिया है। गांव के बच्चे सुबह से जमा हैं। राजपूत और कायस्थों के बच्चे दूसरे टोले के बच्चों को उधार नहीं जाने देते हैं। यह भाषा अपने आप में इतनी समर्थ है कि इस पर अलग से कुछ कहने की जरूरत महसूस नहीं होती।

लोकभाषा की अभिव्यक्ति जितनी समर्थता के साथ रेणु करते हैं, उतनी समर्थता के साथ किसी दूसरे यथार्थवादी उपन्यासकार ने किया हो, इसका उदाहरण कम मिलता है। उनकी गहरी सम्बद्धता और उसे कथा बांधने की लालसा ने उन्हें सबसे पहले बह भाषायी यात्रा शुरू करने की प्रेरणा दी थी। इसीलिए उन्हें ही लोकभाषा के उस अक्षय भण्डार की चाभी सर्वप्रथम मिली। जवाहर सिंह ने लिखा है : "रेणु के प्रथम दो

उपन्यासों की इतना विस्तृत चर्चा की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हिन्दी में आंचलिक उपन्यास विधा के प्रारम्भिक चरण में लिखे गये ये उपन्यास आंचलिक भाषा-शिल्प की दृष्टि से इतने सफल और श्रेष्ठ प्रमाणित हुए कि बाद में लिखे जाने वाले आंचलिक उपन्यासों के लिए ये प्रेरणास्रोत ही नहीं, एक तरह से आदर्शन भी बन गये। कई उपन्यासों में तो सीधा ही इनका अनुकरण हुआ और अनुकरण न करने वाले अन्य अनेक उपन्यासों पर भी इनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।"[8] बात यह है कि 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' ने किसी न किसी रूप में हिन्दी की सम्पूर्ण आंचलिक उपन्यास-विधा को प्रभावित किया है तथा सही दिशा निर्धारित करने में प्रकाश स्तम्भ की भूमिका निभायी है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' ने सम्पूर्ण भाषायी शिल्प को एक नया आधार दिया और नये कीर्तिमानों को स्थापित किया। पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा के शब्दों और मुहावरों को वे उसी सांकेतिकता के साथ व्यक्त करते हैं, जो उनकी मौलिक विशेषता है। 'परती : परिकथा' के एक दृश्य से इसको समझा जा सकता है : 'सेमल का बाग आज भी है। हर पांच-सात साल के बाद नयी पौध। सात साल पहले तक दियासलाई कम्पनी का ठेकेदार आया और सेमल-जिसके फल को गिलहरी भी न खाये, जिसकी लकड़ी से कोई मुर्दा भी न जलाये, शीशम के दर बिकने लगा, लेकिन इसी को कहते हैं तकदीर का खेल। सेमलबनी के जमींदार के अधपगले पुत्र जित्तन बाबू ने साफ जवाब दे दिया-एक भी पेड़ नहीं बेचूंगा। साठ हजार रुपये की आखिरी डाक देकर कम्पनी का ठेकेदार चला गया।"[9] रेणु ने भाषा का कितना खुबसूरत उपयोग किया है, जिसमें कथा के संकेत गुंथे हुए हैं। इस उपन्यास के नायक जित्तन बाबू हैं, जिन्हें अधपगला कहा गया है क्योंकि उन्होंने धन पर लात मार दिया था और अपने देश और समाज के बारे में वे सोचने लगे थे। जित्तन बाबू का परिवार पुराना है। परानपुर गांव के एक खंडहर जैसे मकान की एक कोठरी में बैठकर जित्तन बाबू यानी श्री जितेन्द्रनाथ मिश्र जी एकटक खिड़की से देख रहे हैं-पोखरे में सुपारी, नारियल, साबूदाना तथा यूकिलिप्टस के वृक्षों की परछाइयों को हल्की चाँदनी की चदरी धीरे-धीरे बिला रही है। कमरे में हरिकेन का प्रकाश है। दीवार पर देंगा की एक तस्वीर कापी फ्रेम में लटकी है। इस तरह की भाषा का संयोजन रेणु जगह-जगह करते हैं।

'जुलूस' की भाषा में आचंलिकता का निर्वाह उस तरह नहीं हुआ है, जिस तरह 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' में हुआ है। इसमें रेणु ने लोकोक्तियों का उपयोग खूबसूरत अंदाज में करते हुए भाषा को नयी रवानी प्रदान की है। 'काला अक्षर भैंस बराबर' तथा 'चढ़िके पेड़ सुजान' जैसी उक्तियों को एकसाथ व्यक्त करने की कला में उन्हें महारत हासिल है। 'लाला, औरत न हुई धनहर जमीन हुई'। 'रजिस्ट्री करके दखल दहानी', 'टाइटिल सूट-बेदखली', जैसे पदों का प्रयोग करके रेणु ने भाषा को कलाकत्मकता प्रदान करने में अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि आंचलिक भाषा को क्लिष्ट कहना सही नहीं है क्योंकि जिस किसी शब्द से भी हमारा परिचय नहीं होता, वह शब्द चाहे आंचलिक हो, चाहे अनांचलिक, हमारे लिए दुरूह होता है। इस उपन्यास में हिन्दी, बंगला तथा मैथिली के शब्द अपनी-अपनी जगह भावाभिव्यक्ति में सफल सिद्ध होते हैं। छाया-बाजा केश, तीन बंगाल देश, साठे पर पाठा, धन धरावे तीन नाम, धन्नू धन्नवा धनेसर नाम, जैसे पद इस उपन्यास की भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि ही करते हैं। इसी तरह डूब कर पानी पीयो, एक अनार सौ बीमार, गंगा स्नान और सुगठी का व्यापार जैसे मुहावरे, वाक्य और पद के प्रयोग से रेणु ने इस उपन्यास की भाषा को व्यंजक बनाने का प्रयत्न किया है।

'दीर्घतपा' की भाषा पर यदि गौर करें तो यह तथ्य उभरकर आता है कि इसमें रेणु ने भाषा के प्रति कोई खास सजगता नहीं दिखाई है और न अलग से कोई प्रयोग ही किया है। भाषा की दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों की अपनी विशेषता होती है और अनांचलिक उपन्यासों की अपनी अलग विशेषता होती है, किन्तु रेणु के उपन्यासों से गुजरते हुए कभी-कभी यह भेद मिट जाता है और लगता है, जैसे रणु ने अपनी एक विशिष्ट भाषा का अपने

लिए आविष्कार कर लिया हो। 'दीर्घतपा' में रेणु ने आंचलिक और मानक हिन्दी भाषा के शब्दों का अवसरानुकूल प्रयोग किया हो। कुन्ती देवी इस उपन्यास की एक पात्र है, जो ग्रामीण अंचल में रहने वाली है। वह कहती है, 'क्या तंग करती हूँ।' यह बिल्कुल सामान्य भाषा है, किन्तु शारदा कुमारी अपनी भाषा में हर बात के लिए 'अथि' का प्रयोग करती है, जिससे उसकी बोली हास्यास्पद लगने लगती है। बेला और सरफराज खांके बीच होने वाले संघर्ष को रेणु ने अधिक जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि रेणु के उपन्यासों में भाषा उनके कथ्य का अनुसरण करती है और उनकी शैली उन्हें विशिष्ट पहचान दिलाती है।

किसी भी उपन्यास में कुछ घटनाएँ किसी न किसी स्थान पर घटती हैं और कुछ लोगों के द्वारा घटित होती हैं। जिन व्यक्तियों के द्वारा वे घटनाएँ घटित होती हैं, वे व्यक्ति ही औपन्यासिक भाषा में पात्र या चरित्र कहलाते हैं। ये पात्र या चरित्र उपन्यासकार की कल्प-सृष्टि भी होते हैं और वास्तविक दुनिया के अंग भी होते हैं, पर हर अवस्था में वे उपन्यासकार के दृष्टिकोण के अनुसार ही मूर्त्त होते हैं। इस बिन्दु पर उपन्यासकार को पूरी सावधानी बरतनी पड़ती है। इसलिए एक यथार्थवादी उपन्यासकार अपने पात्रों के साथ बहुत छेड़छाड़ करना पसन्द नहीं करता, किन्तु कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि जब उपन्यासकार को अपने हिसाब से पात्रों का ले चलना अनिवार्य हो जाता है। फार्स्टर कहते हैं कि पात्र एक सृष्टि के भीतर की सृष्टि होते हैं और जब उपन्यासकार के साथ उनकी ठीक-ठीक संगति नहीं बैठती तो वे या तो भाग जाते हैं या फिर सारी संरचना को ही अव्यवस्थित कर देते हैं। समस्या यह है कि यदि उन्हें पूरी स्वतंत्रता दे दी जाय तो वे रचनाकार के नियंत्रण से बाहर चले जाते हैं और यदि उन पर अंकुश रखा जाय तो वे रचना की अंत:प्रकृति को धीरे-धीरे क्षरित कर देते हैं। इसलिए उपन्यासकार को पात्रों या चरित्रों के चयन अथवा सृजन में अतिरिक्त सावधानी बरतनी पड़ती है।

रेणु के पहले दोनों उपन्यासों में पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इसका कारण यह है कि वे अपने अंचल को जीवंत करने का प्रक्रिया में टाइप और विशिष्ट दोनों प्रकार के चरित्रों का चयन और सृजन करते हैं। 'मैला आँचल' में गांव का शायद ही कोई चरित्र किसी न किसी रूप में मूर्त्त होने से छूट गया हो। इस उपन्यास में अंधे महन्थ और अबोध बालिका लक्ष्मी की कहानी दर्दनाक है। बालदेव भी शोषण का ही शिकार है और बाद में उसके चरित्र में परिवर्तन आने का संकेत दिखाई देता है। इस उपन्यास में डॉ. प्रशान्त विशिष्ट पात्र है, जो साधारण जीवन में भी कभी-कभी प्राप्त हो जाते हैं। वह आदर्शवादी राजनीति का प्रतीक है। रेणु ने डॉ. प्रशान्त के चरित्र को जिस तरह विन्यस्त किया है, वह हिन्दी उपन्यास साहित्य में विलक्षण है। इस उपन्यास में एक चरित्र है बलदेव जी, जो मेरीगंज की कांग्रेस पार्टी के सर्वेसर्वा हैं, किन्तु वे जनता को जागरूक कर पाने में असमर्थ हैं। खालसीजी, ज्योतिषीजी जैसे पात्र भी हैं, जो जादू-टोना में गहरा विश्वास करते हैं। रेणु ने मेरीगंज में व्याप्त अंधाविश्वासों को चित्रित करने के लिए ऐसे पात्रों का चयन किया है। हिन्दुओं की धार्मिक आस्था का लाभ उठाकर महन्थ लक्ष्मी का शोषण करता है। लक्ष्मी का बाप सेवादास उसके जाल में फंस जाता है। रेणु ने लक्ष्मी के माधयम से मेरीगंज में व्याप्त अनैतिकता और व्यभिचार का घृणित पक्ष उजागर किया है। उन्होंने यह भी दिखलाया है कि सेवादास की मृत्यु पर आचार्य गुरु का संदेश लेकर आने वाला साधु भी लक्ष्मी के कारण ही महन्थ बनना चाहता है।

रेणु ने 'मैला आंचल' में सहदेव मिश्र और फुलिया के रास-रंग को प्रस्तुत कर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कैसे बड़ी जाति के लोग छोटी जाति की स्त्रियों का उपयोग करते हैं। मंगला देवी के अनुभव के माध्यम से भी रेणु ने स्त्री जीवन की अवस्थितियों को खूबसूरती के साथ प्रस्तुत किया है। डॉ. इन्द्रप्रकाश पाण्डेय ने लिखा है : "प्रश्न यह उठता है कि क्या यह इतना आसान है, जितना यहाँ वर्णित हुआ है! बाबू-बबुआन छोटी जाति के मोहल्लों में जाकर यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। अपवादस्वरूप ऐसी घटनाएँ होती जरूर हैं, जिन

पर बड़ी ही सख्त टीका-टिप्पणियाँ होती हैं और पंचायत द्वारा सजाएँ दी जाती हैं, जिसका वर्णन यहाँ भी हुआ है। छोटी जातियों में नारी सम्मान का सवाल अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी के सहारे वे अपने को इज्जतदार कह सकते हैं- आखिर धन-सम्पत्ति का तो कोई भरोसा नहीं और जब छोटी जातियाँ अपने पद को ऊँचा उठाने की कोशिश कर रही हैं और सवर्णों की तरह जनेऊ पहनने लगी हैं तो ऐसे अपमानजनक सम्बन्धों को कदापि नहीं होने देंगी। उन्हें भी अपनी बदनामी और अपवाद का भय है और जब जाति के साथ चलना है तो नक्कू बनकर जीना पसंद नहीं करेंगे।[10] इस कथन में सरलीकरण और सामान्यीकरण स्पष्ट है। रेणु जिस काल की कथा कह रहे हैं, उस काल में छोटी जातियों में आत्मसम्मान की भावना जग तो रही थी, किन्तु इतनी नहीं कि पूंजीभूत होकर बड़ी जातियों की ज्यादतियों का मुकाबला कर सकें। मंगला देवी विधवाश्रम में रह चुकी हैं और वे स्पष्ट कहती हैं कि औरत होना चाहिए, रूप और उम्र की कोई कैद नहीं। बावनदास का बलिदान निष्फल जाता है क्योंकि उनकी चारित्रिक दृढ़ता किसी तरह का परिवर्तन उपस्थित नहीं कर पाती। तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद मंजा हुआ खिलाड़ी है और वह अवसर को पहचानने में माहिर है। विधवा पार्वती की मां के प्रति गांववालों का विश्वास है कि वह डायन है। कायस्थ टोली और राजपूत टोली दोनों को सलटा लेने में विश्वनाथ प्रसाद का कोई जवाब नहीं है। खेलावन सिंह बलदेव जी के साथ हैं, किन्तु गांव वाले उनके अनशन का मजाक उड़ाते हैं। इस तरह 'मैला आँचल' में रेणु ने पात्रों का अपने कथ्य के संदर्भ में सार्थक उपयोग किया है।

'परती : परिकथा' में भी पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है क्योंकि उन्होंने जनजीवन के विभिन्न स्तरों के प्रतिनिधियों को समाहित करने का प्रयत्न किया है। अंचल का जीवन विशाल होता है और उस जीवन-पटल से इनका चयन करते हुए रेणु ने रैखिक पद्धति नहीं अपनायी है, बल्कि वृत्ताकार पद्धति अपनायी है। ग्राम्यांचल के किसान, मजदूर, उपेक्षित, शोषित, पिछड़े लोगों के साथ ही जमींदार, महन्थ, शिक्षित युवा वर्ग, नारी-समुदाय सभी का चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। इस आधार पर कह सकते हैं कि यह उपन्यास अपने अंचल के समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। रेणु के व्यक्तिवादी और टाइप दोनों प्रकार के चरित्रों का चयन और सृजन किया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'परती : परिकथा' के पात्रों और चरित्रों के विवेचन में प्रायः नकारात्मकता का समावेश ही देखा है। गांव के लोग यदि अशिक्षित हैं, तो एक रचनाकार उन्हें अशिक्षित ही दिखायेगा। उपन्यास का हीरो है जित्तन। जमींदारी खत्म हो गयी है, फिर भी सेमल वन पर उसका कब्जा है। वह अपनी माँ के आंचल में बंधा हुआ है। वह विचारशील नौजवानों के मन में प्रेरणा भरता है। एक अनुभूति की सृष्टि करता है कि समाज को बदला जा सकता है। राजनीतिक स्तर पर अनेक विसंगतियाँ हैं। किसान आपस में झगड़ा करते हैं। कुबेर सिंह ने प्यार से पुचकार कर 'लव' का सिगनल दिखाया था। नुकीली दाड़ी वाले मकबूल और लुत्तो की स्थिति जित्तन से अलग है। लुत्तो जटिल पात्र है, जिसके माधयम से पूरे उपन्यास को समझा जा सकता है। रेणु समाजवादी कार्यकर्ता के रूप में सक्रिय थे, स्वाभाविक है कि उनकी दृष्टि सामाजिक चरित्रों पर अधिक गहरायी से पड़ी है।

'परती : परिकथा' में नारी पात्रों की संख्या कम है, किन्तु जितनी है, वह ज्यादा सार्थक और महत्वपूर्ण है। तजमनियां अत्यन्त खूबसूरत है। मलारी अलग कोटि की महिला है, सारे परानपुर के गांव के लोग मानते हैं कि ताजमनी अद्वितीय सुन्दर है। मलारी अपनी अस्मिता के प्रति सजग रहती है और एक तरह से वह कभी-कभी चुनौती भी पेश करती है। जित्तन पर लोग ढेले फेंकते हैं, लेकिन बहुत जल्दी अपनी गलती महसूस कर लेते हैं। जित्तन नाटक की तैयारी से ही मन की परती को छू लेता है। हरिजन कन्या मलारी के वर्ण-विरोध के कारण लोग नाराज थे। रेणु ऐसे चरित्रें को प्रस्तुत करते हैं, जो अपनी विशिष्ट पहचान छोड़ जाते हैं। उन्होंने लिखा है कि "सुधाना अपनी किताब ले आया और लालटेन के पास पढ़ने बैठा। ताजमनी उठी और घर के अन्दर जाकर माँ काली की तस्वीर के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी-'श्याम! माँ! उसका एक रोम भी न कलपे। जिद्दा

का अमंगल न हो। मुझे जितना भी दुःख देना है दे, उसके बदले।' सुधना फूफेरा भाई है, ताजमनी के अनाथ भाई को ले आयी है लहेरियासराय से। सुधना को स्वर्ग मिला है। जन्म लेने के बाद इतना प्यार उसे कभी न मिला।"[11] ताजमनी या मलारी जैसे चरित्रों की सृष्टि के माध्यम से रेणु ने एक नये किस्म के चरित्र पाठक की सृष्टि हैं, लेखक की नहीं। उपन्यासकार को महज यही करना है कि वह उन्हें सबल रेखा दे दे। पाठक उनसे सहयोग करेगा, ताकि उसे निश्चय हो जाये कि वह वास्तविक व्यक्तियों के साथ है। रेणु के उपन्यासों में इस तथ्य की सार्थकता दिखायी देती है। 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' की चरित्र-सृष्टि की सर्वप्रमुख विशेषता भी यही है कि सभी पात्रों का अंकन सबल रेखाओं से हुआ है। लेखक ने चरित्रों के शारीरिक वर्णन की ओर भी ध्यान दिया है, पर मुख्यतया उसने उनकी आत्मा को गढ़ने का प्रयास किया है। कुछ पात्र गांव में व्याप्त अन्धाविश्वास, जादू-मंतर, भूत-प्रेत की भावना के परिचायक हैं। बालदेव, कालीचरण, लुत्तो, रामनिहोरा, मकबूल, तारा बाबू आदि पात्र हैं, जो विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थिति को व्यक्त करते हैं। इसी तरह फुलिया, सहदेव मिसिर, रमजुदास की स्त्री, खलासी, गेंदाबाई, बिजलीबाई, चुनमुनबाई, सामबत्ती जैसे पात्र गांव के झगड़ों और विकृतियों को दर्शाते हैं तो डाक्टर प्रशान्त और जित्तन गांव के प्रति सन्नद्ध नजर आते हैं।

'जुलूस' में रेणु ने पात्रों के चयन और सृजन की प्रक्रिया को आंचलिक उपन्यासों के पात्रों के चयन और सृजन की प्रक्रिया से अलग स्त पर विन्यस्त किया है। इसका कारण यह है कि इस उपन्यास का कथ्य बदला हुआ है। इसमें पात्र योजना भी अलग है। आंचलिक उपन्यासों में पात्र-योजना का वैशिष्ट्य होता है, उसमें ग्राम्य जीवन का चित्रण करना अनिवार्यतः निहित होता है, किन्तु अनांचलिक उपन्यासों में ऐसी कोई विवशता नहीं होती है। इस उपन्यास की नायिका है पवित्र। रेणु ने पूरे उपन्यास में पवित्र। रेणु ने पूरे उपन्यास में पवित्र के चरित्र को जिस तरह विश्लेषित किया है, उसके आधारपर यह निष्कर्ष निकलता है कि वह कमजोर, कायर और डरपोक नहीं है। लोग उसे जीने नहीं देंगे, इस भय से वह विवाह करने से इन्कार नहीं करती, बल्कि वह स्वतंत्र रहकर समाज-सेवा करना चाहती है। पुरुष पात्रों में पण्डित राय चौधरी, गोड़ियर गांव के दूहने वाले हैं, उनकी सारी सम्पत्ति तालेवर गोढ़ी के यहाँ गिरवी पड़ी है। परिवार की सम्पत्ति स्वाहा करने वाला उसका बड़ा बेटा तेल-नून की दुकान करता है। मछली घर से लापता है। पण्डित चौधरी अपने ज्येष्ठ पुत्र को कोसते हैं। तालेवर गोढ़ी का स्थान भी पात्रों में प्रमुख है। वह बहुत अन्धविश्वासी है। जयराम सिंह तालेवर की कॉलोनी में रहता है। कीर्तन सुनने के बहाने जाता है और मौका पाकर पवित्र पर मिट्टी फेंक देता है। धानु टोली का मोहन वफादार सरकारी आदमी है। कासिम दुष्ट चरित्र एवं कामी पुरुष है। गोपाल पाइन बहुत कम बोलने वाला और पढ़ा-लिखा आदमी है और गांव की स्थिति को लेकर चिन्तित रहता है।

'दीर्घतपा' में भी रेणु ने पात्रों के चरित्र-विन्यास में सर्वथा नयी पद्धति का उपयोग किया है। यह नारी प्रधान उपन्यास है, जिसकी नायिका है बेला गुप्ता, जो कहती है कि भारत में सबसे पहले नारी की ही आरती उतारी जायेगी। वह भी अनेक विसंगतियों का शिकार होती है। राजनीतिक क्रांतिकारी पार्टी से जुड़ती है। देश और समाज के विकास के बारे में सोचती है, किन्तु अक्सर ठगी जाती है। इस उपन्यास की एक और महत्वपूर्ण नारी पात्र है, रमला बनर्जी। रमला बनर्जी के बारे में स्वास्थ्य मंत्री ने अपने भाषण में कहा था कि बांकीपुर के बैरिस्टर श्री नागेन्द्र बनर्जी की पत्नी को मैं उस समय से जानता हूँ, जब वह भागलपुर कालेज में पढ़ती थी। खेलकूद से लेकर समाजसेवा और सार्वजनिक कार्यक्रमों में धूम मचाने वाली मिस रमला बनर्जी को लोग भूल गये हैं। इनकी प्रशंसा राजेन्द्र बाबू ने भी की थी। रमला दीदी के माध्यम से रेणु ने अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास में एक और स्त्री पात्र है, पायलट कुमारी वीणा, जिसने कहा था कि रमला मौसी नहीं होतीं तो मैं किसी साहू जी के आधा दर्जन बच्चों की बीमार माँ होती और रमला मौसी के किसी मेटरनिटी सेन्टर में दवा के लिए रिरियाती फिरती। एक और महत्वपूर्ण चरित्र इस

उपन्यास में है, जिसके आसपास उपन्यास घूमता है। उस चरित्र का नाम है, ज्योति आनन्द। ऐसा प्रतीत होता है कि रमला और बेला के चरित्र को निखारने के लिए ही रेणु ने ज्योति आनन्द जैसे चरित्र की सृष्टि की है।

बहुत से आलोक संवाद-योजना को भाषा-शैली के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि औपन्यासिक कृति में संवाद-योजना का अलग महत्व है। जहाँ रचनाकार घटनाओं के माध्यम से, विवरणों के माध्यम से, सूचनाओं के माध्यम से, चरित्र-निरूपण के माध्यम से अपनी बात को स्पष्ट नहीं कर पाता, वहाँ वह संवाद-योजना का सहारा लेता है। औपन्यासिक क्रिया-व्यापार, जो लेखक का मानस-संसार ही है, वे पाठक को विश्वसनीय प्रतीत हो, इस कारण कथोपकथन का उपयोग वह करता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कथोपकथन में पात्रनुकूल, भावात्मकता, विचारात्मकता, संक्षिप्तता, तीव्रता, नाटकीयता आदि गुणों का समावेश कर रचनाकार संवाद-योजना सार्थक और उद्देश्यपरक बनाता है। इसी विशिष्टता के कारण कथोपकथन उपन्यास को प्रभावोत्पादक बनाने में सहायक होता है। सच तो यह है कि औपन्यासिक शिल्प के सभी तत्वों को संवाद-योजना जोड़ने में सहायक की भूमिका निभाती है। धीरेन्द्र वर्मा तो संवाद को उपन्यास के लिए के अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं। उपन्यासकार कभी-कभी पात्रों के भीतर चल रहे घात-प्रतिघात को व्यक्त करने के लिए भी संवादों का सृजन करता है, जिसे स्वगत वार्तालाप या स्वगत कथन कहा जाता है। इस संदर्भ में यह धयान रखना चाहिए कि यदि देश, काल और संस्कृति का कोई प्राणी किसी से किसी भी प्रकार की बातचीत करता है तो वह अपनी स्वाभाविक भाषा में ही अपने को प्रस्तुत करता है।

दूसरी ओर कुछ विचारक ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं कि संवाद औपन्यासिक तत्वों के अन्तः संघटन के बीच रखना चाहिए। औपन्यासिक शिल्प के विधायक तत्वों का विश्लेषण करते समय बहुत से विद्वानों ने संवाद-योजना को एक अलग तत्व के रूप में मान लिया है। जवाहर सिंह का विचार है कि "संवाद या कथोपकथन उपन्यास का वैसा अपरिहार्य तत्व नहीं है, जैसा कथा, चरित्र या देश-काल आदि। कथोपकथन या संवाद नाटक का अपरिहार्य तत्व है, पर उपन्यास में उसकी स्थिति वैकल्पिक ही हो सकती है। बहुत से ऐसे इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक या आत्मकथात्मक उपन्यास है, जिनमें संवाद की स्थिति ही नहीं आयी है या आयी भी है तो इतनी अल्प मात्र में कि उसके आधार पर उसे स्वतंत्र तत्व नहीं माना जा सकता। वैसे कोई पात्र अपने आपसे ही कोई बात कर रहा है या सोचने-विचारने और आत्मचिंतन के क्रम में स्वयं से तर्क-वितर्क कर रहा है, इसको भी अगर संवाद मान लेने की व्यापक उदारता दिखलायी जाये तो बात दूसरी है, लेकिन संवाद से सामान्यतः दो व्यक्तियों या पात्रों का पारस्परिक वार्तालाप समझा जाता है।"[12] इस कथन पर यदि गौर करें तो इसमें निहित अन्तर्विरोध उपन्यास में संवाद-योजना के महत्व को रेखांकित करने के लिए काफी है। संवाद दो व्यक्तियों के बीच ही नहीं होता है, संवाद अपने आपसे भी होता है, प्रकृति से भी होता है और विचार-प्रक्रिया में भी संवाद के तत्व पाये जाते हैं। उपन्यास में जब भाषा-शैली का विश्लेषण किया जाता है तो यह स्पष्ट होता है कि उसके दो रूप होते हैं। एक रूप उपन्यासकार द्वारा कथा कहने, वर्णन करने, पात्रों के परिचय देने या देश काल का चित्र खींचने-उभारने में दिखायी देता है और दूसरा रूप विभिन्न पात्रों के पारस्परिक संवाद प्रकट होता है। उपन्यासकार के वर्णन और चित्रण की भाषा-शैली में भी परिवर्तन होता है, पर यह लगभग सम्पूर्ण उपन्यास में एक जैसा नहीं होता। अलग-अलग उपन्यासों में वार्तालाप की स्थिति अलग-अलग होती है। इसलिए औपन्यासिक संरचना के अन्तर्गत संवाद-योजना को न रखकर उस पर सही ढंग से विचार नहीं किया जा सकता।

रेणु ने कथ्य के अनुकूल और दृश्यों के अनुकूल संवादों का संयोजन किया है। जब डाक्टर और कमली बातचीत करते हैं तो संवाद का लहजा बदल जाता है, किन्तु जब कालीचरन मंगला से मिलता है, तब संवाद का लहजा दूसरा हो जाता है। कालीचरन को एक पुराने रेलवे क्वार्टर के अन्दर वाले कमरे में बिठा कर मंगला लोटा-गिलास लेकर पानी के नल पर चली जाती है। कालीचरन देखता है-चरखा है, धुनकी भी है, खाट पर

कम्बल के ऊपर सफेद चादर है। कालीचरन हाथ में गिलास लेकर मंगला की ओर टकटकी लगा कर देखता है। इसी बीच वह देखता है कि दरोगा पिस्तौल ताने खड़ा है। दरोगा मंगला से पहले से परिचित था। वह कहता है कि इस साले की दाढ़ी नोच लो। मंगला झट से दरवाजा बन्द कर देती है। ऊपर से बन्दूक के कुन्दे जड़ रहे हैं काली के कन्धे पर! वह शरबत का डकार लेते हुए पुलिस-लारी पर जा बैठते हैं। कातिक महीने के कागजी नीबू में कितनी सुगंध होती है! सिर से झर-झर खून गिर रहा है, लेकिन, उसका सारा शरीर संतुष्ट है, शून्य है। 'परती : परिकथा' में रेणु ने अधिकतर वर्णनों और विवरणों से काम लिया है। जरूरत पड़ने पर अपनी ओर से भी उन्होंने बहुत सी ऐसी बातें कही हैं, जिनसे कथा का सूत्र आगे बढ़ता है, किन्तु जहाँ वे देखते हैं कि वर्णन, विवरण, सूचना और कथावाचक के माध्यम से चीजें स्पष्ट नहीं हो पा रही हैं, वहाँ वे संवादों का सहारा लेने पर बाध्य होते हैं।

'जुलूस' में रेणु ने संवाद-योजना का अलग ठाट प्रस्तुत किया है। इसमें संवाद का महत्व निर्विवाद रूप से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है, जिनसे कथा का सूत्र आगे बढ़ता है, किन्तु जहाँ वे देखते हैं कि वर्णन, विवरण, सूचना और कथावाचक के माधयम से चीजें स्पष्ट नहीं हो पा रही हैं, वहाँ वे संवादों का सहारा लेने पर बाध्य होते हैं।

'जुलूस' में रेणु ने संवाद-योजना का अलग ठाट प्रस्तुत किया है। इसमें संवाद का महत्व निर्विवाद रूप से अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। एक पात्र दूसरे पात्र से अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति संवादों के माध्यम से ही करता है। सम्भवत: रेणु का यह अकेला उपन्यास है, जिसमें संवादों का सर्वाधिक उपयोग हुआ है। इसके संवाद आकर्षक, चुटीले और स्थानीय रंगत लिए हुए हैं, जिसमें राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश मूर्त्त होता चलता है। एक उदाहरण यहां द्रष्टव्य है।

"अपना देश फिर अपना देश! - पर भूमि कैसी भी हो आखिर पर, भूमि ही है।

सरकारी कर्मचारी पवित्र से कहता है : 'यह आप लोग अपना देश, अपना देश क्यों बोलते हैं। देश का मतलब? क्या माने?'

'हरिधन गोढ़ल कहता है- देश का माने देश!'

'देश का माने तो देश तो क्या हिन्दुस्तान अपना देश नहीं है? आप लोगों का देश नहीं है?'

'कालाचांद घोष की मां कहती हैं.. हम लोगों के गांव का नाम है नवीनगर और यहाँ के लोग कहते हैं पाकिस्तानी टोला'।"[13]

हर उपन्यास में कोई न कोई स्थान होता है, कोई न कोई अचंल होता है और कोई न कोई देश होता है। हर उपन्यास की घटना किसी न किसी कारण में घटित होती है और वे घटनाएं कुछ पात्रों के सहारे आकार लेती हैं। युगबोध रेणु के उपन्यासों की मूल विशेषता है, किन्तु यह युगबोध सीमित अर्थ में नहीं है और न ही इसका उन्होंने आदर्शीकरण करने का प्रयत्न किया है। स्पष्ट है कि स्वतंत्र भारत में देश के लिए शहीद होने वाले सेनानियों की विधवाएँ बहुत दिनों तक भुलायी जाती रही हैं। अनेक शहीद ऐसे हैं, जिनका परिवार दाने-दाने के लिए मोहताज है और वे लोग जो स्वाधीनता संघर्ष में एक तरफ अंग्रेजी का साथ दे रहे थे और दूसरी तरफ कांग्रेस के बड़े नेताओं से सम्पर्क साधकर आगामी भविष्य की ओर झांक रहे थे, चांदी काटने लगे हैं। रेणु जैसा संवेदनशील और सामाजिक रूप से प्रतिबद्ध रचनाकार इस कथ्य को कैसे भुला सकता था! यही कारण है कि उन्होंने समाज की विकृतियों के साथ सम्भावनाओं का भी निदर्शन किया।

सन्दर्भ :

1. जवाहर सिंह, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 7

2. जवाहर सिंह, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 3
3. डॉ. नामवर सिंह, कहानी नयी कहानी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 26
4. डॉ. आशुतोष राय, नागार्जुन का गद्य-साहित्य, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 125
5. डॉ. आशुतोष राय, नागार्जुन का गद्य-साहित्य, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 127
6. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 34
7. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 39
8. जवाहर सिंह, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि, पृ. 221
9. फणीश्वरनाथ रेणु, परती परिकथा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 17
10. इन्दु प्रकाश पाण्डेय, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 155
11. फणीश्वरनाथ रेणु, परती परिकथा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 68-69
12. जवाहर सिंह, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 27
13. फणीश्वरनाथ रेणु, जुलूस, भारती ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 3

❖❖❖

आलेख

संस्कृत साहित्य को औपनिवेशिक बिहार का योगदान

❍ राजू रंजन प्रसाद✡

बिहार में संस्कृत लेखन का प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक एक अविच्छिन्न प्रवाह है। यहाँ तक कि औपनिवेशिक काल में भी, जब अंग्रेजी की आपाधापी में भारतीय भाषाओं के लिए बहुत कम अवसर बचा रह गया था, संस्कृत-लेखन निर्बाध चलता रहा। सन् 2004 में मैंने पटना पुस्तक मेले से सुरेश चन्द्र बनर्जी की किताब[1] खरीदी थी। पुस्तक पढ़ने के बाद मेरी धारणा बनी कि इसमें संपूर्ण बिहार के योगदान की नहीं, बल्कि केवल मिथिला के योगदान की चर्चा है। तभी मैंने मिथिला क्षेत्र से बाहर के संस्कृत विद्वानों की खोज शुरू कर दी थी। आज ऐसा लग रहा है कि गैर-मिथिला संस्कृत विद्वानों के योगदान को लेकर एक स्वतंत्र किताब लिखी जा सकती है। यह लेख उसी दिशा में एक प्रयास है।

भगवतीप्रसाद सिंह 'शूर' (सन् 1855 ई.) छपरा शहर के चौतरिया राज्य के सर्वस्व बाबू चण्डीप्रसाद सिंह जी के पुत्र थे।[2] आपके साहित्य का बहुलांश अब तक अप्रकाशित है। अंगरेजी में संस्कृत-काव्यशास्त्र पर आपने एक बृहदाकार प्रामाणिक ग्रंथ स्टडीज इन संस्कृत पोएटिक्स की रचना की है, जो अभी तक अप्रकाशित है।[3] हथुआ राज के अधीश्वर महाराज राजेन्द्र प्रताप शाही देवबहादुर के पुत्र कृष्ण प्रताप शाही (1864 ई.) की एक पुस्तक संस्कृत में है, जिसका नाम काशी खण्डसार-संग्रहश्लोक है।[4]

पंडित अंबिकादत्त व्यास (24 मार्च, 1858) का जन्म तो जयपुर में हुआ था किन्तु उनका कार्यक्षेत्र बिहार रहा। सन् 1883 ई. में उनकी नियुक्ति मधुबनी (बिहार) के एक ग्रामीण संस्कृत स्कूल में हुई जहाँ उन्होंने लगभग तीन वर्षों तक अध्यापन किया। उसके बाद उन्होंने मुजफ्फरपुर, भागलपुर तथा पटना में रहकर संस्कृत एवं हिन्दी की अनथक सेवा की। 1882 ई. के मार्च में व्यास जी ने भारतेन्दु के वेश्या-स्तोत्र की भांति संस्कृत में द्रव्यस्तोत्र की रचना की। इसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस से हुआ था। इसमें बयालीस अनुष्टुप् छन्द हैं, जिनमें धनकुबेरों पर व्यंग्य किया गया है।[5] यह रचना हिन्दी-प्रदीप में भी प्रकाशित हुई थी। सन् 1882 ई. में ही सामवतम् संस्कृत नाटक की रचना की जिसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस से 1888 ई. में हुआ था। व्यास जी की यह कृति उनकी नाट्य-कृतियों में उत्कृष्ट मानी जाती है।[6] 1882 में ही संस्कृत पुस्तक सांख्यतत्त्व-कौमुदी की कारिका सांख्यतरंगिणी की रचना की जिसका प्रकाशन 1891 ई. में रामदीन सिंह के प्रकाशकीय वक्तव्य के साथ हुआ था। यह धारावाहिक रूप से वैष्णव-पत्रिका तथा पीयूष-प्रवाह में प्रकाशित हुई थी। 63 पृष्ठ की इस पुस्तक

✡ *सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, सी.एन. कॉलेज, साहेबगंज, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।*

में कुल 72 श्लोकों की व्याख्या की गई है।[7]

मुजफ्फरपुर के गाढ़ा नामक गांव के पंडित मधुसूदन ओझा (1866-1939) वेद-विद्या के एक विलक्षण भाष्यकार थे। नौ वर्ष की अवस्था में इनको राजीव लोचन झा ने जयपुर बुला लिया। राजीव लोचन झा इनके ज्येष्ठ पिता थे। मधुसूदन ओझा की शिक्षा काशी में हुई। आपने व्याकरण-दर्शन साहित्य के साथ-साथ वेद, वेदांगों का भी अध्ययन किया। विभिन्न विद्याओं में पारंगत होने के बाद ये जयपुर लौट आये। जयपुर के शासकों ने इनकी विद्वता से प्रभावित होकर इन्हें जयपुर के महाराजा कॉलेज और महाराजा संस्कृत कॉलेज में दर्शन पढ़ाने का काम सौंपा।8 तत्पश्चात जयपुर नरेश माधवसिंह ने इन्हें विश्वप्रसिद्ध 'पोथीखाना' का प्रबंध-भार सौंप दिया। सन् 1902 में जयपुर नरेश माधवसिंह के साथ आप लंदन भी गये जहां आपने भारतीय दर्शन एवं धर्म से संबंधित अनेक व्याख्यान दिये। इन भाषणों का प्रकाशन वेद धर्म व्याख्यान के नाम से जयपुर में हो चुका है। सन् 1937 ई. में इनकी 70वीं वर्षगांठ पर वेदोक्त नामक अंक प्रकाशित कर इनका अभिनंदन किया गया। पंडित मोतीलाल शास्त्री ने इनके दुर्बोध ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया। इनमें से शतपथ ब्राह्मण का हिन्दी भाष्य और श्रीमद्भागवतगीता का विज्ञानभाष्य मानवाश्रम नामक शोध प्रतिष्ठान ने प्रकाशित किया है। श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने इनके महर्षिकुलवैभवम् नामक ग्रंथ को संपादित किया और राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान ने इसे प्रकाशित किया। राजस्थान पत्रिका के संपादक श्री कुलीश ने इनके ग्रंथों के समीक्षण एवं प्रकाशन में रुचि दिखाई।[9]

गया जिला के उतरेन (टिकारी) नामक स्थान के निवासी पं. रामेश्वर मिश्र के पुत्र छात्रानन्द मिश्र (जन्म: 1870 ई.) ने ग्रामीण पाठशाला की प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर मकसूदपुर के पण्डित शिवप्रसाद मिश्र से आगे की शिक्षा प्राप्त की। लगभग बीस वर्ष की आयु में आपने 'काव्यतीर्थ' एवं 'स्मृतितीर्थ' की परीक्षाएं सर्वप्रथम स्थान से पास कीं। आपकी गणना संस्कृत के प्रतिभाशाली साहित्यकारों में होती है।[10] आपकी संस्कृत रचनाओं में काकदूत, प्रेमोद्गार और मुहुर्त्त-प्रदीप मुख्य हैं।[11]

आरा नगर के सुप्रसिद्ध विद्वान पं. गोकुलदत्त शर्मा के पुत्र सकलनारायण शर्मा (जन्म: सन् 1871 ई.) अपनी विशिष्ट विद्वता से सन् 1935 ई. में अंगरेजी सरकार की ओर से 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से विभूषित हुए। बिहार की पंडित-सभा ने आपको 'विद्या-भूषण' की उपाधि भी प्रदान की थी। मूल रूप से आप संस्कृत के विद्वान थे किन्तु संस्कृत में आपने केवल तीन-चार रचनाएं ही प्रस्तुत कीं।[12] आपकी संस्कृत रचनाओं के नाम हैं- सिद्धिनाथ कुसुमांजलि, तारकेश्वर-यशोगानम्, यश:प्रकाश तथा ब्रह्मचर्य और सच्चरित्रता पर एक एकांकी नाटक, जिसकी रचना आपने 80 वर्ष की उम्र में की थी।[13]

दरभंगा जिला के सरिसबपाही टोल नामक गांव के गंगानाथ झा (25 दिसंबर, 1872) सन् 1892 ई. में, 21 वर्ष की उम्र में एम. ए. (संस्कृत) की परीक्षा पास कर दरभंगा राज पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष बने। सन् 1902 ई. में आप संस्कृत प्रोफेसर होकर प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में चले आये। म्योर कॉलेज में रहते हुए आपने सन् 1907 से 1918 ई. तक त्रैमासिक इंडियन थॉट का संपादन भी किया। सन् 1909 ई. में हिन्दू फिलॉसफी पर आपका महाप्रबंध पूर्ण हुआ, जिस पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने आपको डी. लिट् की उपाधि से विभूषित किया। इसके एक वर्ष बाद सरकार ने आपको 'महामहोपाध्याय' की उपाधि दी। सन् 1918 ई. में आप संस्कृत कॉलेज, काशी के उपकुलपति हुए।[14] आपने अनेक संस्कृत ग्रंथों की रचना की। कहा जाता है कि 18 वर्ष की उम्र में ही आपने कतिपयविदवसोद्गमप्ररोह नामक पद्यात्मक ग्रंथ की रचना कर दी थी।[15] आपके द्वारा रचित संस्कृत ग्रंथों में भक्ति-कल्लोलिनी, शाण्डिल्य-सूत्र की टीका, प्रसन्नराघव नाटक की टीका, न्यायभाष्य की टीका, मण्डनमिश्र-कृत मीमांसानुक्रमणी की टीका आदि प्रमुख हैं।[16] आपके द्वारा अनूदित ग्रंथ भी अनेक हैं, जिनमें योगसारसंग्रह, सांख्यतत्त्वकौमुदी, काव्यप्रकाश, योगभाष्य, छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य, शबरभाष्य,

प्रशस्तपदभाष्य (न्यायकन्दली सहित), न्यायभाष्य (वार्त्तिक सहित), खण्डन-खण्ड-खाद्य, श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक, वामन-काव्यालंकारसूत्र, जैमिनि-मीमांसा-सूत्र तथा तर्कभाषा प्रसिद्ध हैं। जैमिनि-मीमांसा-सूत्र ग्रंथ के अनुवाद के लिए 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' की बम्बई शाखा ने आपको कैम्पबेल स्वर्णपदक से विभूषित किया था।[17]

प्रारंभिक शिक्षा पूरी करने के बाद गंगाधर शर्मा (जन्म: सन् 1873 ई.) ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'काव्यतीर्थ', काशी-पण्डित-सभा से 'आयुर्वेदाचार्य', अयोध्या-पण्डित-सभा से 'साहित्य-धुरीण' तथा बिहार-वैद्य-सम्मेलन से 'वैद्यरत्न' की उपाधियाँ प्राप्त कीं।[18] आप हिन्दी-संस्कृत साहित्य के विद्वान एवं उपनिषद्, वेदांत, पुराण तथा स्मृति के ज्ञाता के रूप में परिचित हैं। आपकी स्फुट संस्कृत रचनाएँ काशी से प्रकाशित सुप्रभातम् में प्रकाशित हुआ करती थीं।19

डुमरांव के वासी पं. राजेश्वर मिश्र के पुत्र अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द्र' (जन्म: सन् 1874 ई.) संस्कृत के माने हुए विद्वान थे। आपके पिता भी संस्कृत के विद्वान थे। पिता से लघुकौमुदी और अमरकोष पढ़ने के बाद आपने महाराज राधाप्रसाद सिंह जी के व्यास श्रीनिखिलशास्त्रनिष्णात श्रीचन्द्रमणि पाण्डेय जी से सिद्धांतकौमुदी पढ़ना प्रारंभ किया। डुमरांव राज हाई इंगलिश स्कूल के हेड-पंडित श्री शिवबालक त्रिपाठी से आपने रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, साहित्यदर्पण आदि काव्य पढ़ा। पंडित राधावल्लभ जायसी 'विप्रलम्भ' से आपने श्रुतबोध-पिंगल, जगद्विनोद, भाषाभूषण और नागराजरचित प्राकृतपिंगल पढ़ा। आप संस्कृत में बड़ी मधुर कविता करते थे। आपकी पांच-छ: संस्कृत कविता-पुस्तकें छपी थीं।[20] आपने स्वतंत्र रूप से छ: संस्कृत ग्रंथ लिखे थे- 1. राधामाधव-विलास[21], 2. स्तोत्रकुसुमांजली[22], 3. पद्यपुष्पोपहार[23], 4. कृष्ण-कीर्तन[24], 5. विनयमालिका[25], 6. शोकसूक्ति[26]

छपरा के महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा (सन् 1877 ई.-1929 ई.) संस्कृत के विद्वान तथा प्रेमी पंडित देवनारायण शर्मा के पुत्र थे। पिता ने पांच वर्ष की उम्र में ही आपको पढ़ाना प्रारंभ कर दिया था। बारह वर्ष की उम्र में रामावतार शर्मा ने प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री सी. आई. ई. के पास पढ़कर साहित्याचार्य की परीक्षा पास की।[27] सन् 1901 से सेंट्रल हिन्दू कॉलेज, काशी में संस्कृताध्यापक नियुक्त हुए। 1905 तक वे इसी पद पर बने रहे। इसी अवधि में विविध विचारों से संवलित मित्रगोष्ठी नामक उच्च स्तर वाली संस्कृत पत्रिका का प्रकाशन किया।[28] कुछ दिन अध्यापन करने के बाद 29 वर्ष की अवस्था में पटना कॉलेज में संस्कृताध्यापक नियुक्त हुए। बीच में दो-तीन वर्ष तक हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के प्रधान का कार्य भी किया।

भाषा पर अद्वितीय अधिकार की दृष्टि से शर्मा जी परमार्थदर्शन के वार्तिक और भाष्य में कुमारिल और पतंजलि की ऊंचाइयों तक पहुंच गए थे। रामावतार शर्मा के लेखन पर गंगाधर शास्त्री की शैली की गहरी छाप देखी जा सकती है हालांकि 'गंगाधरी शैली' का प्रभाव उनके मारुतिशतकम् तक ही सीमित था।[29]

शर्मा जी संस्कृत के ऐसे प्रथम विद्वान थे, जिन्होंने अंग्रेजी में प्राप्त विपुल ज्ञान को संस्कृतज्ञों तक पहुंचाया। अपनी विद्वता के कारण वे भारत-विख्यात थे। वे परम तार्किक थे। काशी प्रसाद जायसवाल के शब्दों में 'वे वस्तुत: कपिल और कणाद की श्रेणी के विचारक थे'। वे कवि भी थे। उनकी कविता द्विवेदीकालीन थी। 'भारतोत्कर्ष' नामक कविता द्रष्टव्य है। इन्होंने श्लोकबद्ध संस्कृत कोश बनाया है। इसका नाम विश्वविद्या अथवा वाङ्मयार्णव है। यह एक अद्भुत कोश है।[30]

उनकी रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपी मिलती हैं। सूत्रबद्ध परमार्थदर्शन का प्रकाशन संस्कृत पत्रिका संजीवनम् में आरंभ हुआ था। संस्कृत चन्द्रिका, मित्रगोष्ठी, सूक्तिसुधा तथा शारदा आदि पत्रिकाओं में भी शर्मा

जी की गद्य-पद्य रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने हास्यप्रधान मुद्गरदूतम् की रचना महाकवि कालिदास के मेघदूत के आधार पर की है। इसका प्रकाशन शारदा पत्रिका के अंकों में हुआ है। सूर्यशतकम्, मारुतिशतकम् ऐतिहासिक रचना राजतरंगिणी के आदर्श पर लिखी गई है। मित्रगोष्ठी में सतत प्रकाशित 'साहित्यरत्नावली' स्तंभ में संस्कृत कवियों के विषय में प्रामाणिक सामग्री मिलती है।[31]

दलीपपुर (शाहाबाद) के देवदत्त त्रिपाठी (जन्म: 10 सितंबर, 1879 ई.) ने संस्कृत में धर्मशास्त्रपुराणवार्त्ता, वेदांत मत-मंजरी, उपनिषद्सुधा, श्रीमद्भगवद्गीता-नवनीतम्, शिवशतकम् विजयशतकम्, रमेश्वर-कुसुमांजलि, आयुर्वेदीय चर्चा, सांख्यतत्त्वप्रकाश, संस्कृत-साहित्य-चर्चा एवं हिंदी-साहित्य-चर्चा (365 श्लोकों में हिंदी साहित्य का इतिहास) आदि पुस्तकों की रचना की थी।[32]

ढिबरा (जहानाबाद) के निवासी पं गंगाधर शर्मा के पुत्र धनुर्धर शर्मा (जन्म: 1883 ई.) ने बंगाल-संस्कृत-समिति, कलकत्ता से 'काव्यतीर्थ' की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर महाकवि भर्तृहरि-लिखित भट्टिकाव्य की हिन्दी में गद्य-पद्य टीका लिखी थी।[33]

चम्पारण जिले के निवासी पण्डित श्रीभुवन झा के पुत्र बिहारीलाल झा (जन्म : अनुमानत: सन् 1885 ई.) हिन्दी एवं संस्कृत में समान गति से लिखते थे। संस्कृत में आपके द्वारा लिखित एक पुस्तक श्रीमदाद्यास्तोत्रावली सन् 1901 ई. में प्रकाशित हुई थी।[34]

आरा के चंद्रशेखर शास्त्री (1884-1934 ई.) साहित्याचार्य की परीक्षा पास करने के बाद महाराजा जयपुर के राजकुमार के शिक्षक बनकर नियुक्त हुए। 1911 ई. में आप स्थायी रूप से इलाहाबाद में रहने लगे। इस समय आपकी आजीविका का एकमात्र साधन स्वतंत्र लेखन ही रहा। 1913 से 1915 ई. तक आपने बहुप्रशंसित संस्कृत पत्रिका शारदा का प्रकाशन भी किया। समाज, शिक्षा आदि हिन्दी पत्रों का भी संपादन किया। पं. चन्द्रशेखर शास्त्री के सम्पादकत्व में प्रयाग से संस्कृत मासिक पत्रिका शारदा का प्रकाशन सन 1913 में हुआ। सरस्वती ने शारदा का परिचय देते हुए लिखा है- "प्रयाग से 'शारदा' नाम की पत्रिका संस्कृत में निकलने लगी है। इसका आकार 'सरस्वती' सदृश्य (सदृश) है। हर अंक में 48 पृष्ठ रहेंगे। मूल्य इसका चार रुपया वार्षिक है, पर विद्यार्थियों के लिए सिर्फ तीन रुपया है। लगातार घाटे के कारण तीन वर्ष बाद पत्रिका बंद करनी पड़ी।"[35] आपने 'गर्वीली गरीबी' का व्रत ले रखा था। आपकी छोटी-सी पुस्तक दरिद्रकथा इस बारे में आवश्यक संकेत देती है।[36]

शाहाबाद जिला के एकौना नामक स्थान के निवासी पं. रामजीवन पाठक[37] के पुत्र रंगनाथ पाठक (जन्म: सन् 1885 ई.) बिहार संस्कृत संजीवन समाज से प्रकाशित होनेवाली मासिक संस्कृत पत्रिका संस्कृत-संजीवनन् के मान्य संपादकों एवं लेखकों में रह चुके हैं।[38] संस्कृत में लिखे आपके कुछ प्रकाशित निबंध बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। आपके प्रकाशित निबंधों में 'मोक्षमीमांसा', 'मायावाद', 'स्फोटवाद' आदि प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त निबंधों में दो बिहार संस्कृत समिति से पुरस्कृत हो चुके हैं। आपने संस्कृत में दर्शन सिद्धांत मंजूषा, बौद्ध दर्शन, चार्वाक दर्शन, रामानुज दर्शन, वेदांत दर्शन आदि पुस्तकें भी लिखी हैं, जो अब तक अप्रकाशित हैं।[39]

शाहाबाद ही के पथार गांव के निवासी पं. सिद्धेश्वर मिश्र के आत्मज रामदहिन मिश्र (जन्म: सन् 1886 ई.) ने आरंभिक शिक्षा घर पर समाप्त करने के बाद संस्कृत, व्याकरण और साहित्य की शिक्षा डुमरांव से प्राप्त की। वहाँ से आपने संस्कृत के पाणिनीय व्याकरण से प्रथम श्रेणी में प्रथमा एवं द्वितीय श्रेणी में मध्यमा परीक्षा में उत्तीर्णता हासिल की। उसके बाद टिकारी से 'काव्यतीर्थ' की उपाधि-परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास की। आपने पटना ट्रेनिंग कॉलेज के प्राचार्य जे. एच. थिकेट और पटना कमिश्नरी के इन्सपेक्टर प्रेस्टन साहब के निजी अध्यापक रहकर उन्हें संस्कृत का ज्ञान कराया।[40] 1906 ई. के आसपास आपने दशकुमाचरित का हिन्दी अनुवाद किया। 1911 ई. में आपने पार्वती-परिणय नामक संस्कृत नाटक का हिंदी गद्य और पद्य में अनुवाद किया।[41]

प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली संस्कृत पत्रिका शारदा में आपकी संस्कृत रचनाएँ जगह पाती रही थीं। आपका लिखा भारत भूगोल संस्कृत भाषा में लिखा गया भारत का पहला भूगोल-ग्रंथ है।[42]

विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री (जन्म: सन् 1886 ई.) छपरा जिला के विलासपुर (वसंतपुर) ग्राम के निवासी पं. कोदई मिश्र के आत्मज थे।[43] सन् 1925 से 1928 ई. के बीच 'अखिल भारत धर्म महामंडल', काशी के द्वारा आप 'शास्त्राचार्य' एवं 'विद्यानिधि' की सम्मानोपाधियों से अलंकृत हुए।[44] उसी समय आपने 'बिहारोत्कल संस्कृत समिति' से 'धर्मशास्त्राचार्य' की उपाधि परीक्षा में भी सफलता प्राप्त की। संस्कृत साहित्य की सेवा के लिए आपने अपने संपादकत्व में वाराणसी से सूर्योदय: (सूर्योदय काशी से प्रकाशित होनेवाली एक मासिक पत्रिका थी जिसके एक अंक में यह श्लोक छपा था: 'कलौ द्वौ हंतारौ संजातो। वेद हंतार: च गांधी, गो हन्तारो महम्मद:।।' अर्थात् कलियुग में दो हत्यारों ने जन्म लिया है, वेद हत्यारा गांधी है और गो हत्यारा मोहम्मद अली।-देखें, भोगेन्द्र झा, क्रांतियोग, मातृभाषा प्रकाशन, 2002, पृष्ठ 7 में उद्धृत। यह उस समय की बात है जब गांधीजी बिहार में अछूतोद्धार आंदोलन के सिलसिले में मधुबनी पधारे थे।) पाक्षिक (अथवा मासिक) और सुप्रभातम् मासिक संस्कृत पत्रिकाओं का प्रकाशन किया।[45] आपकी लेखनी से संपादित होकर ये दोनों ही संस्कृत पत्रिकाएँ विद्वत्समाज में बहुप्रशंसित हुईं। अपने जमाने में इनके समान दूसरी कोई भी संस्कृत पत्रिका नहीं निकल सकी। आपकी लिखी संस्कृत पुस्तकों में कर्णार्जुनीयम् एवं श्रीज्ञानानन्दचरितम् दो महाकाव्य हैं। अर्वाचीन संस्कृत कवियों में आज तक ऐसे महार्घ महाकाव्य संभवत: किसी ने नहीं लिखे। इन ग्रंथों के अतिरिक्त विज्ञानमंजरी (दो भागों में), वाणी-विलासम् (नाटक), गोत्रप्रवरविवेक:, संस्कृत-रचना-शिक्षा, शिक्षादर्शनम्, आपत्कालानुसारिणी व्यवस्था, अर्द्धताभ्युदयम् (नाटक), प्रायश्चितप्रदीपक:, धर्म-कर्म-मर्म, शिखासूत्रम्, सद्गुरुस्तुति: आदि मुख्य हैं। ये सारी पुस्तकें लक्ष्मीकुण्ड, काशी से प्रकाशित हैं।[46]

सारण जिले के बढ़ईटोला ग्राम (बरहोगाकोठी) के अवधेशप्रसाद द्विवेदी (जन्म: 1899) 'श्रीभारतधर्म महामंडल' द्वारा संचालित सूर्योदय नामक संस्कृत मासिक पत्र के तीन वर्षों (स. 1994 विक्रम से सं. 1997 वि.) सहकारी संपादक और फिर उसी पत्र के दो वर्षों (सं 1998 विक्रम से 2000 वि.) तक संपादक रहे। (आर्यमहिला, वर्ष 18, संख्या 2, मई 1935 ई.; हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृष्ठ 33) आपकी संस्कृत रचनाएँ सूर्योदय तथा सुप्रभातम् में यदाकदा प्रकाशित हुआ करती थीं। (हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 33)

गिरिजा प्रसाद मिश्र (1886 ई.-1943) की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही संस्कृत के माध्यम से हुई। आपने संस्कृत साहित्य में 'काव्यतीर्थ' की उपाधि-परीक्षा पास की। आपके द्वारा लिखित संस्कृत पुस्तकों में ब्रह्मदेवी-माहामात्य एवं संस्कृत-समस्यापूर्तियां आज तक अप्रकाशित हैं।[47]

सहरसा जिला के 'गौसपुर' नामक गांव में भवनाथ (अयाची) मिश्र[48] की परंपरा के प्रसिद्ध पं. पदार्थ मिश्र के पुत्र त्रिलोकनाथ मिश्र (जन्म: सन् 1889) ने अपनी आरंभिक शिक्षा अग्रज पं. बदरीनाथ मिश्र की देखरेख में समाप्त कर आगे की शिक्षा चित्रधर मिश्र के सान्निध्य में पूरी की। आपको 'व्याकरण-काव्यतीर्थ' एवं 'मीमांसारत्न' आदि की उपाधियां प्राप्त हुईं।[49] संस्कृत में सायणाकृत ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका की संस्कृत टीका पितृकर्म-निर्णय, सूक्ति-पद्यावली आदि रचनाएं प्रकाशित हैं।[50]

गोपाल शास्त्री (ग्राम-जगन्नाथपुर, जिला-सारण, जन्म: 1892 ई.) प्रसिद्ध संस्कृत मासिक सुप्रभातम् की व्यवस्था में आरंभ से ही साथ रहे और आगे चलकर दो वर्ष तक आपने उसका सफलतापूर्वक संपादन भी किया। वयस्कों को संस्कृत सिखाने की दृष्टि से आपने संस्कृत शिक्षक की रचना की।[51] संस्कृत में आपके द्वारा रचित पाणिनीय-प्रशस्ति नामक पुस्तिका हिंदी-अनुवाद-सहित प्राप्त होती है।[52] भारतेन्दु की चन्द्रावली नाटिका का उत्तम संस्कृत अनुवाद आपने उसके प्रकाशन वर्ष (संवत 1933 विक्रम) में ही प्रस्तुत किया जो क्रमश:

हरिश्चन्द्रचंद्रिका और मोहनचंद्रिका में छपा।[53]

चुनचुन पाण्डेय (1892–1947) भागलपुर जिले के रामपुर–भगवान नामक ग्राम के निवासी पं. दामोदर पाण्डेय के आत्मज थे।[54] आप हिंदी के साथ–साथ संस्कृत में भी लिखा करते थे। आपके द्वारा लिखित एक पुस्तक संस्कृत धातुकोश जीर्णावस्था में प्राप्त हुआ है। आपने राधाकृष्ण–भक्तिपरक कुछ पद रचे थे, जिनमें दो पद प्राप्त हुए हैं।[55]

गया के कुड़वां ग्राम के निवासी द्वारिका सिंह के पुत्र तपेश्वर सिंह 'तपस्वी' (जन्म: अक्तूबर 1892 ई.) की गणना संस्कृत के एक सफल कवि के रूप में होती है।[56] संस्कृत में आपकी प्रकाशित रचनाएँ वसन्त–विहार, श्रीहरिप्रिया[57], पुनर्मिलन, मधुधारा[58] आदि हैं। इनके अतिरिक्त आपके द्वारा रचित श्रीकृष्णचरित, श्रीपार्वतीमंगलम, श्रीपंचवटी आदि कई अन्य संस्कृत–रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित ही पड़ी हैं।[59] हिन्दी से विशेष प्रेम के कारण आपने अपनी सभी संस्कृत पुस्तकों की भूमिका हिन्दी में ही लिखी है।

गया जिले के ही दधपो ग्राम के निवासी पं. रघुनन्दन मिश्र के पुत्र कामतानाथ शर्मा 'मदनेश' (जन्म: सन् 1893 ई.) की अधिकतर पुस्तकाकार रचनाएँ संस्कृत भाषा में ही मिलती हैं। आपके द्वारा रचित संस्कृत पुस्तकों में वसन्तकुसुमाकरम्, शृंगारसर्वस्वम्, स्वातन्त्र्यकौशलम्, दरिद्र शतकम्, सन्तापमालिका, कारुण्यपंचाशिका, मन:शिक्षाशतकम्, रामनाममाहात्म्यम्, ब्राह्मणमाहात्म्यम्–गोमाहात्म्यम्–पतिव्रतधर्म:– सन्तमाहात्म्यम्–धर्मप्राबल्यम्, स्ववंशचरितम्, श्रीमद्भागवतार्थप्रकाशिका, हरिवंशभावप्रकाशिका तथा देवीभागवतार्थप्रकाशिका आदि उल्लेखनीय हैं।[60]

भागलपुर के 'बाथ' नामक स्थान के निवासी श्रीलालजी चौधरी के पुत्र भुवनेश्वरप्रसाद चौधरी 'भुवनेश' (जन्म: सन् 1893 ई.) ने संस्कृत में पाणिनीय व्याकरण, ज्योतिष तथा वेदांत का अध्ययन किया। कलकत्ता संस्कृत परीक्षा समिति से आपने संस्कृत के व्याकरण एवं साहित्य में तीर्थ की उपाधि प्राप्त की।[61] आपकी संस्कृत कविताओं को देखने से लगता है कि आपमें निस्सर्गत: कविता लिखने की प्रतिभा विद्यमान थी।[62] आपके द्वारा रचित संस्कृत पुस्तकों में जाह्नवीजयन्तीकाव्यम्, स्तुति–कुसुमांजलि, बुद्धिनिधिचरितम्, महाकविकालिदासचरितम् एवं महाकविबाणभट्टचरितम् प्रमुख हैं।[63]

अमारी (टिकारी) के निवासी श्री दीपनारायण शर्मा के कनिष्ठ पुत्र विष्वक्सेनाचार्य (जन्म : सन् 1893 ई.) के बारे में कहा जाता है कि एक बार आपने प्रसिद्ध बोपदेव की कथा सुनी और तभी आपने संस्कृत साहित्य और धर्मशास्त्रों के अध्ययन का दृढ़ निश्चय किया तथा संस्कृत वांग्मय का गंभीर अध्ययन किया। संस्कृत के व्याकरण, न्याय, वेदांत (शांकर और विशिष्टाद्वैत–सहित), मीमांसा, योग, सांख्य और साहित्य का भी आपने सांगोपांग अध्ययन किया। आपने न्याय तथा वेदांत का विधिवत् अध्ययन मद्रास के प्रतिवादिभयंकराचार्य श्रीस्वामी अनन्ताचार्यजी महाराज से किया था। दक्षिण भारत के विद्वत्समाज से आपको 'कवि–कथक–पंचानन' की उपाधि प्राप्त थी।[64] एक समय बंबई में, समुद्र–तट पर आप संस्कृत में व्याख्यान देने का अभ्यास कर रहे थे। मधुर संस्कृत में आपके धारा–प्रवाह भाषण से एक संस्कृतज्ञ जर्मन विद्वान इतना प्रसन्न हुआ कि उसने आपको एक हजार रुपये पुरस्कार में दिये। आपने दक्षिण भारत की अपनी यात्रा इन्हीं रुपयों से की थी।[65]

दरभंगा जिले के 'सरिसबपाही' ग्राम के निवासी पं. विद्यानाथ झा के पुत्र बदरीनाथ झा 'कविशेखर' (जन्म: 12 जनवरी, 1893) ने लगभग 8 वर्ष की उम्र से संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारंभ किया और 23 वर्ष की उम्र तक व्याकरण, काव्य, सांख्य, मीमांसा आदि शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लिया। आपने पं. श्री रविनाथ झा, पं. श्रीमार्कण्डेय मिश्र, महामहोपाध्याय पं. श्रीचित्रधर मिश्र आदि विद्वानों से भी विविध शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी।[66] संस्कृत में आपके द्वारा लिखित अनेक मौलिक एवं संपादित ग्रन्थ प्रकाशित मिलते हैं। मौलिक ग्रंथों के नाम हैं– प्रमोदलहरी, राजस्थान–प्रस्थानम् (खण्डकाव्य), भागवत प्रदीप (आलोचना), राधा–परिणयम्

(महाकाव्य), अन्योक्तिसाहस्त्री (काव्य), कश्यपकुलप्रशस्तिः (खण्डकाव्य), साहित्य-मीमांसा (छन्दःशास्त्र), श्लोकाश्लोकशतकम् (काव्य), संस्कृतगीता-रत्नावली (गीतकाव्य), गुणेश्वरचरितचम्पू (जीवनी), कार्तिक शुक्ल द्वितीयाकृत्य (धर्मशास्त्र) आदि।[67] संपादित ग्रंथों में एकोद्दिष्ट-सारिणी (म.म. रत्नपति झा कृत धर्मशास्त्र), व्यंजनावाद (नैयायिक यदुनाथ मिश्र कृत काव्यशास्त्र), रस-पारिजात (महाकवि भानुनाथ मिश्र कृत काव्य), रसतरंगिणी (म. म. रामानन्द ठाकुर कृत काव्यशास्त्र), अलंकार-मंजरी (महाकवि वेणीदत्त झा कृत काव्यशास्त्र), काव्यप्रकाश-विवरणम् (म. म. पं. गोकुलनाथ झा कृत काव्यप्रकाश पर भाष्यसहित)। भाष्य-सुरभि ('रसमंजरी' की टीका), दीधितिः (ध्वन्यालोक-भाष्य), चन्द्रिका ('रसगंगाधर'-भाष्य) आदि हैं।[68] काव्य-कल्लोलिनी (संग्रह-काव्य) अप्रकाशित है।[69]

उमेश मिश्र[70] (जन्मः 18 जून, 1895) जनकपुर, मिथिला के समीपस्थ बिन्हीं[71] नामक ग्राम के निवासी, संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् महामहोपाध्याय पं. जयदेव मिश्र के पुत्र थे।[72] अपनी तीव्र स्मरण-शक्ति एवं अनवरत परिश्रम से आपने थोड़े ही समय में साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों का अध्ययन अपने पिता के चरणों में बैठकर पूरा कर लिया। संस्कृत के पुराणों एवं आकर ग्रंथों के अध्ययन में आपके चाचा पं. मधुसूदन मिश्र के कुशल निर्देशन ने भी आपकी बड़ी सहायता की। काशी में आपने प्राचीन शास्त्रीय रीति की प्राचीन गुरु परंपरा के अतिरिक्त, नवीन आंग्ल पाश्चात्य रीति के अनुसार भी संस्कृत का अध्ययन अनेक विद्वानों का आचार्यत्व प्राप्त कर किया। आपके गुरुओं में स्व. म. म. पं. शिवकुमार शास्त्री, स्व.म. म. पं. अम्बादत्त शास्त्री, स्व. म. म. वामाचरण भट्टाचार्य, स्व. म. म. पं. फणिभूषण तर्कवागीश, स्व. पं. राजनाथ मिश्र, आचार्य म. म. पं. गोपीनाथ कविराज, स्व. म. म. पं. रामावतार शर्मा, स्व. प्रो. आनंदशंकर बापूभाई 'ध्रुव' एवं स्व. म. म. डा. सर गंगानाथ झा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[73] आपकी संस्कृत की प्रमुख कृतियां-न्यायकौस्तुभ, विज्ञानदीपिका, मीमांसाशास्त्रसर्वस्व, मेधातिथिमनुभाष्य, तन्त्ररत्न आदि हैं। मीमांसक मुरारि मिश्र के ग्रंथों तथा उनके मत का आधुनिक काल में आपने ही सबसे पहले प्रचार किया।[74]

मुंगेर जिला के 'शिवकुण्ड' नामक ग्राम के निवासी पं. भेषधारी शर्मा के पुत्र परमेश्वरप्रसाद शर्मा (जन्मः 1 फरवरी, 1898 ई.) को पटना विश्वविद्यालय से एम.ए. (संस्कृत) की परीक्षा में स्वर्ण-पदक प्राप्त करने के बाद 'साहित्याचार्य', 'व्याकरणतीर्थ', 'विद्यारत्न' आदि की उपाधियों से भी विभूषित किया गया। आप पं. रामावतार शर्मा के प्रिय शिष्यों में थे। संस्कृत की विशेष शिक्षा आपने उन्हीं से प्राप्त की थी।[75] आपने संस्कृत के भट्टिकाव्य (द्वितीय सर्ग), कुमारसम्भव (पंचम सर्ग), नीतिशतक, स्वप्नवासवदत्तं इत्यादि ग्रन्थों का संपादन किया था।[76] सारण जिले के 'अवधेशप्रसाद द्विवेदी' (जन्मः 1899) की संस्कृत रचनाएँ सूर्योदय तथा सुप्रभातम में यदाकदा प्रकाशित हुआ करती थीं।[77]

गया जिला के बेनीपुर (टिकारी) ग्राम के निवासी पं. वंशीधर मिश्र के पुत्र रामावतार मिश्र 'राम' (जन्मः सं. 1955 वि.) आरंभिक शिक्षा गांव की पाठशाला में समाप्त कर टेकारी राज के संस्कृत-विद्यालय में दाखिल हुए। सन् 1923 ई. में आपने 'संस्कृत-साहित्योपाध्याय' की उपाधि प्राप्त की। आपकी गणना संस्कृत के प्रतिभावान कवि और मननशील विद्वानों में होती है।[78] आपके द्वारा लिखित लगभग 25 संस्कृत पुस्तकों का पता चलता हैं। इन पुस्तकों के नाम ये हैं- भारतेतिहासः (सन् 1930 ई.), गणेश-जन्म (सन् 1935 ई.), रुक्मिणी-परिणयः (सन् 1935 ई.), शिव-विवाहः (सन् 1935 ई.), अशोकवर्तिनी सीता (सन् 1935 ई.), दक्ष-यज्ञविध्वंसः (सन् 1935 ई.), कीचकवधः (सन् 1935 ई.), श्मशानवासी हरिश्चन्द्रः (सन् 1935 ई.), मानिनी राधिका (सन् 1935 ई.), कृष्णाभिसारिका (सन् 1935 ई.), मदनमंजरी नाटिका (सन् 1922 ई.), श्रीगुरुर्वशवर्णनम् (सन् 1934 ई.), देवीचरितम् (सन् 1939 ई.), रस-चन्द्रिका (सन् 1938 ई.), सुर-भारती (सन् 1936 ई.), मातृ-सप्तपंचाशिका (सन् 1938 ई.), व्यंजनानिरूपणम् (सन् 1946 ई.), श्रीकृष्ण-संदेशः

(सन् 1946 ई.), रुक्मिणीमंगलम् (अपूर्ण, सन् 1944 ई.), स्तोत्र, स्फुट, शंकरचरितम् (एकांकी, सन् 1936 ई.), मनुस्मृति (द्वितीय अध्याय की टीका, सन् 1955 ई.), वधूस्रवामाहात्म्य आदि।

पटना जिला (फतुहा) निवासी प्रमोदशरण पाठक (दिसंबर 1900 ई.) की संस्कृत रचनाएँ पटना से प्रकाशित होनेवाली संस्कृत हिंदी मासिक पत्रिका भूदेव में मुद्रित हुआ करती थीं।[79] बलदेव शर्मा (निधन: 18 अगस्त 1957) पटना सिटी स्थित हीरानन्द शाह की गली में रहते थे। आपको 'काव्यतीर्थ' की उपाधि प्राप्त थी। आपने तुलसीकृत रामचरितमानस का संस्कृत में अनुवाद किया। आपकी रचना के उदाहरण हमें नहीं प्राप्त हो सके।[80]

दरभंगा में चित्रधर मिश्र नामक एक बड़े मीमांसक हुए हैं। 1915 में सहजानंद सरस्वती उनके पास पहुंचे और 7 मास रहकर मीमांसा के कितने ही ग्रंथों का अध्ययन किया। वहीं कुमारिल की दुर्लभ पुस्तक टुप्टीका को हाथ से लिखकर पढ़ा।[81]

नागार्जुन (30 जून, 1911–5 नवंबर, 1998) की कविताएँ मैथिली, हिन्दी के साथ संस्कृत में भी मिलती हैं बल्कि कहना चाहिए कि उन्होंने कविता लिखने का अभ्यास संस्कृत से ही शुरू किया। 1925 ई. के आसपास की बात है जब आपने प्रथमा उत्तीर्ण किया, बनैली राज के राजपण्डित ने उन्हें 'बालानां रोदनं बलम्' अर्थात 'रुलाई ही बच्चों की ताकत है', समस्यापूर्ति का विषय दिया। बालक वैद्यनाथ ने पांच पूर्तियाँ तैयार कर दीं– 'पक्षीणाम् बलमाकाशो/मत्स्यानाम् उदकं बलम्/दुर्बलस्य बलं राजा/बालानां रोदनं बलम्'।[82] इसी समस्या की पूर्ति से उन्होंने श्लोक लिखने शुरू किये।[83] उन दिनों काशी में दरभंगा की महारानी लक्ष्मीवती संस्कृत की छंदबद्ध प्रस्तुति सुनकर पांच रुपये इनाम देती थीं। नागार्जुन को यहाँ से कई पुरस्कार मिले और इस तरह संस्कृत–श्लोक–लेखन को गति मिली।[84]

उनकी संस्कृत–कविता संस्कृत–काव्य की दूसरी धारा का सातत्य है। उन्होंने अपने कवि–कर्म में प्रखर समकालीन चेतना के साथ परंपरा को आत्मसात् किया है किंतु शूद्रक, धर्मकीर्ति, योगेश्वर, क्षेमेन्द्र और अनेक अनाम कवियों की भाषा विशेष रूप से उनकी संस्कृत कविता में फिर से अपने सातत्य को उपलब्ध करती है। प्रभाकर माचवे ने नागार्जुन की कविता के संकलन[85] के अंत में नागार्जुन की प्रकाशित रचनाओं में संस्कृत की रचनाओं का भी उल्लेख किया है। ये रचनाएँ धर्मालोकशतकम् (सिंहली लिपि में प्रकाशित लघु काव्य), देशदशकम्, कृषकदशकम्, श्रमिकदशकम् तथा संस्कृत कविता आदि प्रमुख हैं।[86] लेनिनदशकम् में उन्होंने लिखा है– 'अपि कौशेयनिचिता: स्वर्णवर्णांकिकता अपि। रुदन्ति सूक्तयस्तेत दुर्व्याख्या विषमूर्च्छिता:', अर्थात् 'भले ही रेशमी जिल्दों में बंधे हों और सुनहले अक्षरों में छपे, पर दुर्व्याख्या के विष से मूर्छित तुम्हारे कथन आज रोते हैं।'[87]

जानकीवल्लभ शास्त्री (5 फरवरी 1916–7 अप्रैल 2011) का जन्म गया जिले के मैगरा गांव में हुआ था। आपकी वंशानुगत उपाधि 'पाठक' थी।[88] आपने सात साल की उमर में अपर पास किया था; नौ की उमर तक प्यारी चरण सरकार की बनाई अंगरेजी की दो किताबें खतम कर, दसवें साल संस्कृत शुरू की थी और ग्यारह की उम्र (सन् 27) में प्रथम श्रेणी में प्रथमा पास कर सरकारी स्कॉलरशिप भी पाई थी; सोलहवें साल (सन् 32) शास्त्री और महज अठारह की उम्र (1934 ई.) में बिहार–उड़ीसा भर में फर्स्ट होकर गोल्ड मेडल के साथ 'साहित्याचार्य' हुए थे। फिर इंटर तक अंगरेजी और बंगला पढ़ी, सर्वोत्तमता के साथ साहित्यरत्न (1935), वेदांतशास्त्री और वेदांताचार्य (1940–41) हुए, दोनों में बहुमूल्य स्वर्णपदक प्राप्त किए।[89]

शास्त्री जी के पहले अध्यापक पिता थे। इनके पिता कहा करते थे कि 'तीन पंद्रह सौ' पढ़ लेने पर गुरुमुख से फिर और कुछ नहीं पढ़ना पड़ता: 'पाणिनि के सूत्र 1500, अमरकोष के श्लोक 1500 और रघुवंश की कविताएँ 1500।'[90] लघुकौमुदी और अमरकोष से उनकी संस्कृत–शिक्षा का आरंभ हुआ।[91]

जानकीवल्लभ शास्त्री की संस्कृत में लिखी कविताओं का प्रथम संग्रह काकली नाम से 1935 ई. में प्रकाशित हुआ।[92] काकली के गीत जयदेव के गीतगोविंद की तरह मधुर और कोमल थे, लेकिन उसकी विषयवस्तु आधुनिक थी। निराला जी काकली पढ़कर चमत्कृत हुए। इसके गीतों में उन्हें अपने 'तारुण्य की झलक' मिली। शास्त्री जी को उन्होंने पत्र लिखा और कुछ दिनों बाद वे आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रावास में जाकर मिले।[93] शास्त्रीजी को लिखा निराला का पहला पत्र (13. 7.35) यहाँ विशेष ध्यातव्य है: "प्रिय बाल पिक, तुम्हारी 'काकली' नकल नहीं। तुम्हारे जातीय सत्य से पूर्ण, आकाश और पृथ्वी को मिला रही है। इसमें मैं अपने तारुण्य की नई पहचान पाकर चकित हो गया; देर तक मुग्ध होकर सुनता रहा। मैं अन्यत्र, किसी पत्रिका में इसकी चर्चा करूंगा।"[94]

लक्ष्मीनारायण प्रेस से जब काकली प्रकाशित होने लगा, ईश्वरदत्त दौर्गादति (बिहारोत्कल संस्कृत शिक्षाध्यक्ष) ने 'उदात्त अभिव्यक्ति' से 'कौमारोचित' सारी खामियों की परछाइयां रंगीन कर दीं: 'कवि जानकीवल्लभ की कृति को हम क्या कहें-उनकी साहित्य-शिक्षा की अंगूरी, ताजा मिठास या अप्रतिम प्रतिभा की प्रतिमा ? उनके मन के भरे-भरे बादल की मंद्र-सांद्र ध्वनि या निर्मल शील के अमृत झरते चांद की चांदनी? उन्होंने साहित्य-सरोवर में जो तीर्थस्नान किया है उस पुण्य का पुरस्कार कहें उनकी कमनीय कृति को या उनकी गुरुजनों के प्रति असीम आस्था और सदाचार रूपी (स्वर्गीय सुमन) मंदार की कोमल कोंपल? पपीहों की मानिंद रस के प्यासे सहृदयों को अमंद आनंद प्रदान करनेवाली कोई कंदली कहें इसे या रचनाकार की अनोखी लगन अथवा कीर्ति की स्वर्ण-पताका? कवि कोकिल के प्राणों की यह काकली काव्य-कोविदों की उत्सुकता कायम रखे!'[95]

अयोध्या से निकलनेवाले संस्कृतम् में शास्त्री जी कितनी ही घनाक्षरियाँ और कितने ही सवैये छपा डाले थे। म. म. अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि भी उनके लिरिक स्व-संपादित सूर्योदय: में छापा करते।[96] कालीप्रसाद मिश्र ने एक दिन कहा, 'भारती में प्रकाशित हुए आज तुम्हारे कतिपय अनवद्य पद पढ़ने को मिले। अद्‌भुत गति है।' आगे शास्त्रीजी ने बंदीमंदिरम् खण्डकाव्य लिखा। शैली कालिदास की मेघदूत वाली अपनाई, कहानी आसपास के सामाजिक जीवन से ली। एक सौ इक्यावन श्लोकों की 'आमूलचूल मौलिक रचना' शास्त्रीजी ने तब लिखी जब कवि का क्लैसिक, रोमैंटिक और लिरिकल की विभाजक रेखाओं से घनिष्ठ संपर्क न था।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ :

1. सुरेश चन्द्र बनर्जी, कंट्रीब्यूशन ऑफ बिहार टू संस्कृत लिटरेचर, के पी जायसवाल, रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, 1973.
2. हिंदी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 310
3. उपरिवत्, पृ. 311, पादटिप्पणी संख्या 1
4. हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. ...
5. डा. धीरेन्द्रनाथ सिह, आधुनिक हिन्दी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण: 1986, पृ. 227
6. उपरिवत्, पृ. 228
7. उपरिवत्।
8. हर्फी अजमेरी, संस्कृत-अरबी एक तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, सुभद्रा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2009, पृ. 155
9. उपरिवत्, पृ. 156
10. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 142

11. उपरिवत्, पृ. 142, पादटिप्पणी संख्या 3
12. उपरिवत्, पृ. 637
13. उपरिवत्, पृ. 637, पादटिप्पणी संख्या 1; डा. वेदप्रताप वैदिक (संपादक), हिंदी पत्रकारिता: विविध आयाम, भाग 2, पृ. 426
14. हिन्दी साहित्य और बिहार, पृ. 103
15. अच्युतानंद मिश्र, पत्रों में समय-संस्कृति, प्रभात प्रकाशन, 2021, पृ. 126
16. उपरिवत्, पृ. 104, पादटिप्पणी संख्या 2
17. उपरिवत्, पादटिप्पणी संख्या 3
18. हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. 45
19. उपरिवत्, पृष्ठ 46, पादटिप्पणी संख्या 2
20. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 35
21. 525 संस्कृत के दोहा-छन्दोबद्ध, 18 संस्कृत के मनोहर, षट्पदी आदि छन्दोबद्ध पद हैं। इसी ग्रंथ के आधार पर पं. विजयानन्द त्रिपाठी जैसे धुरंधर विद्वान भी आपको इस युग में, संस्कृत में दोहा-छन्द का आविष्कारक कहा करते थे।
22. इसमें 67 वियोगिनी-छन्दोबद्ध पद हैं, जिनमें श्रीरामचन्द्र की स्तुति है।
23. इसमें अनेक प्रकार के छन्दोबद्ध 26 पद्य हैं, जिनमें आपके विद्यादाता तथा दीक्षागुरु स्व. पं. चन्द्रमणि शर्मा जी की स्तुति है।
24. इसमें 115 संस्कृत दोहा-छन्दोबद्ध पद्य हैं। उनका अनुवाद ब्रजभाषा के दोहा छन्दों में किया गया है। दोनों भाषाएं ग्रंथकार की ही रचना है। इसके बहुत-से अंश सरस्वती में भी छपे थे।
25. इसमें संस्कृत के 18 पद हैं, जिनमें संक्षेप से रामायण और महाभारत की कथा है।
26. इसमें 35 वियोगिनी-छन्द के पद्य हैं, जिनमें ग्रंथकार ने अपने पिता के स्वर्गवासी होने पर बड़ी करुणा के साथ विलाप किया है। देखें, हिंदी साहित्य और बिहार, पृ. 35, पादटिप्पणी संख्या 2
27. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण: 1986, पृ. 528
28. राम गोपाल मिश्र, संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 195
29. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसबलाका, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2011, पृ. 191
30. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, पृ. 528
31. राम गोपाल मिश्र, पूर्वोक्त, पृ. 195
32. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 220, पादटिप्पणी संख्या 1
33. हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. 89; भट्टिकाव्य के द्वितीय सर्ग के मूल श्लोक: (क) 'प्रभातवाताऽहतिकम्पिताऽकृति:/कुमुदवती रेणुपिशङ्गविग्रहम्।/निराशभृङ्गं कुपितेव पद्मिनी/न मानिनीशं सहतेऽन्यसङ्गमम्।।' (श्लोक संख्या 6) (ख) 'न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्/न पंङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।/न षट्पदोऽसौ न जुगुंज य: कलम्/न गुंजितं तन्न जहार यन्मन:।' (श्लोक संख्या 19) इसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: इस प्रकार था-(क) 'प्रात:काल की वायु के आघात के द्वारा कँपाई गई है आकृति जिसकी अतएव क्रोधित के ऐसी कमलिनी कुमुद्वती की धूलि से पीला हो गया है शरीर जिसका एवंभूत भ्रमर को तिरस्कार किया (ठीक है) कि मानवती स्त्री दूसरे के साथ संसर्ग को नहीं सहन करती है।' (ख) 'वह जल न था, जिसमें अत्यंत मनोहर कमल न थे, वह कमल न था, जिस पर भ्रमर नहीं बैठे थे, वह भ्रमर न था, जो अव्यक्त मधुर शब्द को नहीं बोला और वह बोलन न था, जो मन को नहीं हरण किया।' आपके पुत्र द्वारा प्रेषित एवं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के साहित्यिक इतिहास विभाग में सुरक्षित विवरण के आधार पर। देखें, हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. 90, पादटिप्पणी संख्या 1

34. हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. 230
35. राम गोपाल मिश्र, पूर्वोक्त, पृ. 198
36. आप स्वयं संस्कृत के एक प्रसिद्ध विद्वान थे। व्याकरण और धर्मशास्त्र के भी अच्छे विद्वान थे। इनके पिता पं. हनुमान पाठक जी को भी विद्वता में यश प्राप्त था। देखें, हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 286
37. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 287
38. सरस्वती, दिसम्बर 1913, पृ. 726; भारतीय पत्रकारिता कोश, खण्ड दो, पृ. 578 में उद्धृत
39. उपरिवत्, पृ. 287, पादटिप्पणी संख्या 1
40. उपरिवत्, पृ. 473
41. उपरिवत्, पृ. 474
42. उपरिवत्, पृ. 475
43. आपके पिता पं. कोदई मिश्र एवं पितामह पं. उजागर मिश्र ज्योतिषशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान थे। आपके पितृव्य पं. तुलसी मिश्र, पं. मनहरण मिश्र तथा पितामह-भ्राता पं. गोपाल मिश्र जी भी व्याकरण एवं दर्शन के उद्भट विद्वान थे। ... आपने अपने वंश का परिचय अपने कर्णार्जुनीयम् नामक महाकाव्य के अंत में संस्कृत के ही उपेन्द्रवजा छन्द में 9 श्लोकों में लिखा है। उसके अध्ययन से आपके पूर्ववर्ती और समकालीन लोगों का पूरा पता चल जाता है। देखिए, विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री, कर्णार्जुनीयम्-महाकाव्यम्, पृ. 174 के बाद का एक पृष्ठ; और देखें, हिंदी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 564, पादटिप्पणी संख्या 2 एवं 3
44. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 564
45. जयन्ती स्मारक ग्रन्थ, पृ. 672
46. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 565, पादटिप्पणी संख्या 2
47. हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. 51
48. भवनाथ मिश्र सर्वथा निस्पृह थे। इन्होंने कभी किसी से कुछ याचना नहीं की, जिससे इनका नाम ही अयाची मिश्र पड़ गया था। देखें, शंकर दयाल सिंह, बिहार: एक सांस्कृतिक वैभव, पृ. 37
49. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 199
50. उपरिवत्, पादटिप्पणी संख्या 3
51. उपरिवत्, पृ. 123
52. उपरिवत्, पृ. 123, पादटिप्पणी संख्या 9
53. श्री ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण: 1962, पृ. 162
54. उत्तर-बिहार, 27 सितंबर-3 अक्टूबर, 1982 ई. में प्रकाशित आपके पौत्र श्री ओमप्रकाश पाण्डेय 'प्रकाश' द्वारा लिखित 'क्रांतिकारी चुनचुन पाण्डेय' शीर्षक लेख; हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. 465
55. हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. 465
56. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 193
57. हरिप्रिया का हिन्दी अनुवाद तो उसी के साथ प्रकाशित है। देखें, हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृष्ठ 193. श्रीहरिप्रिया (श्री तपेश्वर सिंह 'तपस्वी', सन् 1946 ई., पृ. 1) में लेखक का 'दो शब्द'- 'राधा-कृष्ण, ये दो शब्द माखन-मिश्री जैसे रसना को कोमल मधुर आम के बगीचे की हरी-हरी पत्तियों के बीच से कूकनेवाली अदृश्य कोकिला की ध्वनि से कानों को सुखद रमणीय, सुन्दर सघन जंगलों में गोपी कृष्ण की रट लगानेवाली पण्डुक की बोली के समान अन्त:करण को उद्बोधक, नन्हें से बच्चों की तुतलाहट तुल्य माता पिता के हृदय को सम्मोहक, मधुयामिनी में प्रियतम के अन्तस्तल को आनन्द विभोर कर देनेवाला मुग्ध वधू का रसमय कलभाषण जैसे श्रवण सुखद, प्रकृति पुरुष के परिचायक मधुर गीत जैसे आत्मग्राह्य, सुदीर्घ कठिन तपस्या के पश्चात् बुद्धदेव को दिव्य ज्योति की झलक के समान आत्मा को शान्तिप्रद, वीर और शृंगार रसों

के सम्मिश्रण जैसे नयनोत्सव, कविता-कामिनी के अंग-अंग के अलंकार जैसे आकर्षक, पातंजल योगसूत्र जैसे उच्चतम गम्भीर भाव के द्योतक और भक्तजन मानस सर्वस्व तथा संसार विषय वृक्ष के दो सुन्दर फल जैसे लोभ्य (ये दो शुद्ध) द्वापर से आजतक न मालूम कितने ग्रन्थ, लेख, प्रबन्ध और कविता के विषय हो चुके हैं और वर्तमान को छोड़ भविष्य में कितने होंगे।' हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 193-94 में उद्धृत।

58. लेखक ने पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा- 'रसों में शृंगार का स्थान पहला है। इसमें आकर्षण है, उल्लास है और आनन्द है और है अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति। इसकी पराकाष्ठा वात्सल्य है। रस की उद्‌गमभूमि विचार नहीं है, अनुभाव है जिसका सम्बन्ध हृदय से है। बाह्य पदार्थों के दर्शन से अथवा घटनाओं से जो प्रभाव हमारे हृदय पर पड़ता है और उससे जिस भाव की सृष्टि होती है, वह रस है। यह आवश्यक नहीं कि भावों की सृष्टि बराबर बाह्य पदार्थों पर निर्भर करे, वह आभ्यंतरिक कारणों से भी होती है। रस सर्वव्यापक है। अतएव यह उच्चकोटि का मनोरथ है और परमतत्व है।' देखें, मधुधारा, तपस्वी, सं. 2011 वि., पृ. 3, प्रस्तावना, हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 194 में उद्धृत।
59. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 193-94, पादटिप्पणी संख्या 1
60. उपरिवत्, पृ. 85, पादटिप्पणी संख्या 4
61. उपरिवत्, पृ. 334
62. उपरिवत्, पृ. 335
63. उपरिवत्, पृ. 335, पादटिप्पणी संख्या 3
64. उपरिवत्, पृ. 571
65. उपरिवत्, पृ. 571, पादटिप्पणी संख्या 1
66. उपरिवत्, पृ. 281
67. उपरिवत्, पृ. 282, पादटिप्पणी संख्या 1
68. उपरिवत्।
69. उपरिवत्।
70. पटना से प्रकाशित दैनिक आर्यावर्त (5 सितंबर, 1959 ई., शनिवार) में मुद्रित डा. रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित आपके परिचय में आपका जन्मकाल सन् 1896 ई. का 18 जून बतलाया गया है। आपके बारे में विस्तृत जानकारी के लिए उक्त सामग्री के अतिरिक्त डा. जयकांत मिश्र लिखित ए हिस्ट्री ऑफ मैथिली लिटरेचर, खंड-2, 1950, पृ. 147 तथा हिंदी सेवी संसार, 1952-53 ई., पृ. 652 में प्रकाशित आपके विवरणों से भी सहायता ली गई है।
71. जयन्ती स्मारक ग्रन्थ, पृ. 62, 413; बिहार अब्दकोश, पृ. 652; पंचदश लोकभाषा-निबंधावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सन् 1960 ई., पृ. 293 तथा कुछेक अन्य ग्रंथों में आप दरभंगा जिले के गजहरा नामक ग्राम के निवासी बतलाये गये हैं। देखें, हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 63, पादटिप्पणी संख्या 3
72. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृतीय खंड, पृ. 63
73. उपरिवत्, पृ. 64, पादटिप्पणी संख्या 2
74. उपरिवत्, पृ. 65, पादटिप्पणी संख्या 2
75. उपरिवत्, पृ. 260
76. उपरिवत्, पृ. 33
77. उपरिवत्, पृ. 260, पादटिप्पणी संख्या 3
78. उपरिवत्, पृ. 526
79. उपरिवत्, पृ. 263

80. राहुल सांकृत्यायन, 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती और किसान', स्वामी सहजानन्द सरस्वती रचनावली-1, पृ. 117
81. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, 1994, पृ. 64
82. तारानन्द वियोगी, युगों का यात्री, राजकमल प्रकाशन, 2019, पृ. 21
83. नागार्जुन, पूर्वोक्त, पृ. 64
84. हिन्दी साहित्य और बिहार, चतुर्थ खण्ड, पृ. 225
85. राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1977 और नागार्जुन रचनावली, खंड-3 में उपलब्ध।
86. शशि टंडन, 'एक व्यक्ति: एक युग', आजकल: जून 2011, 'कवर पृष्ठ'
87. कमलेशदत्त त्रिपाठी, 'संस्कृत काव्य की दूसरी धारा: कवि नागार्जुन', आजकल: जून 2011, पृ. 52, 59
88. "हमारी वंशानुगत उपाधि 'पाठक' है, किंतु मनुस्मृति के 'शर्म्मवद् ब्राह्मणस्य स्यात्' का विचार कर, पिताश्री अपने नाम के अंत में शर्मा जोड़ते थे। 'शास्त्री' होने के पहले मैं भी 'शर्मा' था, अब भी गांववाले मुझे 'शर्मा जी' कहकर पुकारते हैं, परंतु कालांतर में, मेरी परीक्षित उपाधि के आकर्षण ने सहज और समुचित दोनों उपाधियों-पाठक एवं शर्मा को छोड़ देने पर जैसे मुझे विवश कर दिया।" देखें, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसबलाका, पृ. 84
89. हंसबलाका, पृ. 78
90. उपरिवत्, पृ. 72
91. उपरिवत्, पृ. 101
92. कौशलेन्द्र राठौर (जन्म: 1896, डालूपुर, एटा) का एक संकलन काकली नाम से 1929 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसकी सभी प्रतियाँ स्वयं कवि के साथ घर में आग लग जाने के कारण जल कर भस्म हो गयीं। द्वितीय संस्करण, जिसका सम्पादन हरिशंकर शर्मा ने किया, 1933 ई. में छपा। देखें, हिंदी साहित्य कोश, भाग 2, पृ. 112
93. गोपेश्वर सिंह, हंसबलाका के दूसरे संस्करण के अवसर पर, पृ. 6
94. हंसबलाका, पृ. 352 में उद्धृत
95. उपरिवत्, पृ. 158
96. उपरिवत्, पृ. 159

❖❖❖

आलेख

हिंदी में मिश्र क्रिया : स्वरूप एवं संरचना

❍ धनजी प्रसाद✡

1. परिचय

किसी संज्ञा, विशेषण और क्रियांगी के पश्चात 'करना या होना' का वह योग जो एक क्रिया का कार्य करता है, '**मिश्र क्रिया**' (Complex Verb) कहलाता है। सूरज भान सिंह (2000) ने इसकी संरचना के संदर्भ में कहा है, "हिंदी में मिश्र क्रिया की रचना संज्ञा, विशेषण या क्रियांगी शब्दों के साथ 'कर' 'हो' आदि क्रियाकरों (Verbalizers) के संयोग से होती है, जैसे इंतजार करना, तारीफ करना/होना, स्पष्ट करना, ठीक करना, मना करना, मालूम करना/होना आदि। मिश्र क्रिया के प्रथम घटक को क्रियामूल (pre-verb) कहा गया है; दूसरा घटक क्रियाकर (verblizer) कहलाता है जिसका प्रकार्य क्रियामूल को (जो मूलत: संज्ञा, विशेषण या क्रियांगी शब्द होता है) क्रिया रूप प्रदान करना होता है।" इस प्रकार की संरचनाओं को अमिताभ मुखर्जी और अन्य (Amitabh Mukerjee et al., 2006) ने 'मिश्र विधेय' (complex predicates) के अंतर्गत रखा है। इसी प्रकार श्रीराम वेंकटपति और अन्य (Sriram Venkatapathy et al., 2005) ने इन्हें बहुशब्दीय अभिव्यक्तियों के रूप में विश्लेषित किया है।

अत: मिश्र क्रिया को सूत्र रूप में 'पूर्वशब्द + क्रियाकर' के रूप में अभिव्यक्त कर सकते हैं, जिसमें पूर्वशब्द के अंतर्गत 'संज्ञा, विशेषण और क्रियांगी' शब्द आते हैं, किंतु सभी संज्ञा और विशेषण शब्दों के साथ क्रियांगी का योग करके मिश्र क्रियाओं का निर्माण नहीं होता। इनका कौन-सा योग मिश्र क्रिया है और कौन-सा नहीं, इसका निर्धारण युग्म के अर्थ और प्रकार्य के आधार पर ही हो पाता है। इस संबंध में अभी तक स्पष्ट नियम नहीं बनाए जा सके हैं। सिंह (2000) का इस संदर्भ में कहना है, "अर्थ के स्तर पर मिश्र क्रिया के दोनों घटक मिलकर एक आर्थी इकाई का निर्माण करते हैं। किन-किन स्थितियों में दो घटक मिलकर एक आर्थी इकाई का निर्माण करते हैं इस संबंध में कोई स्पष्ट नियम नहीं है।" अत: भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इस दिशा में गहन कार्य करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत शोधपत्र में इसी दिशा में कुछ पक्षों पर प्रकाश डाला गया है।

2. हिंदी मिश्र क्रियाओं की संरचना

हिंदी में मिश्र क्रियाओं का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है। इनका निर्माण विविध प्रकार के शब्दों तथा 'करना' और 'होना' क्रियाकरों के योग से होता है। इनके अलावा 'बनना, लगना' आदि क्रियाएँ भी कभी-कभी क्रियाकर का काम करती हैं। हिंदी मिश्र क्रियाओं में आने वाले घटक शब्दों के स्वरूप एवं प्रकृति के आधार पर उन्हें विविध प्रकार से वर्गीकृत करते हुए मिश्र क्रियाओं की संरचना को इस प्रकार से समझा

✡ *डॉ. धनजी प्रसाद, एसोसिएट प्रोफेसर, भाषाविज्ञान, इ.गां.र.ज.वि., अमाकंटक, ई-मेल- dhpr-langtech@gmail.com*

जा सकता है-

2.1 शब्दवर्ग आधारित वर्गीकरण

हिंदी में मिश्र क्रियाओं के प्रथम घटक शब्दवर्ग की दृष्टि से मुख्यत: तीन प्रकार के होते हैं- संज्ञा, विशेषण और क्रियांगी। (सिंह, 2000) इन तीनों शब्दवर्गों के अंतर्गत आने वाले शब्दों के स्वरूप में भेद के आधार पर हिंदी मिश्र क्रियाओं की संरचना को समझने के लिए इनके उपभेद इस प्रकार से कर सकते हैं-

(क) संज्ञा + क्रियाकर : इसके अंतर्गत प्रथम पद संज्ञा और द्वितीय पद क्रियाकर के योग से निर्मित होने वाली मिश्र क्रियाएँ आती हैं; जैसे- स्नान करना, विमोचन करना, अनुभव होना आदि। संज्ञा के भेदों की दृष्टि से इनकी रचना को इस प्रकार से देख सकते हैं-

- जातिवाचक संज्ञा + क्रियाकर : हिंदी में बहुत कम जातिवाचक संज्ञाओं के साथ क्रियाकर को जोड़कर मिश्र क्रियाएँ निर्मित होती हैं। साथ ही इस प्रकार से निर्मित होने वाली क्रियाएँ सामान्यत: मुहावरेदार प्रयोग के रूप में प्रचलित होती हैं; जैसे- पंखा करना, दीया-बाती करना, ध्वनि/ आवाज/ शोर करना, उंगली करना, झाड़ू-पोछा करना आदि।

  जातिवाचक संज्ञाओं के साथ 'करना' जोड़कर बनने वाली मिश्र क्रियाओं में बहुत कम क्रियाओं के 'होना' रूप भी बनते हैं और जिन क्रियाओं के 'होना' रूप मूल होते हैं, उनके 'करना' रूप भी कम ही बनते हैं, जैसे ऊपर दिए गए उदाहरणों में से निम्नलिखित के होना रूप बनेंगे-

  दीया बाती करना - दीया बाती होना

  झाड़ू पोछा करना - झाड़ू पोछा होना

  ध्वनि/ आवाज/ शोर करना - ध्वनि/ आवाज/ शोर होना

  किंतु 'पंखा करना, उंगली करना' आदि के 'होना' रूप नहीं बनेंगे।

- व्यक्तिवाचक संज्ञा + क्रियाकर : सामान्यत: किसी भी भाषा में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के साथ क्रियाकर का योग करके मिश्र क्रियाओं का निर्माण नहीं होता है। फिर भी हिंदी में अपने किसी कार्य या गुण विशेष के लिए प्रसिद्ध कुछ नामों के साथ 'होना' क्रियाकर जोड़कर इनके युग्म से मिश्र क्रियाओं जैसे प्रयोग बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में 'व्यक्तिवाचक संज्ञा + होना' के योग से बनने वाली मिश्र क्रिया में उस नामपद के विशिष्ट कार्य या गुण वाला अर्थ ही लिया जाता है। ऐसे कुछ प्रयोग और उनके ग्रहण किए जाने वाले अर्थ इस प्रकार से देखे जा सकते हैं-

व्यक्तिवाचक संज्ञा	*प्रसिद्ध गुण*	*मिश्र क्रिया प्रयोग*	*अर्थ*
कर्ण	महाभारत के एक प्रसिद्ध दानवीर योद्धा	कर्ण होना	बहुत अधिक दानी होना
रावण	रामायण में खलनायक पात्र	रावण होना	रावण की तरह अवगुणों से युक्त होना
जयचंद	एक प्रसिद्ध राजा जिसने अपने राजा के साथ विश्वासघात किया था	जयचंद होना	विश्वासघाती होना
गांधी	महात्मा गांधी जिन्होंने अपने सत्य और अहिंसा के प्रयोगों के माध्यम से देश की आजादी में अप्रतिम योगदान किया था	गांधी होना	सत्य और अहिंसा के मूल्यों पर चलने वाला बनाना

उपर्युक्त उदाहरणों में 'व्यक्तिवाचक संज्ञा + होना' से मिश्र क्रियाओं का निर्माण किया गया है। इनमें 'होना' की जगह 'बनना' क्रिया का क्रियाकर के रूप में प्रयोग भी हो सकता है, जैसे- कर्ण बनना, गांधी बनना आदि।

- भाववाचक संज्ञा + क्रियाकर : हिंदी में 'संज्ञा और क्रियाकर' के योग से बनने वाली मिश्र क्रियाओं में सर्वाधिक संख्या 'भाववाचक संज्ञा और क्रियाकर' वाली क्रियाओं की ही होती है। ऐसी मिश्र क्रियाओं में सामान्यत: 'करना और होना' का एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग संभव होता है, जैसे- अनुभव करना - अनुभव होना, विचार करना - विचार होना, निर्माण करना - निर्माण होना, काम करना - काम होना, पूजा/अर्चना करना - पूजा/अर्चना होना आदि।

भाववाचक संज्ञाओं के संदर्भ में और अधिक गहराई से शोध किया जा सकता है कि हिंदी में किस प्रकार की भाववाचक संज्ञाओं के साथ 'करना और होना' जोड़कर किस प्रकार का विशिष्ट अर्थ देने वाली मिश्र क्रियाओं का निर्माण होता है।

(ख) विशेषण + क्रियाकर : हिंदी में विशेषणों के साथ 'करना और होना' क्रियाकरों को जोड़कर बहुत अधिक मात्रा में मिश्र क्रियाओं का निर्माण किया जाता है, जैसे- बड़ा करना या होना, छोटा करना या होना, मीठा करना या होना, ठीक करना या होना, अच्छा करना या होना आदि।

हिंदी में विशेषण और क्रियाकर के योग से मिश्र क्रिया निर्माण के संदर्भ में सदैव यह निर्धारण करना कठिन होता है कि कौन-से विशेषण और क्रियाकर का योग एक मिश्र क्रिया का निर्माण कर रहा है तथा कौन-से विशेषण और क्रियाकर का योग मिश्र क्रिया का निर्माण नहीं कर रहा है। अत: इस संदर्भ में और गहन शोध की आवश्यकता है। इसी तरह विशेषणों के प्रकार की दृष्टि से भी गहन विश्लेषण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए रंगवाची विशेषणों में - 'लाल होना, पीला होना, काला होना, हरा होना' आदि युग्म कुछ प्रयोगों में मिश्र क्रिया तो कुछ प्रयोगों में अलग-अलग घटक हो सकते हैं। उन प्रयोगों की प्रकृति का निर्धारण और अधिक गहन अध्ययन के माध्यम से ही किया जा सकता है।

(ग) क्रियांगी + क्रियाकर

वे शब्द जो स्वतंत्र रूप से किसी शब्दवर्ग के सदस्य की तरह वाक्य में नहीं आते, किंतु 'करना और होना' के पूर्व प्रयुक्त होकर मिश्र क्रिया के घटक के रूप में वाक्य में आते हैं क्रियांगी कहलाते हैं, जैसे- इज्जत करना, बेइज्जत करना आदि। क्रियांगी शब्दों का कभी-कभी परसर्गयुक्त प्रयोग भी देखा जा सकता है, जैसे-

- इज्जत में कोई कमी रह गई हो तो बताएँ।

ऐसे प्रयोगों में क्रियांगी शब्द के बाद 'करना /होना' छुपा रहता है।

2.2 शब्द स्रोत आधारित वर्गीकरण

इस आधार पर हम यह देखते हैं कि मिश्र क्रिया के प्रथम घटक के रूप में आने वाला शब्द स्रोत की दृष्टि से किस भाषा का शब्द है। इसके निम्नलिखित उपवर्ग बनाए जा सकते हैं-

(क) तत्सम शब्द : बहुत से तत्सम पूर्वशब्दों के साथ क्रियाकरों को जोड़कर मिश्र क्रियाओं का निर्माण किया जाता है, जैसे- अनुभव करना, उल्लेख करना, विश्राम करना, परिश्रम करना, उद्घाटन होना, समापन होना आदि।

(ख) तद्भव शब्द : तद्भव शब्दों के साथ भी क्रियाकरों का योग करके मिश्र क्रियाओं का निर्माण किया जाता है, जैसे- अंधेरा करना या होना, रात होना, दुबला होना, दातुन करना आदि।

(ग) देशज शब्द : कुछ देशज शब्दों के साथ भी क्रियाकरों का योग करके मिश्र क्रियाओं का निर्माण किया जाता है, जैसे- खटपट करना या होना, हड़बड़ी करना या होना, भोंदू होना आदि।

(घ) विदेशी शब्द : दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुसार ढाल लेना हिंदी की एक प्रमुख विशेषता है। यही कारण है कि विदेशी भाषाओं के बहुत से शब्दों का प्रयोग हिंदी में देखा जा सकता है। मिश्र क्रिया के प्रथम घटक के रूप में भी विविध विदेशी भाषाओं के शब्द प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें निम्नलिखित उपवर्गों में बाँटकर देख सकते हैं-

- **अरबी/फारसी शब्द :** अरबी/फारसी भाषाओं के अनेक शब्दों का प्रयोग हिंदी में मिश्र क्रिया के प्रथम घटक के रूप में किया जाता है, जैसे- इज्जत करना या होना, इश्क करना या होना, अजान होना, पेश करना आदि।
- **अंग्रेजी शब्द :** अंग्रेजी के भी अनेक शब्दों का प्रयोग हिंदी में मिश्र क्रिया के प्रथम घटक के रूप में देखा जा सकता है। इस संदर्भ में ध्यान देने वाली बात है कि अंग्रेजी के 'क्रिया' शब्द भी हिंदी में मिश्र क्रिया के प्रथम घटक बन जाते हैं, जैसे- कॉल करना या होना, लव करना या होना, रिपेयर करना या होना, टच करना या होना आदि।

  इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि मिश्र क्रिया के रूप में हिंदी के पास एक ऐसी शक्तिशाली युक्ति विकसित हो गई है कि लगभग सभी अंग्रेजी क्रियाओं के साथ करना या होना जोड़कर हिंदी में उनका प्रयोग किया जा सकता है। कुछ अंग्रेजी क्रियाओं के 'ing' रूप के साथ भी हिंदी में मिश्र क्रियाएँ बन जाती हैं, जैसे- पेंटिंग करना, सिंगिंग करना, वेल्डिंग करना, सेटिंग करना, शॉपिंग करना, चौटिंग करना, सार्टिंग करना आदि।

  अंग्रेजी के क्रिया शब्दों के अलावा अन्य शब्दभेदों के शब्दों के साथ भी हिंदी की कुछ मिश्र क्रियाएँ बनती हैं, जैसे- रेड करना, ग्रीन करना, फेयर करना, फेसवास करना, पेंट करना, ब्रश करना, रोल करना आदि।
- **अन्य भाषाओं के शब्द :** अरबी /फारसी और अंग्रेजी के अलावा कुछ अन्य भाषाओं के शब्द भी हिंदी में प्रचलित हैं, जिनसे मिश्र क्रियाओं का निर्माण होता है, जैसे-

  रिक्शा करना : (जापानी)
  कुर्की करना, बावर्ची होना, लफंगा होना : (तुर्की)
  नीलाम करना या होना : (पुर्तगाली)

2.3 प्रथम घटक की रूप-रचना आधारित वर्गीकरण

इसके अंतर्गत इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है कि मिश्र क्रिया के प्रथम घटक के रूप में आने वाला शब्द रूपिमिक रचना की दृष्टि से किस प्रकार का है। इसे निम्नलिखित उपवर्गों में विभाजित करते हुए विश्लेषण किया जा सकता है-

(क) मूल शब्द + क्रियाकर : मूल शब्दों के साथ क्रियाकरों का योग करते हुए बनने वाली कुछ मिश्र क्रियाओं के उदाहरण इस प्रकार हैं- मन करना, पूजा करना, श्रम करना, दान करना, खेल करना, पाठ करना आदि।

(ख) उपसर्गयुक्त शब्द + क्रियाकर : उपसर्गयुक्त शब्द और क्रियाकरों के योग से बनने वाली कुछ मिश्र क्रियाएँ इस प्रकार हैं- अनुभव करना, आरंभ करना, आभास करना, प्रकट करना, अनुरोध करना, अनुवाद करना आदि।

(ग) प्रत्यययुक्त शब्द + क्रियाकर : प्रत्ययययुक्त शब्द और क्रियाकरों को जोड़कर बनने वाली कुछ मिश्र क्रियाएँ इस प्रकार देख सकते हैं- पढ़ाई करना, मिलावट करना, सजावट करना, लिप्यंतरण करना आदि।

(घ) उपसर्ग और प्रत्ययुक्त शब्द + क्रियाकर : ऐसी कुछ मिश्र क्रियाओं के उदाहरण हैं- प्रस्तावित करना, प्रतिबंधित करना, अनुशासित करना आदि।

(ङ) सामासिक शब्द + क्रियाकर : सामासिक शब्दों के साथ क्रियाकरों का योग करके भी हिंदी में मिश्र क्रियाओं का निर्माण होता है जैसे- गठबंधन करना, दुकानदारी करना, बैठकबाजी करना, मंत्रोच्चार करना आदि।

(च) पुनरुक्त शब्द + क्रियाकर : हिंदी में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुनरुक्त शब्दों के साथ क्रियाकरों का योग करके प्रचुर मात्रा में मिश्री क्रियाएँ निर्मित की जाती हैं, जैसे- काम-काज करना, पूजा-पाठ करना, ठीक-ठाक करना, झाड़ू-पोछा करना, पढ़ाई-लिखाई करना, बातचीत करना, तू-तू मैं-मैं करना, इधर-उधर करना, टोका-टोकी करना आदि।

इसके अंतर्गत अनुकरणात्मक शब्द भी आ जाते हैं, जैसे- ठकठक करना, खड़खड़ करना,ठायं-ठायं करना, धम-धम करना, सी-सी करना आदि।

(छ) बहुशब्दीय अभिव्यक्ति + क्रियाकर : मिश्र क्रियाओं का प्रथम घटक सदैव एक शब्द ही हो, यह आवश्यक नहीं है, बल्कि प्रथम घटक के रूप में बहुशब्दीय अभिव्यक्तियाँ भी आ जाती हैं। ऐसे कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं- नैन मटक्का करना, ढाक के तीन पात होना, हवा हवाई बातें करना, ईद का चांद होना आदि। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि 'करना' और 'होना' के साथ निर्मित होने वाले मुहावरे सामान्यत: वाक्य में मिश्र क्रिया के रूप में ही आते हैं।

3. हिंदी मिश्र क्रियाओं संबंधी अन्य महत्वपूर्ण पक्ष

हिंदी मिश्र क्रियाओं के संबंध में केवल उनकी संरचना ही विश्लेषण का विषय नहीं है, बल्कि कुछ अन्य बातें भी हैं जो विश्लेषण की दृष्टि से हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं। इस प्रकार की दो प्रमुख बातों का उल्लेख आगे किया जा रहा है -

3.1 मिश्र क्रिया और एकल क्रिया समतुल्य शब्द

हिंदी की बहुत सारी एकल क्रियाओं के लिए उनके कृदंत रूपों के साथ 'आई' प्रत्यय जोड़कर उसमें 'करना' और 'होना' क्रियाकरों का योग करके मिश्र क्रियाओं का निर्माण होता है। ऐसी क्रियाओं के सामान्य रूप उसके समतुल्य क्रिया का काम करते हैं। यद्यपि दोनों के अर्थ में भाव के स्तर पर अंतर होता है। इस प्रकार से बनने वाले वाली मिश्र क्रियाएँ उस कार्य में निरंतरता और व्यापकता का भी अर्थ देती हैं। उदाहरण के लिए ऐसे कुछ युग्म इस प्रकार से देखे जा सकते हैं- पढ़ना - पढ़ाई करना, ठोकना- ठुकाई करना, सींचना - सिंचाई करना, पीटना - पिटाई करना, सेंकना - सिकाई करना, सिलना - सिलाई करना आदि।

वैसे सभी क्रियाओं के युग्मों में इसी भाव का होना आवश्यक नहीं है। कई बार मुख्य क्रिया और मिश्र क्रिया के अर्थ में अंतर भी मिलता है जैसे- खींचना - खिंचाई करना, जोड़ना - जुड़ाई करना आदि।

इसी प्रकार यह भी ध्यान रखने वाली बात है कि सभी मूल क्रियाओं में 'आई' प्रत्यय जोड़कर उनके मिश्र क्रिया रूप नहीं बनाए जाते। उदाहरण के लिए उठना, बैठना, खेलना, मिलना, भेजना, देखना, सुनना, खाना आदि क्रियाओं के मिश्र क्रिया रूप नहीं बनते। इस संबंध में एक सामान्य नियम दिया जा सकता है कि 'अकर्मक क्रियाओं के मिश्र क्रिया रूप नहीं बनते।' सकर्मक क्रियाओं के संदर्भ में किस सकर्मक क्रिया के मिश्र क्रिया रूप भी बनते हैं, यह और अधिक गहन शोध या विश्लेषण का विषय है।

3.2 हिंदी मिश्र क्रिया और अंग्रेजी के एकल समतुल्य

हिंदी में किस शब्द के बाद क्रियाकर का प्रयोग होने पर बनने वाला शब्द-युग्म मिश्र क्रिया होगा, इसका निर्धारण करना अत्यंत कठिन काम है। इस संदर्भ में प्रयोग और अर्थ को ही अंतिम प्रमाण माना जाता है। यद्यपि

किसी भाषा के नियम दूसरी भाषा पर आश्रित नहीं होने चाहिए, किंतु फिर भी सुविधा के लिए हम हिंदी मिश्र क्रियाओं के निर्धारण अथवा पहचान में अंग्रेजी के एकल समतुल्यों की भी सहायता ले सकते हैं, क्योंकि सामान्यत: हिंदी मिश्र क्रियाओं के लिए अंग्रेजी में एक ही क्रिया मिलती है, जैसे- शादी करना (to marry), अनुभव करना (to feel), प्रस्ताव करना (to propose), पढ़ाई करना (to study), निवेश करना (to invest), आरंभ करना (to begin) आदि।

4. उपसंहार

'हिंदी में मिश्र क्रिया' अध्ययन-विश्लेषण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण विषय है। अभी तक इसके घटकों के स्वरूप एवं संरचना के संबंध में अपेक्षित गहन कार्य नहीं हो सका है। हिंदी व्याकरण की विभिन्न पुस्तकों में इस संबंध में केवल सतही सूचनाएँ ही मिल पाती हैं, जो एक सामान्य प्रयोक्ता को समझने-समझाने की दृष्टि से उपयोगी हो सकती हैं, किंतु भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से वे अपर्याप्त हैं। हिंदी मिश्र क्रियाओं के घटक शब्द के स्वरूप वैविध्य के प्रमुख पक्षों को प्रस्तुत शोधपत्र उद्घाटित करता है, किंतु यह उद्घाटन भी अपने आप में परिचयात्मक ही है। इससे आगे गहन शोध के लिए दृष्टि मिलती है कि यदि हिंदी की मिश्र क्रियाओं के स्वरूप एवं संरचना संबंधी कार्य किया जाए तो उनके किन पक्षों के गहन विश्लेषण की आवश्यकता है।

5. संदर्भ :

1. गुरु, कामता प्रसाद. (2010). *हिंदी व्याकरण.* इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
2. पाण्डेय, अनिल कुमार. (2010). *हिंदी संरचना के विविध पक्ष.* नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान।
3. सिंह, सूरजभान. (2000). *हिंदी का वाक्यात्मक व्याकरण.* नई दिल्ली : साहित्य सहकार।
4. Chakrabarti, Debasri. Mandalia, Hemang et. al. (2008). *Hindi Compound Verbs and their Automatic Extraction.*
5. Mukerjee, Amitabha. Soni, Ankit et. al. (2006). *Detecting Complex Predicates in Hindi using POS Projection across Parallel Corpora.* In *Proceedings of the Workshop on Multiword Expressions: Identifying and Exploiting Underlying Properties*, pages 28–35, Sydney.
6. Venkatapathy, Sriram & Agrawal, Preeti et. al. (2005). *Relative Compositionality of Noun+Verb Multi-word Expressions in Hindi.*

❖❖❖

आलेख

आदिवासी विमर्श : इतिहास, संघर्ष और प्रासंगिकता

❍ मोहन कुमार✡

किसी स्थान विशेष के मूल निवासियों को 'आदिवासी' कहा जाता है। अर्थात आदिवासी ही किसी देश के मूल निवासी होते हैं। आदिवासी शब्द दो शब्दों 'आदि' और 'वासी' से मिलकर बना है। 'आदि' का शाब्दिक अर्थ होता है- प्रारंभ या शुरू और 'वासी' का अर्थ होता है- निवास करने वाला। 'सामान्यत: आदिवासी Aboriginal (एबोरिजिनल) शब्द का हिंदी अनुवाद है इसका प्रयोग किसी भौगोलिक क्षेत्र के उन निवासियों के लिए किया जाता है जिसका उस भौगोलिक क्षेत्र से पुराना संबंध हो। आदिवासी एक सामान्य शब्द है जिसमें कोई वैज्ञानिक अर्थ बोध नहीं होता है जबकि अनुसूचित जनजाति (scheduled tribe) आदिवासियों का संवैधानिक नाम है जिसमें एक निश्चित अर्थ ध्वनित होता है।"[1] भारत में आदिवासियों का इतिहास बहुत पुराना है। रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों में वे शब्द उपस्थित हैं जिनके द्वारा लंबे समय तक आदिवासियों को संबोधित किया जाता रहा। इस भारतभूमि के मूल रहवासी आदिवासी ही हैं। वास्तव में आदिवासी मनुष्यों का वह समूह है जो आर्यों के पूर्व से ही सैकड़ों -हजारों वर्षों से अपने मूल निवास पर रहता आ रहा है। प्रकृति और मानव के तमाम अत्याचारों के बाद भी इन वास्तविक धरती पुत्रों ने किसी भी कीमत पर अपने जमीन से जुदा होना स्वीकार नहीं किया, भले ही उन्हें शोषित और वंचितों की तरह वनों और गिरी कंदराओं में निवास करने के लिए मजबूर होना पड़ा। आदिवासियों की शिनाख्त करता और उनके वनवासी होने की व्यथा-कथा को महात्मा जोतिबा फुले के इन मार्मिक वचनों में महसूस किया जा सकता है:

"गोंड भील क्षेत्री ये पूर्व स्वामी
पीछे आए वहीं इरानी
शूर, भील मछुआरे मारे गए रारों से
ये गए हकाले जंगलों गिरीवनों में।"[2]

आदिवासियों का इतिहास भारत के इतिहास के समान ही प्राचीन है। लंबे समय तक भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास में आदिवासियों के योगदान का उल्लेख नहीं किया गया। विदेशी इतिहासकारों ने सामान्य भारत का इतिहास आदिवासियों के इतिहास से काटकर लिखा। औपनिवेशिक

✡ *मोहन कुमार, शोधार्थी (एस.आर.एफ.), हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी*
मो. 7839045007; ईमेल- mohanjha363636@gmail.com

मानसिकता से लिखे गये भारत के इतिहास में आदिवासियों के इतिहास का उनके योगदान का कोई विशेष जिक्र नहीं किया गया। इससे यह धारणा बनी कि आदिवासियों का कोई इतिहास है ही नहीं। वे नितांत पिछड़े और असामाजिक हैं जिनका सामाजिक विकास का कोई इतिहास ही नहीं है। परंतु आधुनिक इतिहास लेखन में आदिवासियों के इतिहास और उनके सामाजिक विकास की पहचान की गई है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आदिवासियों के अस्तित्व का एक प्राचीन इतिहास रहा है। यहाँ वेरियर एल्विन कि उस अवधारणा का उल्लेख आवश्यक है जिसे आगे चलकर भारत की संविधान सभा में रखा गया। "आदिवासी भारत वर्ष की वास्तविक स्वदेशी उपज है जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है। ये वे प्राचीन लोग हैं जिनके नैतिक अधिकार और दावे हजारों वर्ष पुराने हैं। उन पर सबसे पहले हमें विचार करना चाहिए।"[3] आधुनिक भारत की रचना में अनेक जाति और जनजातियों ने योगदान किया है। इस प्रक्रिया में आदिवासियों के योगदान को भी कतई नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक संरचना में आदिवासियों का महत्वपूर्ण अवदान तो रहा ही है, साथ ही भारतभूमि की रक्षा करते हुए भी आदिवासियों ने त्याग, समर्पण और बलिदान का परिचय दिया है। "अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध बहुत बड़ा विद्रोह करके मातृभूमि को दासता से मुक्त करने के लिए स्वतंत्रता की यज्ञवेदी पर चढ़े बाबूराव सेडमाके, बिरसा मुंडा, सिद्धो-कान्हू संताल, तंट्या भील, उमेड़ वसावा, शंकरशहा-रघुनाथ आदि सभी वीर आदिवासी थे।"[4] परंतु प्रारंभ से ही भारत में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की प्रक्रिया से आदिवासियों को दूर ही रखा गया। आदिवासी भारतभूमि के मूल निवासी हैं। प्राचीन ग्रंथों में भी आदिवासियों के अस्तित्व का प्रमाण प्राप्त होता है। लेकिन आजादी के बाद आदिवासियों की स्थिति और उनके जीवनयापन के स्तर को बेहतर बनाने का कोई सार्थक प्रयास दिखाई नहीं पड़ता है। आधुनिकता के आरंभ के साथ विकास की चली आती हुई प्रक्रिया आदिवासियों के अस्तित्व के लिए और घातक सिद्ध हुई। आदिवासियों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार प्रारंभ से ही होता आ रहा है। "संस्कृत साहित्य में जहाँ आदिवासियों को असुर, निषाद, दस्यु, वानर और राक्षस प्रभृत नामों से संबोधित किया गया है।"[5] वहीं आधुनिक भारत में आदिवासी शब्द को संविधान ने मान्यता नहीं दी है। इस शब्द की उपेक्षा की गई है और इसके बदले जनजातीय शब्द को थोपा गया है। जबकि जनजातीय शब्द का प्रयोग 1940 ई. के पूर्व नहीं था। यह शब्द आदिवासियों के गौरव स्वाभिमान आत्मसम्मान को नहीं उठा सकता। इसलिए वर्तमान संदर्भ में आदिवासी विमर्श का महत्व और भी बढ़ जाता है।

दुनिया की दूसरी सर्वाधिक जनसंख्या वाला हमारा भारत देश विकास के मामले में अभी भी विकासशील देशों की श्रेणी में ही शामिल है। जबकि हमसे कम मानव संसाधन वाले कई देश विकसित हो चुके हैं। आजादी के बाद देश में सामाजिक और आर्थिक विकास की जो प्रक्रिया शुरू हुई वह अबतक जारी है। स्वाधीनता के 70 वर्षों के सफर में भारत ने विभिन्न क्षेत्रों में अपना मुकाम बनाया। विविधता में एकता का श्रेष्ठ प्रतीक हमारा देश गांवों का देश है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में रहती है। परंतु गांवों में विकास की रफ्तार बहुत धीमी रही। इसी तरह करीब 10 करोड़ की आबादी वाला आदिवासी समुदाय भी व्यवस्था की विसंगतियों के कारण विकास की प्रक्रिया से कोसों दूर ही रहा। आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और अन्य सुविधाओं की पहुंच देर से और बेहद कम पहुंची है। इस कारण आदिवासियों के रूप में देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा देश के विकास की प्रक्रिया से अलग ही रहा। उल्टे आधुनिक विकास के अंधे दौड़ ने आदिवासियों के अस्तित्व पर संकट उत्पन्न कर दिया। जंगलों को उजाड़ कर आदिवासियों को उनकी मूल जगहों से हटाया जाने लगा और प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण दोहन शुरू हो गया। आदिवासियों ने अपने स्तर पर इन गतिविधियों का पुरजोर प्रतिरोध किया और अपने अस्तित्व की

रक्षा के लिए संघर्ष करना प्रारंभ कर दिया, जो आज भी जारी है।

साहित्य में आदिवासी जीवन की समस्या, उनके ऊपर व्यवस्था के अत्याचारों और आदिवासियों के संघर्ष को रचनात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए तथा उनके जीवन संघर्षों को शेष दुनिया तक पहुँचाने के लिए और उनके पक्ष में अपना समर्थन व्यक्त करने के लिए अस्सी के दशक में हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श का दौर आरंभ हुआ। इस विमर्श के मूल में एक प्रकार की चेतना कार्य कर रही थी जो आदिवासियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों को बेहतर करने के उद्देश्य की भावना से संपन्न थी। इस विमर्श ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के नौवें दशक में आंदोलन का रूप धारण कर लिया। सन् 1991 ई. में भारत में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया आरंभ की गई। इस आर्थिक उदारीकरण और मुक्त व्यापार की व्यवस्था से एक तरफ जहाँ विकास की प्रक्रिया तेज हुई वहीं दूसरी तरफ आदिम काल से आदिवासियों की संचित संपदा को लूटने का उपक्रम भी चालू हो गया। बड़े-बड़े देशी और विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के द्वारा आदिवासियों को उनके मूल स्थान से विस्थापित कर जल, जंगल और जमीन का दोहन किया जाने लगा। बीसवीं सदी के अंतिम दशक के ऐसे ही जटिल समय में शुरू हुआ आदिवासी विमर्श आदिवासियों की अस्मिता का विमर्श है और इसके केंद्र में आदिवासियों की जल, जंगल और जमीन की चिंता प्रमुख है। इस प्रक्रिया में आदिवासियों ने अपने लिए इतिहास के सूत्रों की तलाश नए सिरे से की। उन्होंने अपने नेताओं की पहचान की और अपने लिए नेतृत्व का निर्माण किया। उन्होंने समर्थ आदिवासी साहित्य की भी रचना की। आदिवासी साहित्य की मुख्य विशेषता उसमें अभिव्यक्त प्रतिरोध है। आदिवासी विमर्श भी आदिवासी अस्मिता की पहचान तथा उसके अस्तित्व संबंधी संकटों और उसके खिलाफ जारी प्रतिरोध का साहित्य है। यह देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोध करता है। यह जल, जंगल, जमीन और जीवन की रक्षा के लिए आदिवासियों के 'आत्मनिर्णय' के अधिकार की माँग करता है।

आदिवासी विमर्श के कारण आदिवासी जीवन से संबंधित साहित्य की रचना में पर्याप्त प्रगति और वृद्धि हुई। विविधताओं से भरा हुआ आदिवासी साहित्य बहुत ही समृद्ध है। आदिवासी समाज को समझने, उनकी समस्याओं से रूबरू होने और उनकी चुनौतियों के समाधान के लिए आदिवासी साहित्य हमारे लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। आदिवासी विमर्श के दौरान आदिवासियों से संबंधित तीन प्रकार के साहित्य लिखे गए। पहला आदिवासियों के विषय में गैर आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य, दूसरा आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य और तीसरा आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य। इनमें पहले और दूसरे प्रकार का आदिवासी साहित्य ज्यादा प्रामाणिक और ठोस माना जाता है। वस्तुतः "आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है, जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है। यह आदिवासी समाज का मूल है। आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य की मूल शर्त है, वहीं इसे बचाना आदिवासी साहित्य आंदोलन का मुख्य ध्येय।"[6] आदिवासी विमर्श ने आदिवासी रचनाशीलता को व्यक्त करने के लिए मुख्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास और संस्करण जैसी विधाओं को अपनाया। साहित्य की एक लंबी और समृद्ध मौखिक गेय परंपरा पूर्व से ही आदिवासियों के बीच उपस्थित थी जिसका लाभ आदिवासी रचनाकारों को हुआ। कविता आदिवासी विमर्श की प्रमुख विधा बनी। आदिवासियों की अस्मिता और संघर्ष की अभिव्यक्ति कविता में सर्वाधिक सशक्त ढंग से हुई है। कहानी और आत्मकथात्मक लेखन आदिवासी विमर्श में केंद्रीय स्थान नहीं बना सका। इसका एक कारण यह है कि आदिवासी समाज स्वभावतया और मूलतः आत्म में नहीं समूह में विश्वास करता है। "आदिवासियों की परंपरा, संस्कृति, इतिहास कला से लेकर विद्रोह तक, सबकुछ सामूहिक है और समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है।"[7] आदिवासी विमर्श के

बीच रचनाकारों ने बिरसा, सिदो-कान्हू, सिनगी दई, फूलों झानो, माकी मुंडा, गोंड रानी दुर्गावती और आदिवासियों के अन्य पुरखे क्रांतिकारी नेताओं और महान व्यक्तित्वों के जीवन और आंदोलनों से चेतना और प्रेरणा ग्रहण करते हुए उनको रचनात्मक रूप से अपनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। महाराष्ट्र के कवि भुजंग मेश्राम बिरसा-चेतना से लैस अपनी एक कविता में बिरसा के किसी दिशा से भी और किसी चीज से भी आने की बात करते हैं

"बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा-
घास काटती दरांती हो या लकड़ी काटती टांगी
यहां-वहां पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण
खेतों की बयार बन कर
कहीं से भी आ मेरे बिरसा
लोग तेरी बाट जोहते!"[8]

दरअसल बिरसा शक्ति और प्रतिरोध के उस शास्वत विश्वास के प्रतीक हैं जो आदिवासियों के तन-मन में ही नहीं बल्कि उनके दरांती और टांगी जैसे उपकरणों में भी व्याप्त हैं।

इक्कीसवीं सदी में कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि तमाम विधाओं में आदिवासी जीवन केंद्रित रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं में आदिवासियों के अस्तित्व पर छाये संकट का बेहद मार्मिक वर्णन किया गया है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर आदिवासियों के साथ हो रहे अन्याय और छलावे का बेबाक वर्णन इन रचनाओं में मिलता है। अपनी पहचान को लेकर आदिवासियों के सामने जो भयानक विडंबना आज उपस्थित हुई है उनको रचनाकारों ने व्यक्तित्व प्रदान की है। आदिवासियों के निवास स्थानों पर बाहरी लोगों के घुसपैठ के कारण जो भयानक परिस्थिति उत्पन्न हुई, उसने आदिवासियों के अस्तित्व को ही समाप्त करने का कार्य किया है। आज आदिवासियों की सभ्यता, संस्कृति, उनका अपना धार्मिक विधान, भाषा-बोली, खानपान, वेशभूषा आदि तमाम विशेषताएँ विलुप्त होने के कगार पर पहुँच गई हैं। आदिवासी भारत के मूल निवासी हैं। आदिवासियों के पहचान से और उनके अस्तित्व से इस देश की शिनाख्त होती रही है। आज आदिवासी जीवन संस्कृति और सभ्यता पर जो ख़तरा और संकट छाया है वह वास्तव में भारत की प्राचीन और ऐतिहासिक विरासत पर छाया संकट है। आदिवासी और उनसे जुड़े तत्वों का संरक्षण भारत की आत्मा के संरक्षण जैसा है। हजारों सालों से अन्याय, अत्याचार, शोषण और दमन सहते-सहते आदिवासी समुदाय लुप्त होने के कगार पर पहुँचकर भी झुकने को तैयार नहीं है। आदिवासी समुदाय ने ही भारतीय जनमानस को प्रतिरोध की संस्कृति सिखाई है। आदिवासियों के शोषण सहन के मौन से प्रतिरोध के स्वर तक की यात्रा का अद्वितीय चित्रण रमणिका गुप्ता की इस कविता में दिखाई पड़ता है,

"भूख को भूख, प्यास को प्यास कहना
आता नहीं था उन्हें
मार को मार, अन्याय को अन्याय
जुल्म को जुल्म कहना
उनकी सोच के दायरे में ही नहीं था
इसलिए बिना कहे-बिना बताए
मर जाते थे वे लोग
जंगल छोड़ भाग जाते

या भगा दिए जाते थे
जड़ों से काटकर
पर वे बोलते नहीं थे!
× × ×
अब वे सोचने लगे हैं
अपने फेफड़ों में हुए सुराख का राज
जान गए हैं
इसलिए मांग रहे हैं हिसाब
वह बोलने लगे हैं!"[9]

अपने क्षेत्र और मिट्टी से, अपने परिवेश से जुड़ाव और प्रेम की जो प्रवृत्ति आदिवासियों ने भारतीय जनता को सिखाई है वह अद्‌भुत है। प्रकृति से आदिवासियों का अटूट संबंध है। मनुष्य को प्रकृति के साथ किस तरह संतुलन और समन्वय स्थापित जीना चाहिए यह गुण आदिवासियों से सीखी जा सकती है। आज प्राकृतिक असंतुलन से जो आधुनिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं उनका निदान भी हमारे आदिवासी समुदाय की जीवन पद्धति का प्रमुख अंग रहा है। आदिवासियों की सामूहिक चेतना का विशेष महत्व है। भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में आदिवासियों के अवदान को भुलाया नहीं जा सकता।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में भी आदिवासियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अंग्रेजी राज में आदिवासियों की संस्कृति, परंपरा, जीवन शैली आदि को खत्म करने का प्रयास अंग्रेजों के द्वारा किया गया। इसमें दीकू अर्थात बाहरी लोगों ने भी अंग्रेजों का साथ दिया। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की तरह ही औपनिवेशिक शासन ने भी आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन पर कब्जा करने की कोशिश की और आदिवासियों को उनकी जड़ों से दूर करने का प्रयास किया। कई उपजातियों और समूहों में बटे प्रकृति के सान्निध्य में रहने वाले स्वतंत्रता प्रेमी और स्वाभिमानी आदिवासियों ने अंग्रेजों के खिलाफ अपनी स्वायत्तता की लड़ाई अलग-अलग लड़ी जो आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की आधारशिला बनी। तिलका मांझी ने 1871 ई. में संथाल परगना में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध विद्रोह की शुरुआत की, जो शीघ्र ही आसपास के आदिवासी क्षेत्रों में फैल गई। इसके बाद 'हो' आदिवासियों द्वारा सिंहभूम विद्रोह (1820 ई.), कोल विद्रोह (1831 ई), संथाल क्रांति (1855 ई.), लरका आंदोलन (1828-1832 ई.), खासी विद्रोह (1829 ई.) आदि विभिन्न आदिवासी विद्रोह की अच्छी-खासी संख्या दिखाई पड़ती है। "एक तरफ जब 1857 की क्रांति को अंग्रेजों द्वारा पूरी तरह दबा दिया गया था। उसके बावजूद बस्तर में आदिवासियों का असंतोष अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह की तैयारी कर रहा था। आम की हरी शाखा जिसे 'मीरो' कहा जाता है उनके प्रतीक चिह्न थे। इन्हें घर घर पहुँचा कर आदिवासियों को एकत्रित किया गया।"[10] अंग्रेजों के खिलाफ आदिवासियों के विद्रोह आगे भी चले, जिनका अपना सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक महत्व है।

आधुनिकता और तकनीक के विकास के साथ-साथ आदिवासियों के अस्तित्व पर छाया संकट और अधिक गहरा गया है। दुनिया की विशाल आबादी के भरण-पोषण के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और जंगलों का विनाश बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। इससे संवेदनशील आदिवासी क्षेत्रों में बाहरी लोगों की आवाजाही बढ़ी है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की पूंजीवादी व्यवस्था ने विभिन्न संसाधनों के उत्पादन के नाम पर आदिवासियों को उनकी जमीनों से उजाड़ने का काम किया है। आदिवासी स्त्री, पुरुष और बच्चों के श्रम का दोहन किया जा रहा है और उन पर अत्याचार किए जा रहे हैं। नक्सलवाद और सलवा जुडूम जैसे संगठनों की प्रक्रियाओं

से भी आदिवासियों को नुकसान ही पहुंचा है। सरकारी मशीनरी, अधिकारियों और सुरक्षाकर्मियों के द्वारा भी आदिवासियों को प्रताड़ित करने के प्रमाण मिलते हैं। घटते जंगल और तेज गति से हो रहे वन विनाश ने आदिवासी अस्मिता संकट को और भी गहरा बना दिया है। आदिवासियों की उपेक्षा और उनके शोषण का एक लंबा इतिहास है। वस्तुत दुनिया भर में आदिवासियों की कीमत पर गैर आदिवासियों के विकास का कुत्सित प्रयास बहुत पहले से किया जा रहा है और यह आज भी जारी है। रमणिका गुप्ता ने भारतीय संदर्भों में इसकी सटीक शिनाख्त की है कि 'भारत में भी आजादी के बाद देश के विकास के नाम पर सरकार ने भारी संख्या में आदिवासियों की जमीनें अधिग्रहित की और उन्हें विस्थापित कर दिया। फलत: वे या तो रोजगार की खोज में पलायन कर दूसरे प्रदेशों में जाने लगे जहाँ उनकी भाषा और संस्कृति दोनों खत्म हो गई अथवा अपने ही घर मैं विस्थापित होकर किसान से खेतिहर मजदूर या बंधुआ मजदूर बन जाने पर मजबूर हो गए।"[11] पिछले तीन दशकों में हिंदी आदिवासी विमर्श ने एक दीर्घ यात्रा तय की है। इस दौरान रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से आदिवासी जीवन से संबंधित विभिन्न पक्षों को साहित्य की मुख्यधारा में शामिल किया है। आदिवासी विमर्श ने आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं को देखने और समझने की एक नवीन दृष्टि विकसित की है जो पहले की तुलना में अधिक संवेदनशील, सूक्ष्म और गहरी है। यह दृष्टि आदिवासी समुदाय की समस्याओं को अपनी शर्तों पर नहीं बल्कि आदिवासियों की शर्तों पर देखने समझने और उनके समाधान ढूंढने की पक्षधर है। आदिवासी विमर्श ने आदिवासियों के पक्ष में उनके हक और अधिकारों को सुरक्षित और संरक्षित करने के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण किया है। परंतु सच्चाई यही है कि आदिवासियों के अस्तित्व पर छाया संकट अभी खत्म नहीं हुआ है। अपने हक और अधिकारों के लिए, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए एक लंबी लड़ाई इस समुदाय को लड़नी अभी बाकी है। धरती के मूल निवासी आदिवासियों की समस्याएँ और उनकी चुनौतियों से संवेदना रखने वाले हम में से हर एक व्यक्ति की यह जिम्मेदारी है कि हम आदिवासियों के हक में आवाज उठाएं और आदिवासी जीवन, सभ्यता, संस्कृति को सुरक्षित रखते हुए भारत की ऐतिहासिकता को बचाने का प्रयास करें। हिंदी का आदिवासी विमर्श इन उद्देश्यों की पूर्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है, इसलिए इसकी प्रासंगिकता निर्विवाद और महत्वपूर्ण है।

संदर्भ :

1. भारत के आदिवासी: चुनौतियां एवं संभावनाएं, डॉ जनक सिंह मीणा, डॉ कुलदीप सिंह मीणा (संपादक), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 103
2. आदिवासी कौन, रमणिका गुप्ता(संपादक), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पांचवा संस्करण, 2016, पृ. 27
3. समकालीन मानव शास्त्र –डॉक्टर शंभूदयाल दोषी, पृ. 392
4. आदिवासी कौन, रमणिका गुप्ता(संपादक), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पांचवा संस्करण, 2016, पृ. 25
5. आदिवासी कौन, संपादक रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पांचवा संस्करण, 2016, पृ. 92
6. आदिवासी और हिंदी उपन्यास: अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष, गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण 2016, पृ. 26
7. आदिवासी और हिंदी उपन्यास: अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष, गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण 2016, पृ. 29
8. आदिवासी लेखन: एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, द्वितीय

संस्करण, 2017, पृ. 19
9. आदिवासी लेखन: एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, द्वितीय संस्करण, 2017, पृ. 32
10. भारत के आदिवासी: चुनौतियां एवं संभावनाएं, डॉ जनक सिंह मीणा, डॉ कुलदीप सिंह मीणा (संपादक), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 15
11. आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2014, पृ. 57

❖❖❖

आलेख

अनुपम मिश्र के गद्य में कहावतें और लोकोक्तियाँ

❍ रमेशचंद्र सोनी[1]

❍ आशुतोष पार्थेश्वर[2]

अनुपम जी के व्यक्तित्व में जैसी शालीनता दिखाई देती है, वही शालीनता वही सहजता तथा वैसी ही सरलता उनके गद्य में भी देखने को मिलती है। अनुपम मिश्र के गद्य में लोक के दर्शन होते हैं लोक को अपनी सुंदर दृष्ट से देखने का सालीका कोई अनुपम जी से सीखे। वे लोक की पर्यावरणीय समस्याओं को देखते हैं तथा लोक से ही उन समस्याओं को हल करने का तरीका सीखते हैं और समाज को उन तरीकों से परिचित भी कराते हैं। लोक समाज से हमेशा जुड़े रहने के कारण उनके लेखन में कहावतें, मुहावरे और लोकोक्तियों का समुचित प्रयोग देखा जा सकता है।

अनुपम मिश्र हमेशा पर्यावरण विषय के बारे में जानने समझने के लिए प्रयासरत रहे, समाज जिस भाषा में सीखना चाहा अनुपम जी उसी भाषा में अपनी बात कही। उनके गद्य में एक साहित्यकार की तरह परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग तो हुआ है इसके साथ साथ ग्रामीण समाज को सहजता से समझने के लिए देशज और ठेठपन जैसी भाषायी शब्दों की भरमार भी देखने को मिलती है। वे अपनी इसी ठेठपन तथा देशज शब्दों के कारण अलग स्थान बनाते हैं। अनुपम जी के गद्य में इतिहास और पुराणों से उदाहरणों का प्रयोग देखने को मिलता है। इसके साथ-साथ इन कहावतों और लोकोक्तियों का प्रयोग। इन्हीं उदाहरणों के द्वारा बहुत गूढ़-गूढ़ बातों को बड़ी सरलता और सहजता से वे प्रकट करते हैं। ऐसा इसलिए करते हैं की समाज उनकी बात को अच्छे से समझ सके और जागरूक बन सके। आज का समय विकास का है संपूर्ण विश्व विकास की दौड़ में है उद्योगीकारण और तकनीकिकरण का युग चल रहा है, विश्व में एक से एक तकनीकी का आविष्कार हो रहे हैं, इन आविष्कारों ने एक नया विश्व बनाया है एक ऐसा विश्व जो विकास की प्रतिस्पर्धा से रोज बनता है। विकास इतनी तेजी से हो रहा है की मनुष्य अपने अस्तित्व को संकट में डाल दिया है। सबसे बड़ा संकट आज पानी का है पानी के लिए एक देश का दूसरे देश के साथ झगड़ा हो रहे हैं ,देश के अंदर एक राज्य दूसरे के साथ, पड़ोसियों के झगड़े। पानी के लिए कहा जाता है कि विश्व में तीसरा युद्ध होगा वह युद्ध होगा नहीं बल्कि चल रहा है। अनुपम मिश्र जल संकट को जानते हैं पानी पर ही वह पूरा जीवन काम करते रहे। अनुपम जी पानी को बचाने का उपाय बताते हैं वे मानते हैं कि समाज विकास के दौर में अपनी पुरानी परंपराओं, तौर तरीकों

---

1. शोधार्थी, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2. सहआचार्य, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

को भूलता जा रहा है। पुराने तौर तरीके, व्यवस्थाएं ही आज पानी के संकट से हमें बचा सकती है। एक समय था जब पूरे देश में हजारों की संख्या में तालाब थे छोटी-छोटी झीलें थी, कुआं, कुई, टांके इत्यादि। जिनके कारण भूजल स्तर ऊपर रहता था और समाज खेती करता था उसको पीने के लिए पानी पूरा साल मिलता था। लेकिन आज उन्हीं तालाबों को नष्ट कर दिया गया क्योंकि हमको विकास करना है। दिल्ली राजधानी में एक समय में 800 तालाब थे आज उंगली पर गिनने भर के बचे हैं क्योंकि तालाब के स्थान पर अपार्टमेंट बनाए गए फैक्ट्रियां बनाई गई हवाई अड्डे बनाए गए। आज की स्थिति यह है की एक दिन भी अच्छी वर्षा हो जाए तो बाढ़ आ जाती है। पानी तो अपना रास्ता बनाएगा ही उसको जहां जाना था जाएगा, गलती हमारी है हमने उसके रास्ते में विकास कर डाला है। हमने नदियों को गंदा कर दिया। दिल्ली में यमुना नदी कानपुर में गंगा । ऐसे ही अनेक नदियां हैं जो अपना अस्तित्व बचाने के लिए पुकार रही हैं, ऐसे ही समाज में अनेक पर्यावरणीय समस्याएं हैं जिनको अनुपम जी अपनी भाषा में समाज को बताते हैं और उसके लिए कहावतें और मुहावरों लोकोक्तियां का प्रयोग करते हैं। इन्हीं कहावतों और लोकोक्तियों के माध्यम से सरकार की अनउपयोगी योजनाओं पर व्यंग्य करते हैं। मुहावरों, लोकोक्तियों का उनकी भाषा में प्रयोग उनकी प्रमुख विशेषता दिखाई देती है।

समाज में एक कहावत है "आग लगने पर कुआं खोदना"[1] इस कहावत के माध्यम से अनुपम जी आज की प्राकृतिक समस्या तथा उसके समाधान के बारे में बताते हैं। पानी की कमी होने से देश में अकाल की आग लग गई है चारों तरफ अकाल से बचने की तैयारी चल रही है। सरकार व्यवस्था करने में अब करोड़ों रुपए खर्च करने को तुली है। टैंकरों से, ट्रेनों से पानी अकाल पीड़ित राज्यों में पहुंचाया जा रहा है।यहां तक की पानी के जहाज से गुजरात में अकाल के दौरान पानी पहुंचाया गया था। तो बात सीधे समझ में आ रही है कि अगर पहले व्यवस्था कर ली गई होती तो इतनी परेशानी न झेलनी पड़ती। इसी को कहते हैं आग लगने पर कुआं खोदना। अनुपम मिश्र कहते हैं अकाल और बाढ़ अतिथि तो नहीं है इसका आना तय हो जाता है प्रकृति कुछ महीने पहले ही इसका संकेत दे देती है इसके बारे में अनुपम जी बताते हैं -"दिसंबर के अंत में जब मानसून ने अपने को समेटा था तब बहुत से हिस्से में उसने यह जानकारी, यह सूचना भी बरसा दी थी कि कहां-कहां औसत से कम वर्षा हुई है। पर कुछ अपवाद छोड़कर ना तो धरती के बेटों ने, किसानों ने और ना कलेक्टरों ने इस सूचना को बटोर कर रखा। सब जगह गांव में, खेतों में शहरों में पीने का पानी,सिंचाई का पानी उसी ढंग से उलीचा जा रहा। नतीजा यह हुआ कि 6-7 राज्यों में जल स्तर लगातार नीचे गिरता गया। वह इतना नीचे गिर गया फिर बिजली के भी हाथ नहीं लग सका।"[2]

अनुपम जी का काम मुख्य रूप से जल संरक्षण, बाढ़, सूखा आदि पर है और इसके लिए उनका संबंध सबसे ज्यादा राजस्थान से रहा है। वे कहते हैं कि देश में सबसे कम वर्षा राजस्थान में विशेषकर बीकानेर, जैसलमेर, अलवर आदि जिलों में होती है इस मरुप्रदेश में कोई 15 सेंटीमीटर वर्षा का औसत माना गया है लेकिन फिर भी मरुप्रदेश का समाज पानी का रोना कभी नहीं रोया बल्कि उसके लिए समुचित व्यवस्था किया। सबसे पहले वहां के लोगों ने अपने पुरखों द्वारा बताए गए तरीकों को अपनाया, तालाब का निर्माण करना शुरू किया, जो तालाब नष्ट हो गए रहे थे उसके जीर्णोद्धार के लिए कमर कसी, हर नदी नालों को छोटे-छोटे बांधों से बाधा। वर्षा की बूंद को सहेज लेने का सभी प्रकार से इंतजाम किया। आज वहां पानी की कमी नहीं है उनके तालाब हमेशा भरे रहते हैं। पीने के पानी के लिए वह अपने-अपने घरों में कुई, कुंड, टांका बनाए जिसमें छत और आंगन के बारिश के पानी को इकट्ठा किया, जिससे पूरे साल पानी की कमी नहीं होने पाती है। राजस्थान का समाज खुद को तैयार किया और अकाल, बाढ़, सूखा से निपटने के लिए पहले से अपनी व्यवस्था किया। इस कहावत श्आग लगने पर कुआं खोदनाश के द्वारा अनुपम जी सरकार और समाज पर व्यंग्य करते हुए दिखाई देते हैं।

इसी तरह से एक कहावत है "चुटकी भर जीरे से ब्रह्म भोज"[3] अनुपम मिश्र का एक लेख है 'साध्य, साधन और साधना' इसमें वे इस कहावत का उचित अर्थ और प्रयोग के बारे में बताया है। समाज इस कहावत को समझने का अपना नजरिया देखता है लेकिन अनुपम मिश्र अपनी दृष्टि से इस कहावत की व्याख्या करते हैं वह उनकी अपनी भाषा शैली है। वे मानते हैं कि कोई भी छोटा बड़ा काम करने का एक लक्ष्य होता है जिसे साध्य कहते हैं इसके लिए अनेक प्रकार के साधन की व्यवस्था सरकार और समाज करता है लेकिन इस साध्य तक पहुंचाने के लिए जो साधना होनी चाहिए वह समाज में नहीं दिखती। अगर हम ईश्वर की स्तुति करें और उसमें श्रद्धा ना रहे तो हमारी स्तुति किस काम की?

चुटकी भर जीरे से ब्रह्म भोज अनुपम जी कहते हैं "सिर्फ जरा है वह भी चुटकी भर ना सब्जी है ना डाल ना आता पर ब्रह्म भोज हो सकता है। साध्य ऊंचा हो साधना हो तो सब साधन जुट सकते हैं हां चुटकी भर जीरे से पार्टी नहीं हो सकती।" सरकार जो कुछ जनता के लिए करे, उसके लिए व्यवस्था अपनी होनी चाहिए किसी और कि नहीं। आज हम देखते हैं कि जो भी योजनाएं शुरू होती हैं उसमें विश्व बैंक से उधार लिया गया पैसा लगा होता है। ऐसा नहीं होना चाहिए अगर साध्य अपने हैं तो साधन भी स्वयं के होने चाहिए, देश का होना चाहिए। इसी तरह से एक उदाहरण है जयपुर जिले के एक गांव का इसे देखें – "वहां ग्राम के काम में लगी एक संस्था ने बाहर की मदद से गरीब गांव में पानी जुटाने के लिए कोई 30 हजार खर्च कर एक तालाब बनवाया। फिर धीरे-धीरे लोगों से उसकी आत्मीयता बढ़ी। बातचीत चली तो गांव की एक बुजुर्ग ने कहा कि तालाब तो ठीक है पर एक गांव का नहीं, हमारा नहीं, सरकारी सा दिखता है। पूछा गया कि यह अपना सा कैसे दिखेगा। सुझाव आया कि इस पर पत्थर की एक छतरी स्थापित होनी चाहिए पर वह तो बहुत महंगी होती है। लागत का अंदाजा बिठाया तो उसकी कीमत तालाब की लागत से भी ज्यादा निकली। संस्था ने बताया कि हम तो यह काम नहीं करवा सकते। हमारे पास तालाब के लिए अनुदान है, छतरी के लिए नहीं। गांव ने जवाब दिया की छतरी के लिए संस्था से मांग ही कौन रहा है। गरीब माने गए गांव ने देखते ही देखते वह पहाड़ सी राशि चंदा से जमा की, अपना श्रम लगाया और तालाब की पाल पर गाजे-बाजे, पूजा अर्चन के साथ छतरी की स्थापना कर डाली।"[4]

उपर्युक्त उदाहरण को देखकर यह सहज ही समझा जा सकता है कि समाज में उस तालाब के काम को लेकर कितनी आत्मीयता रही होगी। लोगों ने साथ दिया और छोटे-छोटे हिस्से से एक महान कार्य कर गया समाज जिसे आज भी याद किया जा रहा है।

ऐसे ही एक कहावत समाज में प्रचलित है 'पैर पर कुल्हाड़ी मारना' इस कहावत के माध्यम से अनुपम मिश्र अपनी भाषा में समाज और सरकार पर व्यंग्य करते हैं जो आज विकास का नारा लगा रहा है। हमारी स्थिति आज यह हो गई है की हम अपनी जड़ों से अपने पूर्वजों के बताए गए ज्ञान से दूर हो गए हैं। उद्योगीकरण के दौर में प्रौद्योगिकी और तकनीकी का जबरदस्त विकास हो रहा है मनुष्य चांद पर पहुंच ही गया था और दूसरी ग्रहों पर अपना पैर पसार रहा है। वैश्विक स्तर पर विकास के नाम पर प्रतिस्पर्धा हो रही है। परंतु हम देख रहे हैं कि प्राकृतिक आपदाएं भी उतनी ही तेजी से बढ़ रही है। अनुपम जी मानते हैं कि प्राकृतिक संकट आज बहुत बढ़ गया है आपदाओं का आना भी ज्यादा हो गया है, अब पहले से ज्यादा जन धन की हानि देखने को मिलती है। विकास के नाम पर मनुष्य द्वारा किया गया पर्यावरणीय प्रदूषण से अब मनुष्य का ही अस्तित्व खतरे में है वह खुद अपने पैर पर कुल्हाड़ी मार रहा है।

अनुपम जी आधुनिक विकास के दौर की स्थिति का एक खाका प्रस्तुत करते हैं "अपनी जड़ों से कटे इस नए समाज ने बहुत से चमत्कार कर दिखाए हैं। निसंदेह आज कुछ करोड़ हाथों में मोबाइल फोन है। लाखों कंप्यूटर है। लोगों की टेबलों पर और गोद में भी। अब तो हाथ में भी टैबलेट है। इन माध्यमों से पूरी दुनिया

में तो बातें हो सकती हैं पर बगल में बैठे व्यक्ति से संवाद टूट गया है। सामाजिक कहें जाने वाले कंप्यूटर नेटवर्क चाहे जब कुछ लाख लोगों को कुछ ही घंटे में बेंगलुरु, चेन्नई, हैदराबाद से के कर उत्तर पूर्व के प्रदेशों में जाने पर मजबूर कर देता है। इस विषय में महाराष्ट्र में आधुनिक सिंचाई की योजनाओं पर सबसे ज्यादा राशि खर्च की है। आज उसी महाराष्ट्र में सबसे बुरा अकाल पड़ रहा है।"[5]

तकनीकी विकास के दौर में हम अपने पुराने तरीकों, रीति -रिवाजों को भूल रहे हैं। आज जल के लिए हाहाकार मचा है यह कई देशों की समस्या है, नदियों को हमारे विकास ने प्रदूषित कर दिया है भूजल स्तर गिरता जा रहा है, इन सब का एक ही कारण है हम जल प्रबंधन पर सही से कम नहीं कर रहे हैं। जो हमारे पुरखों ने जल प्रबंधन (तालाब, झीलें, नहरें, कुआं आदि) बनकर दिया था हम उसके स्थान पर बिल्डिंग, हवाई अड्डा ,खेल का मैदान, अपार्टमेंट बना दिए। इसलिए आज यह समस्या हमारे समक्ष है। जिसने इसको संजोया और संभाला है वह निश्चिंत है। हमें अपनी जड़ों से जुड़कर रहना होगा, लोगों से संवाद स्थापित करना होगा। तभी एक सुखद समाज हम बना सकेंगे। अनुपम जी कहते हैं श्अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारनाश कहावत है इसमें यह भी जोड़ा जा सकता है कि श्हम खुद अपनी कुल्हाड़ी की धार चमका कर उसे और ज्यादा धारदार बनाकर गा बजा कर अपने पैरों पर मरते रहेंगेश यह बोलकर वह समाज पर व्यंग्य करते हैं जो अपनी जड़ों से कट चुका है।

अनुपम मिश्र अपनी बात कहने के लिए समाज में प्रचलित पंक्तियों को अपनी सुविधा के अनुसार प्रयोग कर लेते हैं। एक कबीर की पंक्ति है "साई इतना दीजिए, वामें कुटुंब समाय"[6] इसका मरुप्रदेश के संदर्भ में बहुत सुंदर प्रयोग किया है। वह कहते हैं मरुप्रदेश का समाज कभी कम पानी होने का रोना नहीं रोया था जितना भी वर्षा का जल गिरा उसी को सहेज लेने की तरकीब बनाई थी। वहां वर्षा कम होती है, भूजल स्तर बहुत नीचे है, और पानी भी खारा। वह हर चुनौती को स्वीकार किया तथा खुद को पानी की समस्या को हल करने के लिए तैयार किया। आज की स्थिति यह है कि वहां प्रत्येक घरों में पीने के पानी की समुचित व्यवस्था है, तालाब पर्याप्त हैं जिससे सिंचाई की जाती है। अनुपम जी कहते हैं कि मरुभूमि का समाज श साई इतना दीजिए , वामे कुटुंब समायश के बदले कहा होगा साई जितना दीजिए, वामें कुटुंब समाय। उसे जितना भी मिला प्रकृति से उतने से ही संतोष किया तथा स्वयं को तैयार किया।

इसी तरह से मरुप्रदेश के लोगों में एक कहावत प्रचलित है "इंदर थारी एक घड़ी , भूण थारो बारो मास"[7] इस कहावत का अर्थ है इंद्र को यहां पानी बरसने का बहुत कम मौका मिलता है लेकिन जो ये चकरी है वह बारह महीने चलना चाहिए। मतलब पानी का संयोजन इतना समझदारी से होना चाहिए जिससे पूरे साल पानी कम न पड़े उसका उपयोग हो सके। आज हम ऐसी कहावतों को याद कर रहे हैं क्योंकि राजस्थान का समाज पानी के काम को बहुत सुंदर तरीके से किया। आज देश के अन्य क्षेत्रों में जितनी वर्षा 1 घंटे में हो जाती है और चारों तरफ पानी लबालब भर जाता है, वैसी वर्षा 1 घंटे का गिरा पानी मरुप्रदेश में पूरे वर्ष का औसत पानी होता है। मतलब कहीं 1 घंटे का गिरा पानी मरुक्षेत्र के वर्ष भर गिरे पानी के बराबर है। उसके बाद भी वहां का समाज एक एक बूंद को संजोकर रखता है और ऐसी कहावत को याद करता है।

अनुपम मिश्र श्मन चंगा तो कठौती में गंगाश लोकोक्ति की व्याख्या करते हैं यह व्याख्या पर्यावरण को केंद्र में रखकर वे आज के संदर्भ में अपनी बात कहते हैं। अनुपम जी का विचार है - "रोज कमाकर खाने वाला एक संत आता है। एक पेड़ के नीचे अपनी कठौती में चमड़े के, नए नहीं, इस्तेमाल किए गए गंदे टूटे टुकड़े डालकर भिगोता है और जूते चप्पलों की मरम्मत करता है। फिर अपने अंतर्मन की दृढ़ता से हमसे कह जाता है मन चंगा तो कठौती में गंगा। आज गंगा की सफाई की खूब चर्चा है। उसका बजट तो कुछ ऐसा है कि हमने जितना गणित पढ़ा है, उतने शून्य लगाकर हम उस राशि का ठीक आकलन भी नहीं कर पाएंगे। तो डर है की

गंगा साफ हो गई और हमारा, हमारे समाज का मन चंगा नहीं बच पाया तो? एक प्रसंग और है कभी दिल्ली में ऐसे ही चंगे मन वाले किसी मोची ने अपनी एक-एक पाई बेचकर दूसरों के लिए एक बहुत बड़ा और सुंदर बाग लगाया था। उसे समय के कृतज्ञ समाज ने उसे उसी नाम से याद रखा था। लेकिन फिर बाद में जिनका मन चंगा नहीं बच पाया उन्हें यह जगह इस नाम से ठीक नहीं लगी और कोई 40 साल पहले इस बड़े बाग को काटकर दिल्ली के बड़े अधिकारियों के बड़े-बड़े घर यहां सरकार ने बनाई और यह जगह है आज मोती बाग बन गई है।"[8]

समाज का मन चंगा रहना चाहिए अगर नहीं रहा तो समस्या अवश्य होगी। अनुपम मिश्र समसामयिक संदर्भ में हो रहे विकास से आज पर्यावरण संकट पर इस लोकोक्ति के माध्यम से व्यंग्य करते हैं।

अनुपम जी मानते हैं हमारे देश में पर्यावरण की समस्या नहीं है समस्या संस्कृति की है। पश्चिम का प्रभाव हमारे ऊपर इतना पड़ता जा रहा है कि हम अपनी संस्कृति को पिछड़ी मानकर भूल जाना चाहते हैं। आज हम पैसा नहीं डॉलर चाहते हैं और डॉलर को ला सके इसके लिए कुछ भी कर सकते हैं, पर्यावरण को प्रदूषित कर संकटग्रस्त कर सकते हैं। पश्चिम की नकल करने के लिए खुद को विकसित करने के लिए हमने क्या क्या नहीं कर डाला है। पश्चिम के उद्योग भारत में आ जाए इसके लिए जंगलों को काटा, नदियों को गंदा कर डाला खुद को विकसित करने के लिए वन ,खनिज, वन्य जीव की तस्करी करने के लिए प्रयासरत हैं। ऐसे में एक कहावत प्रसिद्ध है - "केक वाली ! केक खा भी ली और रख भी ली।"[9] इसका सीधा सा अर्थ है विकास भी कर लो और पर्यावरण भी बचा लो तो यह असंभव बात होगी। दोनों में एक ही हो सकता है या विकास नहीं तो पर्यावरण। आज विकास के नाम पर किए जा रहे कार्य पर्यावरण को संकट में डाल रहा है।

अनुपम मिश्र जी लोक संस्कृति के सक्रिय लेखक हैं वह अपनी बात को लोक की भाषा में व्यक्त करना ज्यादा सहज मानते हैं। तभी तो वह कहावतों, लोकोक्तियां और मुहावरों का संदर्भ लेकर अपनी बात करते हैं जिससे लोक समाज को ठीक-ठीक समझा सके, यह उनकी महत्वपूर्ण विशेषता है।

संदर्भ :

1. अनुपम मिश्र, साफ माथे का समाज, पेंग्विन इंडिया, नई दिल्ली 2006,
2. वही, पृ. 6
3. वही, पृ. 119
4. वही, पृ. 124
5. अनुपम मिश्र, अच्छे विचारों का अकाल, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा सं. 2008, नई दिल्ली, पृ. 48
6. वही, पृ. 66
7. अनुपम मिश्र, बिन पानी सब सून, राजकमल प्रकाशन, पहला सं. 2020, नई दिल्ली, पृ. 217
8. वही, पृ. 285
9. वही, पृ. 381

❑❑❑

आलेख

सेवासदन और बाजारे हुस्न की 'सुमन'

❍ ज़ीनत ज़्या[1]

❍ आशुतोष पार्थेश्वर[2]

प्रेमचंद का उपन्यास सेवासदन सन् 1918 में हिंदी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। यह उर्दू उपन्यास 'बाजारे हुस्न' का हिन्दी रूपान्तरण है। सेवासदन उपन्यास 1916 ई. में पहले उर्दू भाषा में लिखा गया लेकिन प्रकाशित पहले हिन्दी में हुआ। बाद में सन् 1921 ई. में दारूल इशाअत पंजाब लाहौर से उर्दू में यह प्रकाशित हुआ।

इस उपन्यास के केन्द्र में नारी, नारी जीवन की समस्याएँ वेश्यावृत्ति, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि हैं। लेकिन इसकी मूल समस्या वेश्यावृत्ति है, प्रेमचंद अपने इस उपन्यास में स्त्रियों के जरिए समाज में स्त्रियों की स्थिति को दर्शाते हैं। सेवासदन और बाजारे-हुस्न की मुख्य नायिका सुमन है। उपन्यास में प्रेमचंद उसके जीवन की करुण गाथा को बड़े ही मार्मिक तरीके से प्रस्तुत करते हैं। सुमन के जीवन की नि:सहायता, पराधीनता, विवशता और उसके साथ पशुओं जैसा व्यवहार साथ ही दहेज प्रथा, अनमेल विवाह के कारण वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर होना आदि का इस उपन्यास में विस्तार से वर्णन है। सुमन एक सुन्दर, सुशिक्षित और स्वाभिमानी नारी है। आर्थिक विषमता और दहेज प्रथा के कारण सभी गुणों से युक्त होने के बावजूद वह योग्य वर पाने से वंचित रह जाती है। इस लेख में 'सेवासदन' और 'बाजारे-हुस्न' की सुमन की परस्परता का मूल्यांकन किया गया है। निश्चय ही इसमें तद्युगीन हिंदी-उर्दू भाषी समाज की तस्वीर सामने आ पाएगी। कुछ अंश निम्नवत् है-

दोनों भाषाओं में सुमन की कथा एक ही है बावजूद यथास्थान दोनों पाठ में अंतर भी है। यथा:

1. "सुमन कितनी रूपवती, कितनी गुणशील, कितनी पढ़ी-लिखी लड़की है, इन मुर्खों के घर पड़कर उसका जीवन नष्ट हो जायेगा।"[1] (हिन्दी)

"सुमन कितनी हसीन, कितनी सलीके असार, कितनी तालीम याफ्ता लड़की है इन गँवारों के घर पड़कर उसकी जिन्दगी तबाह हो जायेगी।"[2](उर्दू)

तुलना : क. हिन्दी उर्दू पाठ में कोई अन्तर नहीं है। दोनों पाठ में प्रयुक्त शब्द एक-दूसरे के पर्याय हैं।

2. "फागुन में सुमन का विवाह हो गया। गंगाजली दामाद को देखकर बहुत रोई।"[3] (हिन्दी)

"फागुन में शादी हो गयी। गंगाजली ने दामाद को देखा तो गोया सीना में एक बरछी सी लग गयी।"[4]

---

1. शोधार्थी, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2. सहआचार्य, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

(उर्दू)

तुलना : क. उर्दू पाठ में 'सीना में एक बरछी सी लग गयी' मुहावरो का प्रयोग है' जबकि हिन्दी में वह सीधे तौर पर है।

3. "धीरे-धीरे सुमन ने सौन्दर्य की चर्चा मुहल्ले में फैली। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ आने लगी। सुमन उन्हें नीच दृष्टि से देखती, उनसे खुलकर न मिलती। पर उसके रीति-व्यवहार में वह गुण था, जो ऊँचे कुलों में स्वाभाविक होता है। पड़ोसियों ने शीघ्र ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया।"[5] (हिन्दी)

"रफ्ता-रफ्ता सुमन के हुस्न के चर्चे मुहल्ले में फैले पास-पड़ोस की औरतें आने लगी। सुमन उन्हें जिल्लत की निगाह से देखती उनसे खुलकर न मिलती पर इसके तौर तरीके में वो नफासत थी। जो शोरफा का जेवर है, पड़ोसियों ने बहुत जल्द इसकी अताअत स्वीकार कर ली।"[6] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों पाठ में कोई अन्तर नहीं है। दोनों पाठ एक-दूसरे के पर्याय हैं। जैसे हिन्दी में 'जो ऊँचे कुलों में स्वाभाविक होता है को उर्दू में 'जो शोरफा का जेवर है से बदला गया है। यहा उर्दू पाठ अधिक प्रभावी है।

4. "उसने अपने घर यही सीखा था कि मनुष्य को जीवन में सुख-भोग करना चाहिए। उसने कभी वह धर्म चर्चा न सुनी थी, वह धर्म-शिक्षा न पाई थी, जो मन में संतोष का बीजरोपण करती है। उसका हृदय असंतोष में व्याकुल रहने लगा।"[7] (केवल हिन्दी)

टिप्पणी : यह अंश केवल हिन्दी पाठ में उपस्थित है।

5. "मैं दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूँ। किसी भलेमानुस के घर में मेरी रोक तो नहीं, कोई मुझे नीच तो नहीं समझता। वह कितना ही भोग-विलास करे, पर उसका कहीं आदर तो नहीं होता। बस, अपने कोठे पर बैठी अपनी निर्लज्जता और अधर्म का फल भोगा करे। लेकिन सुमन को शीघ्र ही मालूम हुआ कि मैं इसे जितना नीच समझती हूँ, उससे वह कहीं ऊँची है।"[8](हिन्दी)

"मैं गरीब सही अपनी अस्मत पर कायम हूँ। किसी शरीफ आदमी के घर मेरी रोक तो नहीं। भोली कितना ही ऐश आराम करे पर इसकी कहीं इज्जत तो नहीं होती। बस अपने कोठे पर बैठी अपनी बेशर्मी और अपनी बेहयायी का स्वांग दिखाया करे। लेकिन सुमन को बहुत जल्द मालूम हो गया, कि उसे हकीर समझना मेरी गलती है।"[9] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों पाठों में भाव साम्य है। हालांकि उर्दू प्रयोग में हिन्दी की तुलना में चमक अधिक है। जैसे हिन्दी में 'भोगा करे' है तो उर्दू में 'स्वांग दिखाया करे।'

6. "मेरे जीवन के दिन रो-रोकर कट रहे हैं। मैंने आप लोगों का क्या बिगाड़ा था कि मुझे इस अंधे कुँए में धकेल दिया। यहाँ न रहने को घर है, न पहनने को वस्त्र, न खाने को अन्न। पशुओं की भाँति रहती हूँ।"[10] (हिन्दी)

"वो लिखती मेरी जिन्दगी के दिन रो-रोक कट रहे हैं। मैंने क्या खता की थी। कि तुमने मुझे इस अंध `रे कुँए में ढकेल दिया।"[11] (उर्दू)

तुलना : 1. उर्दू में यह पाठ संक्षिप्त है तो हिन्दी में विस्तृत है।' यहाँ न रहने को घर है, न पहनने को वस्त्र, न खाने को अन्न। पशुओं की भाँति रहती हूँ।'यह अंश उर्दू में नहीं है।

7. "क्या इसी काल कोठरी में पड़े-पड़े मर जाएँ? घर में आँगन होगा, तब तो वह यह बहाना न कर सकेगी।"[12](हिन्दी)

"क्या इसी कफस में पड़े-पड़े मर जाऊँ?"[13] (उर्दू)

तुलना : 1. हिन्दी में 'काल कोठरी' का प्रयोग है और उर्दू में 'कफस का'। हिन्दी उर्दू दोनों पाठ में समानता है। हिन्दी पाठ का शब्द 'घर में आँगन होगा, तब तो वह यह बहाना न कर सकेगी।' उर्दू में नहीं है।

8. "सुमन सिंहनी की भाँति आग्नेय नेत्रों से ताकती हुई उठ खड़ी हुई। सिसकियों के आवेग को बलपूर्वक रोकने के कारण मुँह से शब्द न निकलते थे।"[14] (हिन्दी)

"सुमन गैज व गजब की तस्वीर बनी हुयी आतशी निगाहों से ताकती हुयी उठ खड़ी हुयी।"[15] (उर्दू)

तुलना : क. हिन्दी में 'सिंहनी की भांति' का प्रयोग है तो उर्दू में 'गैज व गजब'।

ख. हिन्दी प्रयोग उर्दू की तुलना में अधिक विस्तृत और स्पष्ट है।

9. "रात के दस बज गए थे। शरद ऋतु की सुनहरी चाँदनी छिटकी हुई थी। सुमन खिड़की से नीलवर्ण आकाश की ओर ताक रही थी। जैसे चाँदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलिन पड़ गई थी उसी प्रकार उसके हृदय में चन्द्ररूपी सुविचार ने विकाररूपी तारागण को ज्योतिहीन कर दिया था।"[16] (हिन्दी)

"रात के दस बजे थे, जाड़ों की सुनहरी चाँदनी छिटकी हुई थी, सुमन खिड़की से नीले आसमान की तरफ ताक रही थी। जैसे चाँदनी की रोशनी में तारों की चमक मंद हो गई थी, उसी तरह नेक इरादे उसकी नफसानी ख्वाहिशात पर गालिब आ गये थे।"[17] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों अंशों में भाव-साम्य है।

ख. हिदी पाठ में उर्दू की अपेक्षा आलंकारिकता अधिक है। यद्यपि इससे कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ता।

ग. हिन्दी पाठ में तत्समता की भी प्रवृत्ति है। ऐसे में वह अंश बहुत सायास गद्य का उदाहरण जान पड़ता है।

घ. हिन्दी पाठ की समाप्ति 'ज्योतिहीन कर दिया था' से होती है, यही अंश उर्दू पाठ में मुहावरे की शक्ल में 'गालिब आ गए थे' से रूपांतरित है।

10. "अपने मन की इस चंचलता पर वह झुँझला पड़ी। क्या उस पापमय प्रेम के लिए जीवन सुधारक इस दुर्लभ अवसर को हाथ से जाने दूँ? चार दिन की चाँदनी के लिए सदैव पाप के अंधकार में पड़ी रहूँ? अपने हाथ में एक सरल हृदय युवक का जीवन नष्ट करूँ? जिस सज्जन पुरुष ने मेरे साथ वह सद्व्यवहार किया है, उन्हीं के साथ यह छल! यह कपट! नहीं, मैं इस दूषित प्रेम को हृदय को निकाल दूँगी। सदन को भूल जाऊँगी। उससे कहूँगी कि तुम भी मुझे इस मायाजाल से निकलने दो।"[18] (हिन्दी)

"अपने दिल की उस कमजोर पर सुमन झुंझला पड़ी, क्या उस चंद रोजा उल्फत के लिये जिस का अंजाम हसरत और नाकामी के सिवा और कुछ न होगा। जिन्दगी को सुधारने का ये मौका हाथ से जाने दूँ? चार दिन की चाँदनी के लिये दायमी तारीकी? के गढ़े में पड़ी रहूँ? अपने साथ एक सीधा-साधा नौजवान की जिन्दगी खराब करूँ, जिसे दिल से चाहती हूँ, जिस आदमी ने मेरे साथ इतनी फयाजी का इजहार किया है, उसी से ये दगा! नहीं मैं इस मोहब्बत को दिल से निकाल डालूँगी। सदन को भूल जाऊँगी, उससे कहूँगी तुम भी मुझे भूल जाओ, अब मुझे इस इमदाद की कश्ती पर बैठकर उस बेहयायी की नदी को पार करने दो।"[19] (उर्दू)

तुलना : क. हिन्दी में 'पापमय प्रेम के लिए का प्रयोग है' और उर्दू में 'चंद रोजा उल्फत' का।

ख. हिन्दी में 'पाप के अन्धकार' और 'दूषित प्रेम' का भी प्रयोग है। जबकि उर्दू पाठ में प्रेम का 'पापमय' या 'दूषित नहीं' कहा गया है।

ग. हिन्दी में 'मायाजाल' का प्रयोग है तो उर्दू में 'बेहयायी की नदी' उर्दू में मुहावरे का प्रयोग है जिससे वह हिन्दी पाठ की अपेक्षा अधिक प्रभावी है।

घ. उर्दू में अब तक प्रेम के लिए 'पाप' विशेषण का प्रयोग नहीं था, 'बेहयायी' के प्रयोग ने मानो उस अभाव की पूर्ति कर दी।

11. "सुमन इसी प्रकार विचार-सागर में मग्न थी। उसे यह उत्कण्ठा हो रही थी कि ऐसी तरह सवेरा हो जाए और विट्ठलदास आ जाए, किसी तरह यहाँ से निकल भागूँ। आधी रात बीत गई और उसे नींद न आई धीरे-धीरे उसे शंका होने लगी कि कहीं सबेरे विट्ठलदास न आए तो क्या होगा? क्या मुझे फिर यहाँ प्रातः काल से संध्या तक मीरासियों और धाड़ियों की चापलूसियाँ सुननी पड़ेगी। फिर पाप रजोलिप्त पुतलियों का आदर-सम्मान करना पड़ेगा? सुमन को यहाँ रहते हुए अभी छः मास भी पूरे न हुए थे, लेकिन इतने ही दिनों में उसे यहाँ का पूरा अनुभव हो गया था। उसके यहाँ सारे दिन मीरासियों का जमघट रहता था। वह अपने दुराचार, छल और क्षुद्रता की कथाएँ बड़े गर्व से कहते।"[20] (हिन्दी)

"सुमन इन्हीं खयालात में गर्क थी, उसे इजतेराब हो रहा था कि किसी तरह सवेरा हो जाए और विट्ठलदास आ जाए, किसी तरह यहाँ से निकल भागूँ, आधी रात गुजर गयी और उसे नींद न आयी अब उसे खौफ होने लगा, कि कहीं सबेरे विट्ठलदास न आये तो क्या होगा? क्या मुझे यहाँ फिर सुबहा से शाम तक मीरासियों और धाड़ियों की खुशामदी सुननी पड़ेगी? फिर रंगी हुयी कठपुतलियों की खातिर व तवाजे करनी पड़ेगी? सुमन को यहाँ रहते अभी छः माह से ज्यादा नहीं हुए थे लेकिन इतने ही दिनों में इसकी तबीयत यहाँ सेर हो गयी थी, उसके यहाँ सारे दिन मीरासियों का जमघट रहता था, वो अपने बेईमानी और सयाकारियों की दास्ताने बड़े फक्र से बयान करते हैं।"[21] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों पाठ में भाव साम्य है। हिन्दी में 'पाप रजोलिप्त पुतलियों' का प्रयोग है तो उर्दू में 'रंगी हुयी कठपुतलियों' का। हिन्दी पाठ में तत्समता अधिक है वहीं उर्दू पाठ मुहावरे की तरह आया है।

ख. हिन्दी पाठ में 'यहाँ का पूरा अनुभव हो गया था' का प्रयोग है तो उर्दू में 'तबयित यहाँ सेर हो गयी थी'। उर्दू पाठ में मुहावरे का प्रयोग है। हिन्दी में सपाट प्रयोग है; उर्दू पाठ इसी कारण अधिक प्रभावी है।

ग. हिन्दी में 'दुराचार, छल क्षुद्रता' का प्रयोग है वहीं उर्दू में 'बेईमानी और सयाकारियों' का प्रयोग है।

12. "सुमन के विस्मयपूर्ण नेत्र सजल हो गए। शर्मा जी की इस महती उदारता ने उसके अन्तःकरण को भक्ति, श्रद्धा और विमल प्रेम से प्लावित कर दिया। उसे अपने कटु वाक्यों पर अत्यन्त क्षोभ हुआ। बोली-शर्मा जी दया और धर्म के सागर हैं। इस जीवन में उनसे उऋण नहीं हो सकती। ईश्वर उन्हें सदैव सुखी रखें।"[22] (हिन्दी)

"सुमन की आँखें पुरनम हो गयीं। शर्मा जी के करीमाना इशार ने उसके दिल को हुस्ने इरादत और पाकीजा मोहब्बत से लबरेज कर दिया। उसे अपने सुखन हाय दुरूस्त पर हद दरजा मलाल हुआ। बोली-''शर्मा जी रहम और सखावत के दरिया हैं मेरी जबान में अल्फाज नहीं हैं कि उस नेकी का शुक्रिया अदा कर सकूँ। परमात्मा उन्हें हमेशा खुश रखे। मैं हमेशा उनकी ममनून रहूँगी।"[23] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों अंशों में पूर्णतः भाव साम्य है। हालांकि दोनों अंश एक दूसरे के शाब्दिक अनुवाद के उदाहरण मात्र नहीं है।

ख. हिन्दी में 'इस जीवन में उनसे उऋण नहीं हो सकती' वाक्य उर्दू में तनिक विस्तार से है 'मेरी जबान में अल्फाज नहीं है उस नेकी का शुक्रिया अदा कर सकूँ, मैं हमेशा उनकी ममनून रहूँगी।'

13. "सुमन को मालूम हो रहा था कि अब मेरा निर्वाह यहाँ न होगा। उसने समझा था कि यहाँ बहन-बहनोई के साथ जीवन समाप्त हो जायेगा। उनकी सेवा करुँगी, टुकड़ा खाऊँगी और एक कोने में पड़ी रहूँगी। इसके अतिरिक्त जीवन में अब उसे कोई लालसा नहीं थी। लेकिन शोक यह तख्ता भी उसके पैरों के नीचे से सरक गया और अब वह निर्दयी लहरों की गोद में थी।"[24] (हिन्दी)

"सुमन को मालूम हो गया कि मेरा अब निबाह उस घर में न होगा। उसने समझा था, कि यहीं बहन-बहनोई के साथ उम्र तमाम हो जाएगी। घर का कामकाज करूँगी, एक टुकड़ा खाऊँगी, और एक गोशा में पड़ी रहूँगी, लेकिन अफसोस! ये तख्ता भी इसके पैरों के नीचे से सरक गया, और अब वो बेरहम लहरों के पैरों तले थी।"[25] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों पाठ में समानता है। हिन्दी में 'निर्वाह' तत्सम शब्द का प्रयोग है वहीं उर्दू में 'निबाह' तद्भव शब्द का प्रयोग है। उर्दू की अपेक्षा हिन्दी पाठ से थोड़ा विस्तार है 'इसके अतिरिक्त जीवन में अब उसे कोई लालसा नहीं थी।' यह अंश उर्दू पाठ से नहीं है।

14. "सुमन-इसलिए कि सब कुछ देखकर भी आँखों पर विश्वास नहीं आता। संसार मुझे चाहे कितना ही नीच समझे, मुझे उससे कोई शिकायत नहीं है। वह मेरे मन का हाल नहीं जानता है, लेकिन तुम तो सब कुछ देखते हुए भी मुझे नीच समझती हो, इसका आश्चर्य है। मैं तुम्हारे साथ लगभग दो वर्ष से हूँ, इतने दिनों में तुम्हें मेरे चरित्र का परिचय अच्छी तरह हो गया होगा।"[26] (हिन्दी)

"सुमन-इसलिए कि सब कुछ देखकर भी आँखों पर एतबार नहीं होता। संसार मुझे चाहे कितना ही हकीर समझे, मुझे इससे कोई शिकायत नहीं है, वो मेरे दिल के हालात से वाकिफ नहीं है। लेकिन तुम सबकुछ देखकर भी मुझे हकीर समझती हो, इसका ताज्जुब है, मैं तुम्हारे साथ करीब दो साल से हूँ, इतने दिनों में मेरे मिजाज से अच्छी तरह वाकिफ हो गयी होगी, कम से कम होना चाहिए था।"[27] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों पाठ में समानता है। विश्वास का एतबार, नीच का हकीर, हाल का हालात, चरित्र का मिजाज। कुछ शब्दों में परिवर्तन के उदाहरण हैं।

15. "सुमन फिर चली। अब वह शहर के निकट आ गई थी। उसने देखा कि स्वामीजी एक छोटी-सी झोंपड़ी में चले गए और वृक्ष-समूह अदृश्य हो गया। सुमन ने समझा, यही उनकी कुटी है। उसे बड़ा धीरज हुआ। अब स्वामीजी से अवश्य भेंट होगी। उन्हीं से यह रहस्य खुलेगा।"[28] (हिन्दी)

"वो आगे चली, अब वो शहर के करीब आ गयी थी, उसे नजर आया कि स्वामी जी एक कुटी में चले गये, दरख्तों का कुंज गायब हो गया, सुमन ने समझा यही स्वामी जी की कुटी है। इसे इत्मीनान हुआ, अब स्वामी जी से जरूर मुलाकात होगी, उन्हीं से ये हकीकत खुलेगी।"[29] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों पाठ में कोई अन्तर नहीं है। भाव साम्य है, हिन्दी उर्दू दोनों अंश में शाब्दिक अनुवाद है। जैसे 'वृक्ष समूह' हिन्दी में है वही 'दरख्तों का कुंज' उर्दू में है।

16. "सुमन की आँखें सजल हो गई। मेरे विषय में एक ज्ञानी महात्मा का यह विचार है, यह सोचकर उसका चित्त गदगद हो गया। उसे स्वप्न में भी ऐसी आशा न थी कि उस पर इतना विश्वास किया जाएगा और उसे सेवा का ऐसा महान गौरव प्राप्त होगा। उसे निश्चय हो गया कि परमात्मा ने गजानन्द को यह प्रेरणा दी है। अभी थोड़ी देर पहले वह किसी बालक को कीचड़ लपेटे देखती, तो उसकी ओर से मुँह फेर लेती, पर गजानन्द ने उस पर विश्वास करके उस घृणा को जीत लिया था, उसमें प्रेम-संचार कर दिया था। हम अपने ऊपर विश्वास करने वालों को कभी निराशा नहीं करना चाहते और ऐसे बोझों को उठाने को तैयार हो जाते हैं जिन्हें हम असाध्य समझते थे। विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है।"[30] (हिन्दी)

"सुमन की आँखे डबडबा गयी। स्वामी गजानन्द मेरी निसबत ऐसा हुस्ने जन रखते हैं। इस ख्याल से उसका दिल सरशार हो गया, इसी ख्वाब में उम्मीद न थी कि मुझ पर इतना एतमाद किया जाएगा, और मैं ऐसी अजीमुशान खिदमत बजा लाने के काबिल समझी जाऊँगी। उसे यकीन हो गया कि परमात्मा ने गजानंद की जबान से ये तहरीक की है, अभी एक लम्हा पहले अगर वो किसी लड़के को कीचड़ में लिपटा हुआ देखती तो उसके करीब न जाती, लेकिन गजानन्द ने उस पर एतमाद करके उसके हिस एस्तेकरा को मुसख्खर कर लिया था। हम अपने ऊपर एतमाद करने वालों को मायूस करने की जुर्रात नहीं रखते और अक्सर ऐसा बोझ उठाने पर आमादा हो जाते हैं, जिन्हें हम पहले ना काबिल बरदाश्त समझते हैं, एतमाद से एतमाद पैदा होता है।"[31] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों अंशों में भाव साम्य है। ये अंश अनुवाद के अच्छे उदाहरण है।

ख. इस अंशों में शाब्दिक रूपांतरण के उदाहरण के रूप में निम्न को देखा जा सकता है। गदगद-सरशार, स्वप्न-ख्वाब, विश्वास-एतमाद, महान गौरव-अजीमुशान, घृणा-हिस एस्तेकरा इत्यादि।

17. "सुमन ने कहा-मैंने यह भार अपने ऊपर ले तो लिया, पर मुझमें सम्भालने की शक्ति नहीं है। लोग जो सलाह देते हैं, वही मेरा आधार है। आपको भी जो त्रुटि दिखाई दे, वह कृपा करके बता दीजिए, इससे मेरा उपकार होगा।"[32] (हिन्दी)

"सुमन बोली, मैंने ये बोझ अपने सर ले तो लिया है पर मुझमें इस को सम्भालने के कुव्वत नहीं है। लोग जो सलाह

मश्वेरे देते हैं, इन्हीं पर अम्ल करती हूँ, आप को भी जो कुछ ऐब या कमी नजर आये तो बता दीजिए, जिससे यतीम खाने की भलाई होगी।"[33] "फागुन में शादी हो गयी। गंगाजली ने दामाद को देखा तो गोया सीना में एक बरछी सी लग गयी।"[4] (उर्दू)

तुलना : क. दोनों पाठ में भाव साम्य है।

ख. हिन्दी और उर्दू पाठ की शाब्दिक भिन्नता, अनुवाद का अच्छा उदाहरण है।

ग. हिन्दी पाठ का अंतिम वाक्य है-'इसमें मेरा उपकार होगा' जबकि उर्दू में यह इस प्रकार है 'जिससे यतीम खाने की भलाई होगी।' हिन्दी पाठ के केन्द्र में सुमन है जबकि उर्दू पाठ में अधिक व्यापकता है। वहाँ पूरे 'यतीम खाने' का उल्लेख है।

18. "इतने में दस लड़कियाँ सुन्दर वस्त्र पहने हुए आई और सुभद्रा के सामने खड़ी होकर मधुर स्वर में गाने लगीं-

हे जगत पिता, जगत प्रभु, मुझे अपना प्रेम और प्यार दे।

तेरी भक्ति में लगे मन मेरा, विषय कामना को बिसार दे।"[34] (हिन्दी)

"इतनें में दस बारह लड़कियाँ खुशनुमा कपड़े पहने हुवे, सुभद्रा के सामने खड़ी होकर खुशअल्हानी से गाने लगीं।

सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्तां हमारा

हम बुलबुले हैं उसकी ये गुलस्तां हमारा

गोदियों में खिलती है जिसकी हजारों नदियाँ

गुलशन है जिनके नाम से रश्के जिनां हमारा।"[35] (उर्दू)

तुलना : क. यह अंश विशेष रूप से द्रष्टव्य है। हिन्दी और उर्दू अंश में प्रयुक्त काव्यांश पूरी तरह भिन्न हैं। उर्दू अंश में इकबाल की नज्म 'सारे जहाँ से अच्छा' का प्रयोग है। ऐतिहासिक रूप से भी यह एक रोचक प्रसंग है कि 1905 में लिखी यह रचना 1916-17 तक इतनी ख्यात हो गई थी कि प्रेमचन्द उसका सोत्साह इस्तेमाल करते हैं। फिर क्या कारण थे कि हिन्दी में प्रेमचन्द उसे जगह नहीं देते। क्या हिन्दी पाठक को वह स्वीकार न था?

19. "मैं तो अपने को आपकी दासी समझती हूँ। जब तक जीऊँगी, आप लोगों का यश मानती रहूँगी। मेरी बाँह पकड़ी और मुझे डूबने से बचा लिया। परमात्मा आप लोगों का सदैव कल्याण करें।"[36] (हिन्दी)

"मैं तो अपने तईं आप की वही लौंडी समझती हूँ, मैं जब तक जीऊँगी, आप लोगों का जस गाती रहूँगी, आप लोगों ने मेरी बाँह पकड़ कर बचा लिया न होता, तो मैं अब तक कब की डूब गयी होती परमात्मा आप लोगों को खुश व खुर्म रखे।"[37](उर्दू)

तुलना : क. दोनों पाठ में भाव साम्य है। उर्दू पाठ में थोड़ा विस्तार है। 'मैं अब तक कब की डूब गयी होती' हिन्दी में नहीं है।

ख. हिन्दी में 'कल्याण' का प्रयोग है तो उर्दू में 'खुश व खुर्रम' का। दोनों शब्द स्वतंत्र है लेकिन भाव एक ही है।

इस चर्चा के आधार पर कह सकते हैं कि 'सेवासदन' और 'बाजोर हुस्न' की सुमन में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल भाषा में है, हिन्दी और उर्दू दोनों उपन्यासों में सुमन की पीड़ा, उसकी इच्छाएँ और जीवन संघर्ष एक ही है।

संदर्भ :

1. प्रेमचंद, सेवासदन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 15
2. मदन गोपाल, कुल्लियाते प्रेमचंद, कौमी कौन्सिल बराये फरोग उर्दू जबान, नयी दिल्ली, इशाअत 2000, बाजारे हुस्न, पृ. 13

3. सेवासदन, पृ. 16
4. बाजारे हुस्न, पृ. 15
5. सेवासदन, पृ. 18
6. बाजारे हुस्न, पृ. 16
7. सेवासदन, पृ. 18
8. सेवासदन, पृ. 19
9. बाजारे हुस्न, पृ. 18
10. सेवासदन, पृ. 21
11. बाजारे हुस्न, पृ. 20
12. सेवासदन, पृ. 23
13. बाजारे हुस्न, पृ. 23
14. सेवासदन, पृ. 25
15. बाजारे हुस्न, पृ. 26
16. सेवासदन, पृ. 69
17. बाजारे हुस्न, पृ. 96
18. सेवासदन, पृ. 70
19. बाजारे हुस्न, पृ. 97
20. सेवासदन, पृ. 70
21. बाजारे हुस्न, पृ. 98
22. सेवासदन, पृ. 80
23. बाजारे हुस्न, पृ. 113
24. सेवासदन, पृ. 191
25. बाजारे हुस्न, पृ. 279
26. सेवासदन, पृ. 192
27. बाजारे हुस्न, पृ. 280
28. सेवासदन, पृ. 205
29. बाजारे हुस्न, पृ. 299
30. सेवासदन, पृ. 207
31. बाजारे हुस्न, पृ. 302
32. सेवासदन, पृ. 211
33. बाजारे हुस्न, पृ. 307
34. सेवासदन, पृ. 211
35. बाजारे हुस्न, पृ. 308
36. सेवासदन, पृ. 212
37. बाजारे हुस्न, पृ. 308

❑❑❑

आलेख

गणेश शंकर विद्यार्थी की राजनीति और होमरुल लीग

- शशि यादव[1]
- आशुतोष पार्थेश्वर[2]

गणेशशंकर विद्यार्थी का राजनीति में बचपन सेही लगाव था। उनके इस जुड़ाव में अधिक विस्तार अध्ययन के दौरान इलाहाबाद आने पर हुआ। तत्कालीन राजनीति के प्रति वे सजग रहते थे। इलाहाबाद में वे उस समय की राजनीति के लिये प्रसिद्ध पत्रिकाओं- 'अभ्युदय और कर्मयोगी' से जुड़े। इन पत्रिकाओं में कार्य करने पर राजनीति के बीज और प्रगाढ़ होते गये। पत्रकारिता के द्वारा उनके व्यक्तित्व को नयाआयाम मिला। गणेशशंकर विद्यार्थी निर्भीकता और साहस के साथ तत्कालीन विषयों को उजागर करने में अग्रणी रहते थे। क्रांतिकारी विचारों को वे पत्रकारिता के द्वारा सभी तक विस्तार देते थे।

'अभ्युदय' और इलाहाबाद से कानपुर स्वास्थ्य सुधार के लिये जाने के बाद गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' की योजना बनाई। 'प्रताप' 9 नवम्बर 1913 में कानपुर से साप्ताहिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित हुआ 'प्रताप' के द्वारा गणेशशंकर विद्यार्थी प्रत्येक विषय की समस्या को उजागर करते थे। हिन्दी भाषी क्षेत्र में 'प्रताप' ने विभिन्न विषयों को जगजाहिर करते हुए जल्द ही लोकप्रियता प्राप्त कर ली।

गणेशशंकर विद्यार्थी की राजनीति को जानने के लिये सबसे बेहतर तरीका है 'प्रताप' के पन्नों को देखना। प्रतापश के पृष्ठों पर गणेशशंकर विद्यार्थी के राजनीतिक विचार व उनके दृष्टिकोण का अच्छे से जानाजा सकता है। उनके आरम्भिक जीवन में सबसे अधिक प्रभाव बालगंगाधर तिलक का था।तिलक को वे अपना राजनैतिक गुरु मानते थे। तिलक के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा व प्रेमभाव होने से वे उनकी एक छोटी सी तस्वीर अपने कक्ष में लगाये हुए थे।[1] गणेशशंकर विद्यार्थी जीवन के उत्तरार्ध में महात्मा गाँधी से अत्यधिक प्रभावित रहे। गांधी के सत्य, अहिंसा के मार्ग ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित किया। इस तरह उनके राजनीतिक जीवन में भारत के दो महापुरुषों का प्रभाव रहा वे हमेशा उनके दिखाए मार्गों का अनुसरण करते रहे।

गणेशशंकर सामाजिक कार्यों में लगे रहते थे,श्प्रतापश के प्रकाशन से उनके इस क्षेत्र में विस्तार होने के साथ राजनैतिकक्षेत्र में भी प्रसार हुआ। कानपुर में होने वाले किसी भी सार्वजनिक कार्य में वे महाशय काशीनाथ, श्री सूरजप्रसाद मिश्र, डा. मुरारीलाल, श्री नारायणप्रसाद निगम, श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा आदि के साथशामिल होने लगे थे।[2] सभी सज्जनों से जुड़ने के साथ गणेशशंकर विद्यार्थी 'प्रताप' के साथ, वाह्य राजनीति में सक्रिय होने लगे।

---

1. *शोधार्थी, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।*
2. *सहआचार्य, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।*

1916 लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में महात्मा गाँधी का आगमन हुआ। गाँधीजी से गणेशशंकर विद्यार्थी की मुलाकात इसी अधिवेशन में हुई और वे उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। यही से गणेशशंकर पर गाँधी जी के विचारों का असर दिखने लगा,लखनऊ अधिवेशन भारतीय इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है,साथ ही वह गणेशशंकर के लिये खासरहा। लखनऊ के इस अधिवेशन में जहां हिन्दू-मुस्लिम की एकता देखते बनती है, वहीं दूसरी तरफ तिलक के विचारों से युक्त गणेशशंकर विद्यार्थी के ऊपर महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक विचारों के प्रति आकर्षण बढ़तारहा। 23 अप्रैल 1916 को एनी बीसेंट ने श्होमरूल लीग' की स्थापना की, वह भी इस अधिवेशन में शामिल थीं।

गणेशशंकर विद्यार्थी एक देशप्रेमी और सजग पत्रकार थे। वे स्वराज्य के लिए सदैव तत्पर रहते थे। उनके इन्हीं विचारों का मेल एनी बीसेंट के 'होमरुल लीग' की विचारधारा से हुआ जिससे वे अत्यंत प्रभावित हुए और होमरूल लीग के विचारों को और उनके आदर्शों को उत्कृष्ट मानते थे। 'प्रताप' के पन्नों पर समय समय पर होमरूल लीग की खबरें प्रकाशित होती रहती थी। होमरूल लीग पर अनेक टिप्पणियाँ 'प्रताप' में प्रकाशित हुई, उनके विषय पर होने वाली अनके चर्चाओं की भी चर्चा 'प्रताप' में होती थी। प्रस्तुत लेख में होमरूल लीग सम्बन्धी लेखों और सम्पादकीय विषयों का संक्षिप्त चर्चा हैं।

गणेशशंकर विद्यार्थी ने श्होमरूल लीगश की स्थापना से पूर्व श्प्रतापश में एनी बीसेण्ट के कार्यों और उनके उद्देश्यों को संम्पादघ्कीय लेख के माध्यम से प्रकाशित किया था। 11 अक्टूबर 1915 में अंक में श्स्वराज्य सभाश शीर्षक से संपादकीय लेख कुछ तरह लिखा- "मिसेज बेसेंट ने अपने राजनीतिक काम का निश्चित रूप सामने रख दिया है। उनके कारण श्होमरूल लीगश नाम की संस्था जन्म लेने वाली है। इसका उद्देश्य भारत के लिए स्वराज्य प्राप्त करना होगा। आयरलैंड वाले श्स्वराज्यश के स्थान पर श्होमरूलश शब्द का प्रयोग करते हैं। मिसेज बेसेंट ने भारत के लिए इसी शब्द का प्रयोग इसलिए उचित समझा है कि इससे इंग्लैंड वाले हमारा मतलब खूब समझेंगे। श्स्वराज्यश से यहां पर वह मतलब नहीं है कि भारत इंग्लैंड के शासन से मुक्त हो पूर्ण रीति से स्वतंत्र हो जाए। उससे केवल यही मतलब है कि अंग्रेजी साम्राज्य के भीतर रहते हुए, उसे वह पूरी स्वाधीनता प्राप्त हो, जो अंग्रेजी उपनिवेशों, यथा कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि को प्राप्त है। भारतीय राजनीतिक आकाश के सर्वोज्वल नक्षत्र श्रीमान दादाभाई नौरोजी ने मिसेज बेसेंट की इस स्वराज्य सभा का प्रेसीडेंट बनना स्वीकार कर लिया है। श्रीमान नौरोजी इतने बड़े हैं कि वे शायद ही सभा के काम में अधिक भाग ले सकें, परंतु उनका नाम और उनका निरीक्षण ही सभा की क्रियाशीलता का पोषक हो सकता है। सभा के दो भाग होंगे, एक भारतीय, और एक अंग्रेजी। भारतीय विभाग के सभापति मद्रास प्रांत के सबसे अधिक अनुभवी और पुराने राजनीतिज्ञ, सर सुब्रह्मण्म अय्यर होंगे और इंग्लैंड में जो शाखा होगी, उसके सभापति होंगे कांग्रेस के भूतपूर्व प्रेसीडेंट भारत हितैषी, सर विलियम वेडरबर्न साहब। देश के प्रत्येक प्रांत में उसके उपसभापति होंगे। जब कांग्रेस के समय, बंबई में, देश के लगभग सभी बड़े आदमी जमा होंगे, उस समय इस बात पर विचार किया जाएगा कि अपने उद्देश्य की सफलता के लिए यह सभा किस प्रकार कार्य करे?"[3]

मिसेज बीसेण्ट के अनुसार भारत का अपना नियम हो, जिसे भारतीय स्वराज्य कहते थे, वही एनी बीसेण्ट के लिये 'होमरुलश था। स्वराज्य के लिये आन्दोलन किया जाये और स्वराज्य की माँग को ब्रिटिश सरकार के सामने प्रस्तावित किया जाये। लेख में आगे लिखते हुए गणेशशंकर विद्यार्थी इसी भाव को स्पष्ट करते है ख्र "स्वराज्य के आंदोलन के आरंभ कर देने से यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हम सरकार से उसकी उस नीति का बदला चुकाना चाहते हैं, जिससे उसने इस बात को प्रकट करके कि इस समय किसी विवादास्पद विषय को न छेड़ना चाहिए, प्रजा के मुख को बंद करते हुए अपनी पुरानी चाल में तनिक भी अंतर नहीं आने दिया, और न इस आंदोलन से हमारा यह मतलब है कि हम सरकार की कठिनाइयों में एक की संख्या और बढ़ाकर

उसके इस कठिन समय से लाभ उठाने का यत्न करें। किंतु हमारा स्पष्ट प्रयत्न यह होगा कि उस समय तक, जब तक महायुद्ध चल रहा है, हम देशवासियों को भलीभांति समझा दें कि बिना स्वराज्य की प्राप्ति के उनके अधिकांश सांसारिक दु:ख किसी प्रकार भी दूर न होंगे, और जब युद्ध समाप्त हो, तो ये स्वराज्य की मांग को जोर के साथ इंग्लैंड के सामने पेश करें। यथार्थ बात तो यह है कि स्वराज्य के आंदोलन की आवश्यकता केवल इसीलिए नहीं है कि युद्ध के पश्चात भारत की अवस्था अच्छी हो, परंतु इसकी आवश्यकता इसलिए भी है कि उसकी अवस्था वर्तमान अवस्था से भी बुरी न हो जाए। इंग्लैंड के राजमंत्री और पार्लियामेंट के अन्य राजनीतिज्ञ अपने अपने भाषणों में इस बात को स्पष्ट कह चुके हैं कि युद्ध के पश्चात एक साम्राज्य सभा (इंपीरियल कौंसिल) की रचना होगी, जिसमें बैठकर उपनिवेशों के प्रतिनिधियों को अंग्रेजी साम्राज्य पर शासन करने का अवसर मिलेगा। इन भाषणों में भूल कर भी भारत का नाम नहीं आया। अत: इन भाषणों का यही मतलब है कि युद्ध के पश्चात जो इंपीरियल कॉसिल बनेगी, उसमें आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैंड आदि उपनिवेश इंग्लैंड के साथ शासन की कुर्सी पर विराजमान होंगे, और भारत-बेचारा भारत अपनी सारी महत्ता, अपनी सारी सेना, अपनीसारी सहायता और वीरता के साथ भी इन कुर्सीनशीनों के सामने हाथ बांध कर खड़े होने, और उनके शब्द शब्द पर सलामों के लिए झुकने पर विवश होगा। उसे अपनी राजभक्ति-युद्ध में इस गहरी सहायता के देने का यह अच्छा श्इनामश मिलेगा कि वह एक प्रभु इंग्लैंड की अधीनता के स्थान में कई प्रभुओं की अधीनता की जंजीरों से जकड़ दिया जाए। और इस भावी दुर्दशा से बचने का केवल यही उपाय है कि अभी से होश संभाले जाएं, और अपना मार्ग निश्चित किया जाए, और युद्ध के समाप्त होते ही, अपना मतलब स्पष्ट रूप से इंग्लैंड के सामने रखा जाए। स्वराज्य की बात कोई नई बात नहीं है।"[4]

'प्रताप' के 20 दिसम्बर 1915 के अंक में श्भारत के लिय स्वराज्य' शीर्षक से फिर सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में एनी बीसेंट के द्वारा'स्वराज्य प्रस्तावश को प्रस्तुत किये जाने पर लिखा गया था। इस लेख में बताया गया कि स्वराज्य प्रस्ताव पेश करना कोई नयी बात नहीं है, ऐसा करने के लिये कांग्रेस वर्षों से संघर्ष कर रही है। सम्पादकीय लेख में गणेशशंकर लिखते हैं- "मिसेज बेसेंट ने देश के सामने स्वराज्य का प्रस्ताव पेश किया है। प्रस्ताव नया नहीं है। आज 30 वर्ष से कांग्रेस देश के लिए स्वराज्य चाह रही है। लखनऊ के अधिवेशन में मुसलमानों की राजनीतिक सभा 'मुस्लिम लीग' ने भी अपना उद्देश्य स्वराज्य की प्राप्ति मान लिया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग, और अन्य इसी प्रकार की वर्तमान कानून के अनुसार चलने वाली संस्थाओं के 'स्वराज्य' शब्द से यह मतलब है कि देश वालों को देश के भीतरी मामलों में उसी प्रकार पूरी स्वाधीनता मिल जाए, जिस प्रकार इंग्लैंड के कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेशों को इस समय प्राप्त है। ये उपनिवेश इंग्लैंड के मातहत इंग्लैंड द्वारा ही वे अन्य देशों से राजनीतिक संबंध जोड़ सकते हैं, परंतु अपने भीतरी कामों में, शासन, प्रबंध, व्यापारिक नीति आदि बातों में बिलकुल स्वाधीन हैं, जो चाहते हैं, सो करते हैं। कांग्रेस आदि संस्थाएं भारतवर्ष को भी इतना ही स्वाधीन देखना चाहती हैं, इसी बात पर मिसेज बेसेंट भी जोर दे रही हैं। कांग्रेस और उनकी बात में सिद्धांत की दृष्टि से, कोई अंतर नहीं है। जो अंतर है, वह केवल इतना ही है कि कांग्रेस बहुत सी बातों पर आंदोलन करती है-स्वराज्य भी उन बातों में से एक है-परंतु मिसेज बेसेंट की प्रस्तावित स्वराज्य सभा का लक्ष्य केवल स्वराज्य के लिए ही आंदोलन करना होगा।[5]

एनी बीसेंट से मुलाकात होने पर गणेशशंकर उनके विचारों और उनकी रणनीतियों से अधिक परिचित हुए।उनके द्वारा प्रस्तावित स्वराज्य की माँग को लेकर कांग्रेस में भी चर्चा तेज हो गई थी। गणेशशंकर ने इस विषय पर होने वाली बैठकों और चर्चाओं को 'प्रताप' के पन्नों में सम्पादकीय रूप में प्रकाशित करते थे।[10] जनवरी 1916 के अंक में स्वराज्य चर्चा शीर्षक से 'एनी बीसेंट द्वारा प्रस्तावित स्वराज्य सभा के बारे विचार विमर्श के लिए हुई बैठक की समीक्षात्मक रूप में सम्पादकीय लेख लिखा। लेख के शुरुआत में स्वराज्य शब्द

के चर्चित होने के विषय में बताते हुए लिखते हैं- "पिछले सप्ताह देश में स्वराज्य चर्चा खूब हुई। 25 दिसंबर को बंबई में प्रस्तावित स्वराज्य सभा पर विचार करने के लिए एक कॉन्फ्रेंस होने वाली थी।"[6] (रचनावली, 232)

कांग्रेस की बैठक में स्वराज्य की आवयश्कता के बारें में सभी को जानकारी दी गई और उसकी महत्ता को स्पष्टकिया गया। बीसेंट के इस माँग के लिए सभी को एकजुटता दिखानी होगी तभी हमारा देश अंग्रेजी राज से अन्य देशों की तरह मुक्त होकर स्वराज्य का निर्माण कर सकता है। सम्पादकीय लेख में गणेशशंकर ने कांग्रेस बैठक में हुई बहस और सभा में उपस्थित गणमान्य जनों के मतों को स्पष्ट करते हुए लिखा हैं- "मिसेज बेसेंट ने स्वराज्य सभा की आवश्यकता बतलाई, और उपस्थित सज्जनों से प्रार्थना की कि सभा की रचना का प्रस्ताव स्वीकार कीजिए। इसके पश्चात खूब गरमागरम बहसें हुई। बंगाल के श्रीयुत् प्रवासचंद्र मित्र ने प्रस्ताव किया कि स्वराज्य का प्रश्न कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सामने पेश किया जाए। इस सभा में कांग्रेस के प्रेसीडेंट सिंह साहब नहीं थे। स्वराज्य के विषय में उनका क्या मत है, वह उनके भाषण से साफ प्रकट होता है। कहते हैं कि सिंह साहब और बा. भूपेंद्रनाथ बसु के इशारे से ही श्रीयुत प्रवासचंद्र ने यह प्रस्ताव इस सभा में पेश किया था। मालवीय, मघोलकर, खरे, श्रीनिवास शास्त्री, पट्टनी आदि सज्ज्नों ने प्रवास बाबू के प्रस्ताव का साथ दिया। इन लोगों का कहना था कि कांग्रेस ने स्वराज्य के लिए बहुत यत्न किया है, इसलिए इस विषय में उसकी सलाह लिये बिना कोई काम नहीं करना चाहिए। मुस्लिम लीग के सभापति मि. मजरुलहक और उनके लगभग सभी मुसलमान साथी, बंगाल के श्रीयुत जितेंद्रलाल बनर्जी और राय यतींद्रनाथ चौधरी, बंबई के जहांगीर पेटिट, प्रयाग के मि. चिंतामणि और डॉ. सप्रू आदि सज्जन स्वराज्य सभा की रचना के पक्ष में थे। उनका कहना था कि विलंब करने की आवश्यकता नहीं, उसकी रचना से कांग्रेस को कोई हानि नहीं पहुंचेगी"।[7]

'प्रताप' के माध्यम से होमरूल लीग और एनी बीसेंट के विचारों को भारतीय राजनीति के समक्ष प्रस्तुत किया गया। गणेशशंकर विद्यार्थी ने तत्कालीन विषयों पर अपनी लेखनी चलाई और प्रत्येक समस्या को जगजाहिर करने में कभी पीछे न रहें। स्वराज्य की माँग को लेकर होने वाले प्रत्येक क्षेत्र की खबर को 'प्रताप' में स्थान देते और स्वयं उस विषय पर संपादकीय लेख या टिप्पणी भी करते थे।

सन्दर्भ :

1. आधुनिक भारत के निर्माता : गणेश शंकर विद्यार्थी, मोतीलाल भार्गव, पृ. 26
2. वही, पृ. 32
3. गणेश शंकर विद्यार्थी रचनावली, सुरेश सलिल, पृ. 214
4. वही, पृ. 215
5. वही, पृ. 224
6. वही, 232
7. वही, पृ. 232

❑❑❑

माधुरी में प्रकाशित कहानियाँ

❍ बिशाली यादव[1]
❍ आशुतोष पार्थेश्वर[2]

[बीसवीं सदी का तीसरा दशक हिंदी पत्रकारिता की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध काल है। इस दौर में कई ऐसी पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई जिन्होंने केवल हिंदी साहित्य को ही नहीं, भारतीय समय-समाज को भी गहराई से प्रभावित किया। माधुरी, चाँद, सुधा जैसी पत्रिकाओं का इस दृष्टि से उल्लेख किया जा सकता है। 'माधुरी' इन सब में कई कारणों से तनिक विशिष्ट पत्रिका रही। 'चाँद' का महत्त्व उसकी प्रखरता और बेबाकपन के कारण है तो 'सुधा' अपनी पैनी और व्यंग्यदृष्टि के कारण उल्लेखनीय है। 'माधुरी' का तरीका उनसे तनिक भिन्न था। जुलाई 1922 से शुरू हुई उसकी आवाज नामानुरूप सदैव मधुर ही रही, आवेग और उद्वेग उसमें प्रायः नहीं था। पत्रिका के प्रकाशक थे विष्णुनारायण भार्गव और संपादकद्वय थे-दुलारेलाल भार्गव और रूपनारायण पांडेय। इस पत्रिका ने राजनीतिक विषयों को प्रधानता न देकर साहित्य की सेवा के जरिए भारतीय जनता के जागरण को अपना लक्ष्य बनाया। इसमें विभिन्न विधाओं की उत्कृष्ट रचनाएँ प्रकाशित हुईं। हिन्दी कहानी के विकास में इसका योगदान अप्रतिम ही है। नीचे 'माधुरी' के कुछ अंकों में प्रकाशित कहानियों की एक सूची दी जा रही है।]

1923, वर्ष-2,	आभूषण	प्रेमचंद	श्रावण	05-18
खंड 1	प्रायश्चित	रघुवर प्रसाद द्विवेदी	भाद्रपद	165-171
	प्रतीक्षा	चाँदसिंह	आश्विन	293-295
	अन्तिम शब्द	विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक	मार्गशीर्ष	425- 432
	पुष्पहार	कृष्णानंद गुप्त	कार्तिक	466-469
	सत्याग्रह	प्रेमचंद	मार्गशीर्ष	560-566
	अमोघ अस्त्र	विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक	मार्गशीर्ष	611-618
	दो मित्र	श्यामचरण राय	पौष	700-703
1924, वर्ष 2,	सैलानी के बंदर	प्रेमचंद	माघ	24-29
खंड 2	व्रजपात	प्रेमचंद	फाल्गुन	161-166

1. शोधार्थी, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
2. सहआचार्य, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

	अलबम	सुदर्शन	फाल्गुन	193-197
	मुक्ति-मार्ग	प्रेमचंद	चैत्र	311-319
	ईश्वर का डर	विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक	चैत्र	357-365
	अछूत	कृष्णानंद गुप्त	वैशाख	528-529
	क्षमा	प्रेमचंद	ज्येष्ठ	583-588
	प्रेम का पापी	विश्वंभर नाथ कौशिक	ज्येष्ठ	641-647
	पुनर्जन्म	सुदर्शन	आषाढ़	725-729
	दो खोपड़ी	लक्ष्मण स्वरुप	आषाढ़	775-780
1924, वर्ष 3,	भूत	प्रेमचंद	श्रावण	45-56
खंड 1	पर्यवसान	चंडीप्रसाद हृदयेश	श्रावण	66-76
	दीक्षा	प्रेमचंद	भाद्रपद	151-159
	एक अद्‌भुत घटना	संतराम	भाद्रपद	226-229
	शतरंज के खिलाडी	प्रेमचंद	आश्विन	310-315
	सफल-जीवन	रघुपति सहाय	आश्विन	353-358
	विनोद	प्रेमचंद	आश्विन	446-455
	सच्चा कवि	विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक	मार्गशीर्ष	585-593
	सत्य कहाँ है	रघुपति सहाय	मार्गशीर्ष	652-658
	डिक्री के रुपये	प्रेमचंद	पौष	773-741
1925, वर्ष 3,	कर्तव्य	ब्रजबिहारी शरण	माघ	05-09
खंड 2	सभ्यता का रहस्य	प्रेमचंद	फाल्गुन	150-154
	निराश प्रेम	रघुवर दयालु द्विवेदी	फाल्गुन	210-217
	मंदिर और मस्जिद	प्रेमचंद	चैत्र	297-302
	मुक्ति-धन	प्रेमचंद	वैशाख	443-448
	घोर का पाप	सुदर्शन	वैशाख	481-489
	प्रायष्ठिचत	राजेष्ठवर प्रसाद सिंह	ज्येष्ठ	584-593
	रूपहीना	ष्टयामाचरण जौहरी	ज्येष्ठ	652-660
	देवी-देवता और राक्षस	पृथ्वीनाथ शर्मा	आषाढ़	718-723
1925, वर्ष 4,	भाड़े का टट्टू	प्रेमचंद	श्रावण	03-09
खंड 1	स्वावलम्बी सदा सुखी	विश्वंभर नाथ कौशिक	श्रावण	63-71
	हार की जीत	सुदर्शन	भाद्रपक्ष	153-156

	युध्द-नीति	राजेश्वर प्रसाद	भाद्रपक्ष	206-214
	चोरी	प्रेमचंद	आश्विन	295-300
	भाग्य की मशीन	आत्माराम देवकर	आश्विन	367-372
	सिध्दांत-रक्षा	विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक'	कार्तिक	442-453
	हाजीबाबा	--------	कार्तिक	507-514
	कर्तव्य-पालन	विश्वंभर नाथ ष्टार्मा' 'कौष्ठिाक	मार्गशीर्ष	584-594
	गज्जू का चबूतरा	आत्माराम देवकर	मार्गशीर्ष	650-655
	निर्माण	रघुवर प्रसाद	पौष	728-733
1926, वर्ष 4,	चार प्रश्न	प्रमथनाथ सरकार	माघ	45-52
खंड 2	पथ-निर्देष्ठा	विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'	माघ	70- 80
	मन्त्र	प्रेमचन्द	फाल्गुन	154- 162
	पराजित	अख्तर हुसैन	फाल्गुन	219-224
	कजाकी	प्रेमचन्द	फाल्गुन	302-309
	सुखी राजकुमार	परधन प्रसाद पारखी	चैत्र	442-448
	ब्रह्मतेज	विश्वंभरनाथ ष्टार्मा 'कौष्ठिाक'	चैत्र	492-502
	बलिदान	राजेश्वर प्रसाद सिंह	आषाढ़	732-738
	संतू	रघूपति सहाय	आषाढ़	769-774
1926, वर्ष 5,	समुन्द्र-संतरण	जयशंकर प्रसाद	श्रावण	10-13
खंड 1	लांछन	प्रेमचंद	श्रावण	67-80
	संतोष धन	विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक	भाद्रपद	174-182
1926, वर्ष 5,	भिखारिन	जयशंकर प्रसाद	माघ	45-51
खंड 2	सती	प्रेमचंद	फाल्गुन	160-167
	कामना तरू	प्रेमचंद	चैत्र	343-349
	एक वीरात्मा की कहानी	सुदर्शन	वैशाख	458-465
	सुजान भगत	प्रेमचंद	वैशाख	494-501
	नौकर की तलाश	सरदार मोहन सिंह दिवाना	ज्येष्ठ	610-613
	रक्त का मूल्य	जनार्दन प्रसाद द्विज	ज्येष्ठ	645-648
	माँगे की घडी	प्रेमचंद	आषाढ़	742-750

1927, वर्ष 6,	अद्‌भुभत मिलन	रामचंद्र टंडन	श्रावण	08-13
खंड 1	आराधना	राजेश्वर प्रसाद सिंह	श्रावण	74-84
	आत्मसंगीत	प्रेमचंद	श्रावण	103-105
	पेन्सिल स्केच	भगवती प्रसाद वाजपेयी	श्रावण	121-122
	शर्त	रामचंद्र टंडन	आज़ाढ़	219-224
	प्रेम	लाल गंगवार	सितम्बर	254-262
	अदृश्य-व्यक्ति	गुरुदत्त	आष्ठिवन	388-396
	एक्ट्रेस	प्रेमचंद	आष्ठिवन	426-432
	वेश्या की बेटी	मुरली मनोहर	कार्तिक	577-582
	लाल झंडी	रामचंद्र टंडन	मार्गशीर्ष	666-672
	ताड का पत्ता	चंद्रगुप्त विद्यालंकार	पौष	807-813
	मोटेराम जी ष्टास्त्री	प्रेमचंद	पौष	832-835
	खुदा और शैतान	मोहन सिंह	पौष	835-842
1927, वर्ष 6,	ईमानदार चोर	रामचंद्र टंडन	माघ	14-24
खंड 2	दो सखियाँ(असमाप्त)	प्रेमचंद	माघ	69-77
	अनुताप	हरिवर्मा	फाल्गुन	151-154
	दो सखियाँ(असमाप्त)	प्रेमचंद	फाल्गुन	223-230
	ननकू चौधरी	विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक	चैत्र	292-298
	दो सखियाँ(असमाप्त)	प्रेमचंद	चैत्र	325-333
	वैष्ठाली	हीरालाल	वैशाख	434-435
	नवयुवक नरेश	बालमुकुंद वाजपेयी	वैशाख	436-446
	दो सखियाँ(असमाप्त)	प्रेमचंद	वैशाख	499-408
	भ्रम	राजेश्वर प्रसाद सिंह	ज्येष्ठ	586-588
	मारखेईम	बाँके बिहारीलाल भटनागर कृष्ण	ज्येष्ठ	627-634
	पिसनहारी का कुँआ	प्रेमचंद	ज्येष्ठ	653-659
	पाप का फल	बलदेव प्रसाद टंडन	आषाढ़	751-757
1929, वर्ष 7,	अभिलाषा	तारादत्त उग्रवेती	माघ	63-69
खंड 2	खुचड	प्रेमचंद	माघ	78-83
	क्षमा	भगवती प्रसाद वाजपेयी	श्रावण	170-177

ज्ञान	राजेश्वर प्रसाद सिंह	श्रावण	178–191
जागृति	हरिहरनाथ हुक्कू	श्रावण	192–199
सनक	विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक	श्रावण	200–208
निष्फल स्वप्न	शम्भूदयाल सक्सेना	श्रावण	209–214
अंधे का भेद	जैनेद्र कुमार	श्रावण	215–223
माँ	प्रेमचंद	श्रावण	224–233
केवल चार पैसे के लिए	चक्खनलाल गर्ग बी.ए.	भाद्रपद	443–446
तीन विद्वान और राजा की लड़की	नवल किशोर बी.ए.	भाद्रपद	447
बडा कौन	श्रीपति	भाद्रपद	448–449
घडियाल और हाथी	जगन्नाथ प्रसाद सिंह	भाद्रपद	450–453
यक्ष्मा	जगदीश प्रसाद झा 'विमल'	भाद्रपद	454–458
दीयासलाई वाली	राय कृष्णदास	भाद्रपद	459–460
तिरज्कृता	श्रीनाथ सिंह	भाद्रपद	461–463
विधाता का अंधेर	गुरुदत्त एम. एससी.	भाद्रपद	464–469
वीर माता	गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' विद्यावाचस्पति	भाद्रपद	481
शास्त्रार्थ	माधव प्रसाद मिश्र	भाद्रपद	495–499
श्रीमती का दरबार	कुंडोदरानंद	भाद्रपद	500–504
कानूनी कुमार	प्रेमचंद	भाद्रपद	505–511
दु:खी पत्नी	पंडित भूपनारायण दीक्षित	भाद्रपद	512–515
निराशा आशा	केशव देश शर्मा	आश्विन	542–549
हिन्दू और मुसलमान	के. पी. चतुर्वेदी	आश्विन	575–789
अलग्योझा	प्रेमचंद	आश्विन	598–601
सदासुख	सुदर्शन	कार्त्तिक	678–690
न्याय	हरिनाथ हुक्कू	कार्त्तिक	713–717
घर जमाई	प्रेमचंद	कार्त्तिक	740–746
घासवाली	प्रेमचंद	मार्गशीर्ष	845–849
परिवर्तन	खड़जीत सिंह	मार्गशीर्ष	874–876

आलेख

शृंखला की कड़ियाँ : स्त्री विमर्श का भारतीय पाठ

❍ किंगसन सिंह पटेल✡

महादेवी वर्मा हिन्दी के महत्वपूर्ण साहित्यकारों में से एक हैं, उन्होंने पद्य एवं गद्य दोनों ही विधाओं में महत्वपूर्ण लेखन किया है। लेकिन समस्या यह है कि छायावादी कवि की उनकी छवि ने उनके सम्पूर्ण लेखन के सही मूल्यांकन में बाधा उपस्थित की है। उनकी कविताओं की ही चर्चा अधिक हुई है परन्तु उसमें भी आलोचकों ने वेदना, करुणा, आंसू और रहस्यवाद ही तलाशा है, इस करुणा का भौतिक आधार नारी जीवन की परिस्थितियों को नहीं।

'शृंखला की कड़ियाँ' को हिन्दी में स्त्री विमर्श की व्यवस्थित शुरुआत करने का श्रेय दिया जा सकता है। स्त्री संबंधी प्रश्नों पर विचार पहले भी होता रहा है, उदाहरण के लिए बौद्ध साहित्य में थेरीगाथा, मध्यकालीन साहित्य में सूरदास, मीरा, पद्मावत तथा बीसलदेव रासो; लेकिन इनकी सबसे बड़ी सीमा यह है कि वे एक भौतिक प्रश्न का आध्यात्मिक समाधान तलाशने की उनकी कोशिश है- और इसीलिए समाधान संभव नहीं हो पाता है। नवजागरण के सुधारकों-विचारकों ने इस पर भौतिक दृष्टि से विचार तो किया परन्तु उनकी दृष्टि परिवर्तन की नहीं सुधार और उद्धार की थी। जबकि स्त्री की स्थिति और समस्याओं का सुधार एवं उद्धार के बजाय अधिकार की दृष्टि से विश्लेषण स्त्री विमर्श की बनियादी शर्त है।

'शृंखला की कड़ियाँ' के निबंधों का प्रकाशन सन 1931 से 1937 के बीच 'चाँद' पत्रिका में छपे और 1942 में संकलित पुस्तकाकार रूप में 'शृंखला की कड़ियाँ' नाम से छपे। 'शृंखला की कड़ियाँ' का महत्व इस बात में तो है ही कि इसका प्रकाशन उस समय हुआ जब हिन्दी में स्त्री विमर्श की धमक भी नहीं सुनाई पड़ती थी, साथ ही पश्चिम में 'नारीवाद की बाइबिल' मानी जाने वाती 'द सेकेन्ड सेक्स' समेत स्त्री विमर्श से संबंधित कई महत्वपूर्ण पुस्तकों का अभी प्रकाशन भी नहीं हुआ था। इसके बावजूद 'शृंखला की कड़ियाँ' में व्यक्त विचार कई स्थानों पर पश्चिम के चिन्तकों के विचारों से मेल भी खाते हैं और भारतीय परिवेश की भिन्नता पर आधारित होने के कारण उनसे अपने अलगाव को रेखांकित भी करते हैं।

महादेवी वर्मा स्त्री की हीन दशा एवं उसके सामाजिक उत्पीड़न को पुरुषों के षड़यंत्र का परिणाम नहीं मानती है, उसके बजाय वे इसका कारण स्त्री की जैविक प्रकृति में पुरुषों से भिन्नता एवं उस भिन्नता के कारण होने वाले श्रम विभाजन में उसकी स्थिति और कालान्तर में इसके कारण स्त्री के घर में सीमित होते चले जाने को मानती हैं। स्त्री की दशा का यह ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक विश्लेषण उन्हें एंगेल्स के निकट ले जाता है। जिस प्रकार एंगेल्स 'एकनिष्ठ विवाह की पद्धति को विवाहेतर संबंध का कारण मानते हैं'[1] उसी प्रकार महादेवी

✡ *एसोसियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।*

वर्मा का निष्कर्ष है कि अपरिचय पर टिके बाध्यकारी विवाह के परिणाम स्वरूप 'दुराचार' जन्म लेता है, "यह निर्भ्रान्त सत्य है कि सामाजिक परिस्थितियों से असंतुष्ट व्यक्ति जितनी सरलता से इस मार्ग का पथिक बन सकतें हैं, उतने सन्तुष्ट व्यक्ति नहीं।"[2] अन्यत्र भी वे लिखती हैं कि "विवाह संस्था पवित्र है, उसका उद्देश्य भी उच्चतम है, परन्तु जब वह व्यक्तियों के नैतिक पतन का कारण जाय तब अवश्य ही उसमें संशोधन की अनिवार्यता समझी जानी चाहिए।"[3] एंगेल्स से महादेवी वर्मा का अलगाव यह है कि जहां एंगेल्स एकनिष्ठ विवाह को ही गैरजरूरी मानते हैं, वहीं महादेवी वर्मा उसे बाध्यता के बजाय स्वेच्छा पर आधारित बनाना चाहती हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल कहते हें कि "हम बड़े विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि स्त्रियों के बारे में जो जानकारी उपलब्ध है, वह अपूर्ण और बनावटी है; और स्त्रियों के चरित्र को तब तक पूरी तरह नहीं जाना जा सकता, जब तक कि स्त्रियां खुद हमें पूरी कहानी न सुना दें।"[4] यथार्थ के सही ज्ञान के लिए ही महादेवी वर्मा स्वतन्त्र स्त्री दृष्टि की आवश्यकता को महसूस करते हुए ठीक इसी निष्कर्ष पर पहुंचती हैं कि "पुरुष के द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श बन सकता है परन्तु अधिक सत्य नहीं; विकृति के अधिक निकट पहुंच सकता है परन्तु यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परन्तु नारी के लिए अनुभव।"[5] स्टुअर्ट मिल का मानना था कि नारी मुक्ति के साथ ही पुरुष की भी मुक्ति होगी, एंगेल्स ने भी माना था कि स्त्रियों के मुक्ति का प्रश्न पूरे समाज के रूपान्तरण के साथ जुड़ा होता है और महादेवी वर्मा भी लिखती हैं कि "केवल स्त्री के दृष्टिकोण से ही नहीं वरन हमारे सामूहिक विकास के लिए भी यह आवश्यक होता जा रहा है कि स्त्री घर के बाहर भी अपना विशेष कार्यक्षेत्र चुनने के लिए स्वतन्त्र हो।"[6] लेकिन विवाह, मातृत्व एवं गृहणी की भूमिका के प्रश्न पर महादेवी वर्मा इनसे अलग हो जाती हैं।

मेरी वॉल्सटन क्राफ्ट, सीमोन द बाऊवार और महादेवी वर्मा में यह समानता है कि तीनों ही यह मानती हैं कि समाज एक विशेष 'ट्रीटमेन्ट' के जरिए पुरुष से हीन होने का अहसास स्त्री के भीतर भर देता है और इस प्रकार उनके अन्दर कुछ कर सकने की ज्वाला हमेशा के लिए बुझ जाती है। लेकिन महादेवी वर्मा सीमोन की तरह यह नहीं मानतीं कि 'स्त्री पैदा नहीं होती बना दी जाती है'[7], यही नहीं जहां सीमोन स्त्रियों की शारीरिक संरचना एवं मातृत्व को अनिवार्य झंझट मानती हैं, वहीं महादेवी वर्मा को प्राकृतिक होने के कारण इससे कोई कुंठा नहीं है यही नहीं वे मातृत्व की क्षमता को स्त्री गुण के रूप में देखती हैं एवं उसकी भावुकता तथा वात्सल्य आदि को मातृत्व की पूरक विशेषताओं के रूप में। वर्जीनिया वुल्फ की भांति महादेवी वर्मा भी पुरुषों की उस कुंठा एवं डर को रेखांकित करती हैं जिसके कारण वह अपने से कम आयु एवं बुद्धि की स्त्री से विवाह करना एवं अपनी तथाकथित श्रेष्ठता उनके ऊपर थोपना चाहता है। तमाम पाश्चात्य विचारकों की तरह ही महादेवी वर्मा भी 'स्त्री के अर्थ स्वातन्त्र्य का प्रश्न' उठाती हैं लेकिन वे इस बात को ध्यान में रखती हैं कि भारत जैसे देश में जहां पुरुषों के लिए भी पूर्ण रोजगार मिलना असंभव है वहां सभी स्त्रियों के –औद्योगिक अथवा सेवा क्षेत्र में– रोजगार की मांग करना बेमानी है इसीलिए विकल्प के रूप में वे दूसरे क्षेत्रों जैसे साहित्य आदि की चर्चा करती हैं। वे जानती हैं कि भारतीय परिवेश में विवाह स्त्रियों के लिए जीविका का एकमात्र साधन है इसीलिए उससे योग्य गृहिणी बनने का प्रस्ताव करती हैं ताकि वे बोझ न बनकर एक उपयोगी अस्तित्व की स्वामिनी बने। यह संयोग नहीं है कि 'आज भी विवाह स्त्रियों के लिए जीविका का सबसे बड़ा साधन और अच्छा वर पा लेना जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य बना हुआ है।'[8]

महादेवी वर्मा के स्त्री संबंधी विचारों में विद्रोह भी है और संघर्ष भी लेकिन उनके विचारों में एक तरह का संतुलन भी है। वह 'विकास करने वाले संघर्ष' को अपने चिन्तन के केन्द्र में रखती हैं, विनाश करने वाले संघर्ष को नहीं। महादेवी वर्मा पुरुष को न सिर्फ जन्मजात शत्रु नहीं मानती बल्कि उससे सहयोग की भी अपेक्षा करती हैं, वे स्पष्ट कहती हैं कि "वे स्त्रियां तो आत्मनिर्भरता को भूल ही चुकी हैं तो उसकी उपयोगिता कैसे

समझ सकेंगी, उनके जीवन को सुव्यवस्थित करने तथा उन्हें मनुष्यता की परिधि में लौटा लाने का प्रयत्न कुछ विदुषी बहनें एवं पुरुष समाज ही कर सकता है।"[9] महादेवी वर्मा की दृष्टि में भारतीय स्त्रियों में विविधता है, यहां केवल एकता में बंधी चेतना संपन्न स्त्रियां ही नहीं हैं बल्कि उनकी मूल चिन्ता आत्मसातीकरण से ग्रस्त, घरों में कैद, श्रमजीवी, किसान तथा अशिक्षित स्त्रियां हैं जिनके आधार पर आम भारतीय नारी की छवि बनती है।

महादेवी वर्मा के लिए यह बिल्कुल स्पष्ट है कि चाहे 'अनुकरण' हो चाहे 'अनुसरण'- चाहे पुरुष द्वारा बताये गये रास्तों पर सर झुकाकर चलना हो अथवा स्वयं पुरुष बनने का प्रयास करना हो दोनों वास्तव में एक ही हीनताबोध से उपजे हुए आचरण हैं। वे साफ लिखती हैं, "हमें न किसी पर जय चाहिए न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुता चाहिए न किसी का प्रभुत्व, केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग नहीं बन पा रहीं हैं।"[10]

'शृंखला की कड़ियाँ' में संकलित स्त्री संबंधी विचारों का प्रतिपक्ष पुरुष मात्र नहीं बल्कि समाज व्यवस्था है। वर्तमान समाज को परिभाषित करते हुए वे कहती हैं, "वह कुछ विशेष अधिकार सम्पन्न और कुछ नितान्त अधिकार शून्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो उपयोगिता से नहीं वरन परम्परागत धारणा से बंधा है।"[11] अधिकारों के इस विषम विभाजन को ही वे स्त्रियों की दुर्दशा का मूल कारण मानती हैं। वे राजनीति से ज्यादा सामाजिक व्यवस्था को प्रभावशाली मानती हैं और लिखती हैं कि "राजनीतिक अधिकारों से भी पहले उसे ऐसी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता है जिससे जीवन में कुछ स्वावलम्बन, कुछ आत्मविश्वास आ सके।"[12] वे 'व्यक्ति और समाज' के बीच संतुलनकारी संबंध की तलाश करती हैं और कहती हैं- ''व्यक्ति के स्वत्वों की रक्षा के लिए समाज बना है और समाज के अस्तित्व के लिए व्यक्ति की आवश्यकता होती है।"[13]

महादेवी वर्मा का चिंतन भारतीय समाज व्यवस्था से गहरे परिचय की उपज का परिणाम है; बिबिया, गुंगिया, भक्तिन, घीसा आदि संस्मरण इस परिचय के प्रमाण है। इस परिचय के कारण ही वे भारतीय नारी की मूल समस्याओं, उसकी जीवन स्थितियों एवं समाधानों की प्रामाणिक सैद्धान्तिकी विकसित करने का प्रयास करती हैं। परन्तु अपने समय की सीमाओं और समस्याओं से महादेवी वर्मा का चिंतन भी प्रभावित हुआ है। गृहिणी, पत्नीत्व एवं मातृत्व का महिमामंडन इसी कारण संभव हो सका है। जिसका रेखांकन रोहिणी अग्रवाल अपने लेख 'शृंखला की कड़ियां : नवजागरण और महादेवी वर्मा की स्त्री दृष्टि' में करती हुई लिखती हैं कि "महादेवी वर्मा ऐसी आधुनिका स्त्री से बेहद खौफजदा हैं। अपनी दृष्टिगत उदारता को अनेक सुक्तियों-सुभाषितों में शब्दबद्ध करने के बावजूद वे सामाजिक जीवन में क्रियाशील स्त्री की आत्मनिर्भरता, संकल्पदृढ़ता और निर्णय की क्षमता से भीत हैं। वे स्त्री के आर्थिक स्वावलंबन और विशिष्ट व्यक्तित्व का समर्थन करती हैं लेकिन इस संदर्भ में नई भूमिका का अंतिम ड्राफ्ट पुरुष समाज से ही पाने की आकांक्षी हैं जो 'मातृत्व के गौरव को अक्षुण्ण' रखते हुए तथा पुरुष की 'प्रतिद्वंद्विता' में उतारे बिना उन्हें नवीन युग की 'संदेशवाहिका' बना सके।"[14]

किन्तु इसके बाद भी भारतीय परिवेश को ध्यान में रखने के कारण स्त्री विमर्श की भारतीय समझ पैदा करने में वह बहुत दूर तक हमारा साथ देता है।

भारतीय परिवेश को ध्यान में रखने के कारण ही महादेवी वर्मा कन्या के जन्म पर समाज की प्रतिक्रिया, उसे पराई धरोहर समझने की धारणा, उसके विवाह की चिन्ता, अविवाहित होने को कलंक समझने की मानसिकता, विवाह के लिए किए जाने वाल छल-फरेब, विवाह की पूरी विडंबनाओं का यथार्थवादी विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। वे अपरिचय पर आधारित बंधन सरीखे विवाह को 'नैतिक पतन' का कारण मानती हैं, एवं उसे स्वेच्छा पर आधारित होने की वकालत करती हैं। उनके अनुसार "भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है; उपयोग के लिए गाय या घोड़ा पाल लेता है उसी प्रकार वह एक स्त्री को

भी पालता है तथा अपने पालित पशु-पक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है।"[15] विवाह महादेवी के शब्दों में 'सार्वजनिक जीवन से निष्कासन' है क्योंकि पति स्त्री का घर से बाहर निकलना पसन्द नहीं करता।

भारतीय परिवार की निरंकुशता को भी महादेवी वर्मा रेखांकित करती हैं। घर और बाहर का अलगाव महादेवी वर्मा के चिन्तन की केन्द्रीय समस्या है क्योंकि, यह स्त्रियों की एकजुटता की संभावना को समाप्त कर देता है एवं उन्हें कूप मंडूक बनने को विवश करता है, यदि इस तथ्य को ध्यान में रखें तो -तोड़ दो यह क्षितिज/मैं भी देख लूं उस पार क्या है' रहस्यवाद की कविता नहीं बल्कि नारी जीवन की विवशता और आकांक्षा की कविता बन जायेगी।

महादेवी वर्मा तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की भी आलोचना करती हैं। वे शिक्षा को अत्यन्त महत्व देते हुए भी यह पहचानती हैं कि उनके समय में स्त्री शिक्षा के दो ही उद्देश्य हैं- बेहतर पति की प्राप्ति अथवा रोजगार की प्राप्ति। महादेवी वर्मा एक ऐसी शिक्षा पद्धति की आवश्यकता पर जोर देती हैं जिसे इस तरह की संकीर्ण उपयोगिता के तराजू पर तोलने के बजाय सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक रूप से उपयोगी अस्तित्व की प्राप्ति के कार्य में लगाया जा सके।

'श्रृंखला की कड़ियाँ' में संकलित समस्त चिन्तन वास्तव में इसी सामाजिक उपयोगिता की प्राप्ति का संदेश देता है। महादेवी वर्मा यह प्रश्न उठाती हैं कि अगर आप पूरे समाज के लिए एक उपयोगी अस्तिव रखते हैं तो समाज आपको नष्ट- सती प्रथा, जौहर प्रथा, दहेज प्रथा, भ्रूण हत्या द्वारा- करने पर क्यों तुलेगा। स्त्री की गुलामी का कारण बताते हुए वे कहती हैं कि "जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसकी उपयोगिता घटती गयी, वैसे-वैसे पुरुष व्यक्तिगत अधिकार भावना से उसे घेरता गया।"[16]

स्त्रियों के भीतर आत्मसातीकरण को भी महादेवी वर्मा केन्द्रीय के रूप में देखती हैं। 'शोषण के नियम ही जब शोषितों के लिए मूल्य बन जाय, दूषण ही भूषण बनने लगे, शोषित लोग खुद एक-दूसरे के शत्रु और शोषक बनने लगें तो यह प्रक्रिया आत्मसातीकरण कहलाती है।' महादेवी वर्मा 'अन्य' पर आरोप लगाने के बजाय इस आत्मसातीकरण को पहचानने एवं उसे दूर करने की सलाह देती हैं। इस आत्मसातीकरण में आभूषण प्रियता, प्रदर्शनप्रियता, गृहिणी स्त्रियों तथा बाहर सामाजिक कार्य करने वाली स्त्रियों के प्रति अन्य स्त्रियों की उपेक्षा भी शामिल है।

संक्षेप में कहें तो महादेवी वर्मा का चिंतन आक्रोश के बजाय गहरी संवेदनशीलता से उपजा है, उसमें बाहर से दिखने वाला आक्रोश वास्तव में अन्याय के प्रति ही है। वह शत्रुता की भावना पर नहीं बल्कि सहयोग और विकास की भावना पर आधारित है- इसीलिए भारतीय है।

संदर्भ :

1. पढ़ें, परिवार निजी संपत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति, फ्रेडरिक एंगेल्स।
2. श्रृंखला की कड़ियां, महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2001, पृ. 84
3. उपरोक्त, पृ. 23
4. स्त्री और पराधीनता : प्रकृति, शक्ति और भूमिका से जुड़े प्रश्न, जॉन स्टुअर्ट मिल, संवाद प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 35
5. श्रृंखला की कड़ियां, महादेवी वर्मा, उपरोक्त, पृ. 72
6. उपरोक्त, पृ. 63
7 पढ़े, स्त्री उपेक्षिता, सीमोन द बाऊवार, प्रभा खेतान के अनुवाद का फ्लैप पेज।
8 सीइंग लाइक ए फेमिनिस्ट, निवेदिता मेनन, पेंग्विन बुक्स, 2012, पृ. 43

9. शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, उपरोक्त, पृ. 42
10. उपरोक्त, पृ. 26
11. उपरोक्त, पृ. 40
12. उपरोक्त, पृ. 26
13. उपरोक्त, पृ. 131
14. शृंखला की कड़ियां : नवजागरण और महादेवी वर्मा की स्त्री दृष्टि, रोहिणी अग्रवाल, लेखिकाओं की दृष्टि में महादेवी वर्मा, चंद्र सदायत, संपा. राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पहला संस्करण, 2009, दूसरी आवृत्ति, 2017
15. शृंखला की कड़ियां, महादेवी वर्मा, उपरोक्त, पृ. 83
16. उपरोक्त, पृ. 139

❖❖❖

आलेख

आचार्य शुक्ल का सैद्धांतिक चिंतन

❍ दिनकर सिंह✡

आचार्य शुक्ल ने जब समीक्षा की दुनिया में कदम रखा, उस समय लेखन में अनेक रचनाकार सक्रिय थे, परंतु समीक्षा के क्षेत्र में स्थिति भिन्न थी। शायद इसी स्थिति ने आचार्य शुक्ल को समीक्षा के पैमानों की तरफ सोचने के लिए प्रेरित किया होगा। आचार्य शुक्ल ने अपने पूर्ववर्ती साहित्य-चिंतकों की दृष्टियों का समाहार कर एक नई आलोचना-दृष्टि का निर्माण किया जो साहित्य में आए बदलाव के अनुकूल और अधिक पूर्ण थी। उन्होंने आलोचना को इतिहास की परंपरा में रखकर देखा। वे अपने काल की जरूरत और पूर्व प्रचलित मान्यताओं को समझते थे। काव्य-समीक्षा की एक पद्धति पर रीतिकाल के साहित्य का असर था तो दूसरी ओर महावीर प्रसाद द्विवेदी का, जहाँ कविता का रूप सरलीकृत परिभाषा जैसा था। इनसे टकराते हुए शुक्ल जी ने काव्य सिद्धांत के चरित्र की जटिलता को ठीक ढंग से विश्लेषित किया। 'कविता क्या है' शीर्षक निबंध इसी तरह का एक सार्थक प्रयास था। उन्होंने साहित्य की उपयोगिता और उसकी सामाजिक भूमिका पर विचार किया। इसीलिए उनके चिंतन के मूल में एक तरफ लोकवादी रुझान आया और दूसरी तरफ वक्रोक्तिवाद, अलंकारवाद आदि उनकी रुचि के विरुद्ध जा पड़े। गौर करें तो आचार्य शुक्ल की भाषा में कुछ शब्द बार-बार आते हैं। इन शब्दों से उनके चिंतन की दिशा को समझा जा सकता है। इन शब्दों से उनकी चेतना और चिंता के साथ-साथ रुचि-अरुचि भी उजागर होती है। उदाहरण के लिए- स्वाभाविकता, प्रकृत, साधारण, सर्वानुभूत, सहज, लोकमंगल, साधनावस्था, सामंजस्य, कर्मक्षेत्र का सौन्दर्य, भावयोग, यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण, साधारणीकरण, लोकधर्म आदि शुक्ल जी के अतिप्रिय शब्दों से उनके समीक्षा-सिद्धांतों और उनके आलोचनात्मक विवेक का गहरा सम्बन्ध है। शुक्ल जी की लोकवादी प्रवृत्ति का उनके सैद्धांतिक निबंधों, कथनों, सिद्धांतों पर प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष गहरा असर है। दूसरी तरफ कुछ शब्द या पद ऐसे हैं जिनकी ओर शुक्ल जी की आंख सदैव टेढ़ी रही। मसलन विलक्षणता, वैचित्र्य, कुतूहल, कारीगरी, रहस्य, चमत्कार, कलावाद, व्यक्तिवाद आदि- ये पद से अधिक प्रवृत्तियाँ हैं, दूसरे शब्दों में शुक्ल जी की चिंताएँ। इसी क्रम में शुक्ल जी छायावाद को रहस्य की एकांतिक साधना और उसकी लाक्षणिक शैली के कारण उसे पश्चिमी अभिव्यंजनावाद और प्रतीकवाद की नकल मानते थे।

आचार्य शुक्ल का दौर साम्राज्यवादी शासन का दौर था। वे जानते थे कि साम्राज्यवाद वर्तमान को तो विकृत करता ही है, परंपराओं को भी नहीं छोड़ता। इसीलिए शुक्ल जी ने परंपरा की खोज वर्तमान और भविष्य दोनों

✡ *असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, रामानुजन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।*

दृष्टियों से की। एक तरफ उन्होंने भारतीय परंपरा को गौरवशाली बतलाकर जन-मानस में नई चेतना जागृत करने वाले तुलसीदास को अपना आदर्श कवि बनाया तो दूसरी तरफ पुरातन की उन समस्याओं और संघर्षों को भी रेखांकित किया जो भारतीय समाज की बुनियाद को कमजोर कर रहे थे। जातिगत संकीर्णता और साम्प्रदायिकता पर शुक्ल जी ने खुलकर लिखा।

आचार्य शुक्ल आधुनिक युगबोध के व्यक्ति थे। इसके अभाव में वे भारतीय और विदेशी दोनों दृष्टियों को गहरे और व्यापक धरातल पर समन्वित नहीं कर पाते। उनकी आलोचना-विधायक दृष्टि की व्यापकता में संस्कृत साहित्य की भारतीय परंपरा भी थी और पश्चिमी दुनिया का चिंतन भी। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा के सैद्धान्तिक प्रतिमान निर्मित किए और स्थापित भी। उनके पहले हिन्दी की अपनी कोई सैद्धांतिक समीक्षा पद्धति नहीं थी। जो रही, वह भी छिट-पुट।

आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक समीक्षा को मूलरूप में समझने के लिए 'रस-मीमांसा' का केन्द्रीय महत्व है। परंपरागत काव्य-सिद्धांत अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति- ये सभी सम्प्रदाय अपनी प्रकृति में काव्य के बाह्य पक्ष पर केन्द्रित थे और इनसे काव्य में कलात्मकता को अधिक प्रश्रय मिलता था। इसीलिए आचार्य शुक्ल की काव्य सिद्धांत विधायिनी चेतना इन सबसे भिन्न रस पर केन्द्रित है। शुक्ल जी की काव्य-दृष्टि वास्तव में रस-दृष्टि के काफी निकट है, पर यहीं तक सीमित नहीं है। शुक्ल जी ने इसकी प्राचीन व्याख्याओं से अलग आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की स्थापना की। कहना व्यर्थ नहीं होगा कि साधारणीकरण का आधार लोकमंगल है। संस्कृताचार्यों के लिए जो रस अलौकिक रहस्य रहा वही शुक्ल जी के यहाँ साधारण जनता से जुड़ जाता है। रस को उन्होंने अनुभव सम्मत और समाज सम्बद्ध बना दिया। इस जगत में रहते हुए ही हृदय की मुक्तावस्था का अनुभव किया जा सकता है। शुक्ल जी के लिए वह 'अनुभूति' काफी महत्वपूर्ण है जो लोकमानस के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित हो सके।

आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक समीक्षा को भली-भाँति समझने के लिए उनके विचारों पर पश्चिमी प्रभाव का अवलोकन भी आवश्यक है। उनके लेखन में कहीं-कहीं कुछ शब्द, कुछ टिप्पणियाँ ऐसी मिलती हैं जिनसे इस ओर बढ़ने का आधार मिलता है। जैसे - अंग्रेजी ढंग का नॉवेल, शॉट स्टोरी के अनुरूप 'छोटी कहानियाँ', समस्या नाटक, कॉगनीशन, फीलिंग, इमोशन, कोनेशन आदि।

अपने साहित्य सिद्धांतों में साहित्य और लोकजीवन के संबंध को दृढ़तापूर्वक रेखांकित करते हुए शुक्ल जी ने कविता के कलात्मक सौन्दर्य की कहीं उपेक्षा नहीं की है। कुछ सैद्धांतिक निबंधों के उदाहरण देखिए - कविता क्या है, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, आनंद की सिद्धावस्था, साहित्य, उपन्यास, काव्य में प्राकृतिक दृश्य, सभ्यता के आवरण और कविता, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप आदि। सैद्धान्तिक निबंधों में जिस लोकमंगल की साधना को शुक्ल जी ने महत्व दिया, उसका निर्वाह केवल प्रबंध काव्यों में ही संभव था, मुक्तक या गीतिकाव्य में नहीं। इसी कारण प्रगीत या गीतिकाव्य के बरक्स शुक्ल जी ने प्रबंध को अधिक महत्व दिया है।

शुक्ल जी ने भावों का महत्व सामाजिकता के संदर्भ में ही स्वीकार किया है और भावों के विश्लेषण में लोकहित के आदर्श को सदैव सामने रखा है। साहित्य के मूल्यांकन का आधार शुक्ल जी के लिए उसके लोकसामान्य भावभूमि पर भली-भाँति प्रतिष्ठित होने से जुड़ा है। काव्य में आध्यात्मिक तत्व, वैयक्तिक तत्व एक सीमा के बाद बाधक और त्याज्य हैं। उन्होंने अपने सैद्धांतिक चिंतन में भाषाई तत्वों को सम्मिलित किया है। उनकी विचारसरणि में काव्य की शैली, उसकी लाक्षणिकता, उपचार वक्रता और कल्पनादि का सुचिंतित स्थान एवं महत्व है।

आचार्य शुक्ल को छोड़कर हिन्दी में सैद्धांतिक समीक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। नामवर

सिंह ने सन् 1949 ई. में शुक्ल जयंती के अवसर पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की हिन्दी समिति में एक निबंध पढ़ा था, जो बाद में अगले वर्ष यानी 1950 ई. के जनवाणी पत्रिका के जनवरी अंक में छपा था। इस निबंध में कई गंभीर बातें कही गई थीं। एक यह बात भी इसमें शामिल थी कि 'छायावादी गीतों के लिए उनके भावों का मानदंड अधूरा रह गया।' कुछ हद तक यह बात सही मानी जा सकती है।

आचार्य शुक्ल के साहित्य-सिद्धांत केवल संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धांतों के आधार पर ही नहीं प्रतिष्ठित हैं बल्कि उनमें उनका अपना चिंतन, युगबोध और तत्वान्वेषिणी बुद्धि सभी कुछ का संयोग है। तात्विकता और गंभीरता की दृष्टि से वे हिन्दी सैद्धांतिक समीक्षा के आद्य प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। उन्होंने आलोचना को रचनात्मक साहित्य के बराबर का दर्जा दिलाया। ध्यान रखना चाहिए कि शुक्ल जी का आलोचनात्मक विवेक द्विवेदी युग की वैचारिक मान्यताओं एवं परिस्थितियों के बीच निर्मित हुआ था। उस समय के समाज में देश प्रेम, राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलनों, वैज्ञानिक सोच और पुनर्जागरण का व्यापक प्रभाव था। हिन्दी की सेवा और समृद्धि सीधे देश प्रेम की भावना और राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़ी थी। उस युग की सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का आचार्य शुक्ल पर गहरा असर था। भले ही शुक्ल जी की महत्वपूर्ण समीक्षाएं द्विवेदी युग के बाद सामने आई लेकिन उन समीक्षाओं के सैद्धांतिक पृष्ठभूमि के निर्माण में द्विवेदीयुगीन चेतना मुख्य थी। डॉ. रामचंद्र तिवारी ने आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि के बारे में लिखा है कि, "आचार्य शुक्ल की समीक्षा के आधार तत्वों का विकास सन् 1922 तक हो चुका था। विज्ञान, धर्म, दर्शन और काव्य की लक्ष्यगत एकता, काव्य में बिम्ब-ग्रहण का महत्व, विभावन व्यापार और कल्पना का अन्त:संबंध, रसानुभूति में असाधारणत्व और चमत्कारवाद का निषेध, अलंकार और अलंकार्य में तात्विक भेद, आलम्बन मात्र के विशद वर्णन में रसानुभूति कराने की क्षमता तथा परिचय के अभाव में प्रेमोद्भव का अस्वीकार अर्थात अव्यक्त के प्रति प्रेम-निवेदन की अस्वाभाविकता आदि ऐसी मान्यताएँ हैं जिनका उपयोग शुक्ल जी ने आगे चलकर अपनी कृतियों में बराबर किया है।"[1]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सैद्धांतिक समीक्षा का मूलाधार भारतीय रसवाद पर अवलम्बित है। रस-सिद्धांत की आधारशिला पर शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों का विशाल प्रासाद निर्मित हुआ है। शुक्ल जी की सैद्धांतिक समीक्षा की आधारभूमि को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल के विशेषज्ञ विद्वान डॉ. रामचंद्र तिवारी ने लिखा है, "आपने (शुक्ल जी ने) जीवन की क्रिया-भूमि, काव्य की भावभूमि और समीक्षा की विचार-भूमि में अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया है। आपके सिद्धांत जीवन के अनुभव से गृहीत हैं। काव्य के संदर्भ में उनको परखा गया है और अंतत: विवेक की कसौटी पर कसकर सिद्धांत-रूप में उपस्थित किया गया है। समीक्षा का जो सिद्धांत इन तीनों में सामंजस्य नहीं ला सकता था, वह आपको मान्य नहीं। सामंजस्य की यह पूर्णता भारतीय 'रसवाद' में है, ऐसी आपकी मान्यता थी, जो कभी बदली नहीं।"[2]

आचार्य शुक्ल ने सन् 1922 ई. में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक से एक लंबा निबंध लिखा था। इस निबंध में उन्होंने अपनी कई सैद्धांतिक मान्यताओं को प्रस्तुत किया। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं -

"हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेतग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा ये चार विषय बताए, पर स्वयं संकेतग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है- बिम्ब ग्रहण और अर्थ ग्रहण। ..बिम्ब ग्रहण कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो विभाव में दिखाई पड़ता है। काव्य में विभाव मुख्य समझना चाहिए।"[3]

"रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का प्रधान कार्य क्षेत्र है।"[4]

"हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलम्बन है, अत: उपचार से वह हमारे भावों का आलंबन है।"[5]

"मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली मानता हूँ।"[6]

"काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं) उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है।"[7]

"अत: चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है, वहीं रस का परिपाक होता है अन्यत्र नहीं।"[8]

"अत: परमार्थ की दृष्टि से दर्शन और काव्य दोनों अंत:करण की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का आश्रय लेकर एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं।"[9]

"विभाव वस्तु-चित्र-मय होता है, अत: जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होती है वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्र ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है।"[10]

इनमें से कई सैद्धांतिक मान्यताएँ 'रस-मिमांसा' के विविध शीर्षकों के अंतर्गत दुहराई गई हैं। 'रस-मिमांसा' में आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक उद्‌भावनाएं संकलित हैं। उन्होंने रस-सिद्धांत के विविध पहलुओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया एवं इसको साहित्य के मूल-सिद्धांत के रूप में स्थापित किया। काव्य की आत्मा कहे जाने वाले अन्य सभी अभिमतों को उन्होंने इसके अंतर्गत और इसके अनुकूल समायोजित किया। इसके अलावा कुछ मान्यताओं को इसका विरोधी होने के कारण खारिज भी किया। उनके समीक्षा के सिद्धांत रस सिद्धांत की व्यापक एवं सूक्ष्म व्याख्याएँ हैं। वास्तव में, वे सौन्दर्यानुभूति को रसानुभूति से भिन्न नहीं मानते।

आचार्य शुक्ल ने भारतीय काव्य शास्त्र के अनेक ग्रंथों जैसे- नाट्यशास्त्र, काव्यादर्श, काव्यालंकार, अभिनव-भारती, काव्यप्रकाश ध्वन्यालोक, दशरूपक, काव्य मीमांसा, साहित्यदर्पण, रसतरंगिणी, रसगंगाधर आदि का गहन और सूक्ष्म अन्वीक्षण करने के उपरांत यह घोषणा की, कि- "शब्द शक्ति, रस और अलंकार ये विषय-विभाग काव्य-समीक्षा के लिए इतने उपयोगी हैं कि इनको अंतर्भूत करके संसार की नयी-पुरानी सब प्रकार की कविताओं की बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक और स्वच्छ आलोचना हो सकती है।"[11]

आचार्य शुक्ल ने रस निरूपण की पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान के सहयोग से उसके और अधिक संस्कार और प्रसार की वकालत की। यह कार्य खुद शुक्ल जी ने किया भी। उनके लिए काव्य का आंतरिक पहलू या आत्मा, भाव या रस है। जबकि अलंकार बाह्य स्वरूप है। वे ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं मानते। कारण कि इस मान्यता में शुक्ल जी अतिव्याप्ति दोष देखते हैं। 'रस-मीमांसा' में उनकी व्यक्त मान्यता है कि ध्वनि में अलंकार ध्वनि और वस्तुध्वनि भी आ जाती है।[12] वे औचित्य का महत्व इस बात से मानते हैं कि इसकी अनुपस्थिति रसाभास की दशा उत्पन्न कर सकती है। कुल मिलाकर उनकी समीक्षा का आधार भारतीय रस-सिद्धांत है।

आचार्य शुक्ल के रस संबंधी चिंतन का उल्लेख यहाँ समीचीन होगा। इस संबंध में कुछ उद्धरण देना आवश्यक है -

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।"[13]

"हृदय की अनुभूति ही साहित्य में रस और भाव कहलाती है।"[14]

"लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"[15]

"हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है।"[16]

आचार्य शुक्ल विभाव-विधान की पूर्णता के लिए आलंबन के लोकधर्मी रूप को आवश्यक मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने रस-मीमांसा में स्पष्ट लिखा है कि- "जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है, वहाँ तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर

श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ हो सकता है।"[17]

आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि के मूल में लोकजीवन का यथार्थ है। लोकजीवन के यथार्थ पर आधारित 'लोकमंगल' ही वह व्यापक एवं जीवंत आधार है जिस पर आचार्य शुक्ल की समग्र सैद्धांतिक व व्यावहारिक समीक्षा टिकी हुई है। वही काव्य व्यापक और जीवंत होगा जो लोकजीवन में व्याप्त यथार्थ और लोकहृदय के अधिकाधिक करीब होगा। कारण कि, काव्य या साहित्य के उपक्रम भाव, मनोविकार, कल्पनादि का निर्माण एवं संगठन आस-पास के वास्तविक संसार के अनेकानेक रूपों से ही होता है। शुक्ल जी का मत था कि संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना निर्मित होती है। हमारे भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलंबन बाहर के ही हैं, चारों ओर फैले रूपात्मक जगत के हैं। देखा जाए तो शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धांतों में तात्विक-बहुलता है। उन्होंने पाश्चात्य चिंतन, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या की। कुंतक और क्रोचे पर उनका प्रहार असंगत नहीं था। 'कविता क्या है' निबंध के अवलोकन के पश्चात हम कह सकते हैं कि वे कुंतक के 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' से वहीं तक सहमत हैं, जहाँ तक वह भावानुमोदित है या किसी मार्मिक अंतर्वृत्ति से सम्बद्ध है, उसके आगे नहीं। जबकि कुंतक की वक्रता की व्यापकता में - वाक्य वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु-वैचित्र्य की वक्रता दोनों सम्मिलित हैं। सालंकृत वक्रता के चमत्कार में ही वे काव्यतत्व देखते हैं। वे काव्य में शब्द-अर्थ रूप अलंकार्य का और वक्रोक्ति रूप अलंकार का पूर्ण तादात्म्य मानते हैं। मतलब यह है कि अलंकार कोई बाह्य वस्तु नहीं है, जिसका शब्द-अर्थ के साथ योग होता है। वास्तव में शुक्ल जी जिसे रमणीयता कहते हैं उसे ही कुंतक ने वक्रता कहा है। क्रोचे के संबंध में विवाद की जड़ यह है कि शुक्ल जी वस्तु और अभिव्यंजना को दो अलग चीज समझते हैं जबकि क्रोचे यह भिन्नता नहीं मानते हैं। वास्तविकता यह है कि लोकहित, लोकमंगल, लोकधर्म, शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबंध, लोकचित्त का परिष्कार, आनंद की साधनावस्था, आदि विभिन्न नामों एवं प्रसंगों के द्वारा शुक्ल जी ने मूलतः एक ही कसौटी को बार-बार अपनाया है।

एक और परिप्रेक्ष्य यह भी है कि परंपरागत साहित्यशास्त्र ने साहित्य का मुख्य ध्येय 'आनंद' को माना था, जबकि उसकी प्राप्ति के अनेक मार्ग हो सकते थे, जैसे - अलंकार, रीति, वक्रोक्ति या चमत्कारादि। पर शुक्ल जी ने उस आनंद का स्वरूप ही बदल दिया। उन्होंने इसके दो विभाग बताए - एक साधनावस्था और दूसरा सिद्धावस्था। इन दोनों अवस्थाओं के आनंद को वे मंगलमय मानते हैं। उपयोगिता एवं सामाजिक नैतिकता से रस को जोड़ने का उन्होंने सफल प्रयास किया। वे काव्यानुभूति के सौन्दर्य को वास्तविक जीवन की अनुभूतियों के सौन्दर्य से असंपृक्त मानते हैं। इसी कारण शुक्ल जी की सौन्दर्य की अवधारणा कलावादियों की सौन्दर्य की समझ से मेल नहीं खाती। शुक्ल जी शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन आवश्यक समझते हैं। कहें तो, सौन्दर्य वास्तविक जगत की अनुभूतियों से स्वतंत्र नहीं हो सकता है। शुक्ल जी ने सौन्दर्य के तीन भेद किए- रूप सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य और कर्म सौन्दर्य। रूप-सौन्दर्य से भाव-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य से कर्म-सौन्दर्य अधिक श्रेष्ठ है। जहाँ इन तीनों का योग हो, वहाँ शुक्ल जी चरम कोटि का सौन्दर्य मानते हैं। चूंकि राम में इन तीनों सौन्दर्य का सामंजस्य है, इसी कारण वे (राम) शुक्ल जी की दृष्टि में लोकहृदय के प्रेम के सर्वोत्तम आलंबन हैं। यानी, शुक्ल जी का सौन्दर्य-मूल्य और लोकहित अंततः जुड़कर एक हो जाता है।

आचार्य शुक्ल के भाव और मनोविकारों संबंधी विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे हर विषय की परख, छानबीन सामाजिकता के संदर्भ में करते थे। शास्त्र में रसानुभव की जिस लोकोत्तरता की चर्चा की गई है, उसकी जो व्याख्या शुक्ल जी करते हैं, वह ध्यान देने योग्य है- "हमारे यहाँ लक्षण ग्रंथों में रसानुभव को जो 'लोकोत्तर' और ब्रह्मानन्द-सहोदर आदि कहा है, वह अर्थवाद के रूप में है, सिद्धांत रूप में नहीं। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि रस में व्यक्तित्व का लय हो जाता है।"[18] व्यक्तित्व के लय होने से उनका मतलब

मनुष्य के हृदय का संकुचित स्वार्थ-संबंधों से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भावभूमि पर पहुँच जाने से है। शुक्ल जी के साहित्यिक चिंतन की सभी समस्याओं के मूल में है - लोक सामान्य की चिंता। इसी चिंता के कारण उन्हें तुलसी और जायसी प्रिय हुए हैं। इसी चिंता के आलोक में उन्होंने रस, भाव, काव्य और कला को परिभाषित किया है। साधारणीकरण की स्थापना करने और व्यक्ति-वैचित्र्य से किनारा करने की भी यही वजह है। उनकी समझ है कि- "मेरी समझ में रसास्वाद का प्रकृत स्वरूप 'आनंद' शब्द से व्यक्त नहीं होता।... इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया, उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।"[19] अपने भाव-विवेचन में शुक्ल जी ने 'करुणा' को सबसे अधिक महत्व दिया है, क्योंकि इसी भाव के कारण व्यष्टि सत्ता का लोक सत्ता से एकीकरण हो पाता है। दूसरे शब्दों में, यही भाव आलंबन और आश्रय को जोड़ता है। उनके काव्य के आलंबन के विस्तार में नर-प्रकृति के साथ नरेतर-प्रकृति भी शामिल है। शुक्ल जी ने छायावाद को वहाँ तक स्वीकार किया है जहाँ तक वह रहस्यात्मक न होकर स्वाभाविक है। पंत की रचनाओं में अभिव्यक्त रहस्यात्मकता स्वाभाविक है, वह उन्हें सांप्रदायिक रहस्यवादी किस्म की नहीं लगती है।

पहले सामान्यत: कल्पना का प्रयोग अलंकार विधान के साधन के रूप में होता था। आचार्य शुक्ल ने उसकी परिधि और विस्तृत मानते हुए उसको अनुभूति से संबद्ध कर दिया। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि, "काव्य का आभ्यंतर स्वरूप या आत्मा भाव या रस है। अलंकार उसके बाह्य स्वरूप हैं। दोनों में कल्पना का काम पड़ता है।... जबकि रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है तब उसके संयोजकों में जो कल्पना का प्रयोग होता है वही आवश्यक और प्रधान ठहरा। रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है कल्पना का प्रधान कर्मक्षेत्र वही है। पर वहाँ उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर कार्य करना पड़ता है।"[20] विभावन व्यापार की प्रतिष्ठा दूसरे शब्दों में काव्य में वस्तु जगत, मूर्त विधान और औचित्य की प्रतिष्ठा है।

शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचनाएँ बहुत सशक्त है और अपने क्षेत्र में मील का पत्थर साबित हुई हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर यह कहना कि शुक्ल जी को जितनी कुशलता व्यावहारिक आलोचना में प्राप्त थी, उतनी उन्हें अपने द्वारा प्रयुक्त प्रतिमानों को सूत्रबद्ध करने में हासिल नहीं थी, उचित प्रतीत नहीं होता है। 'रस मीमांसा' की योजना उन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाई थी।

कुल मिलाकर शुक्ल जी काव्यानुभूति का आधार लोकानुभूति को ही मानते हैं। आनंद विधान के लिए लोक के बाहर जाना, चाहे वह घट के भीतर हो या क्षितिज के पार, उनके लिए पलायनवाद है। समस्त मानव में एक ही सामान्य हृदय की सत्ता है। इस सामान्य हृदय का उद्घाटन कवि करता है। मुक्त हृदय समस्त जगत में एक ही सामान्य हृदय का प्रसार देखता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में- "सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव कराना ही काव्य का चरम लक्ष्य है।"[21] उन्होंने करुणा भाव के काव्य को श्रेष्ठ माना क्योंकि यही भाव मंगल का विधान करने वाला है। उनके लिए काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी 'लोकमंगल की साधना' की प्रतिष्ठा से निर्धारित होती है।

शुक्ल जी की सैद्धांतिक मान्यताओं ने हिन्दी जगत को सर्वाधिक प्रभावित किया है। नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह आदि अनेक नए-पुराने आलोचकों ने शुक्ल जी की मान्यताओं के आलोक में अपने विचार प्रकट किए हैं। कोई सहमत है, कोई अंशत: सहमत तो कोई असहमत, लेकिन आगे के सभी आलोचकों की समीक्षाओं पर आचार्य शुक्ल का प्रभाव है। डॉ. रामविलास शर्मा ने आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति को हिन्दी के लिए वरदान माना है। अपनी पुस्तक 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' में उन्होंने लिखा है- "दृढ़ता, आत्म-विश्वास और निर्भीकता शुक्ल जी के विशेष गुण हैं। लाख विरोधी प्रचार हो, वह अपने सिद्धांत पर अडिग रहे। रहस्यवाद की भारत-व्यापी धूम होने पर भी उन्होंने उसका विरोध करना नहीं छोड़ा। भारतीय अध्यात्मवाद की विश्व में डुग्गी पिटने पर भी उन्होंने वास्तविक जगत का

सूत्र नहीं छोड़ा, इस जगत के चित्रण को भारतीय साहित्य की मूल विशेषता बतलाया और अध्यात्म शब्द को साहित्य के मैदान से बाहर निकाल देने को कहा। अंग्रेजी और संस्कृत की धाक की परवाह न करके उन्होंने इन भाषाओं के साहित्य में जो कमजोरियां दिखीं उनका भी खुलकर विवेचन किया।"[22]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचकीय निपुणता की सराहना बाद के हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचकों ने की है। नंददुलारे वाजपेयी ने आचार्य शुक्ल के समीक्षक रूप के बारे में अपनी राय प्रकट की है कि- "शुक्ल जी की समीक्षा-दृष्टि अतिशय मार्मिक थी, परिणामस्वरूप उनकी समीक्षाओं ने जो साहित्यिक चेतना उत्पन्न की वह पर्याप्त विशद और स्वस्थ थी। एक नया मानदंड शुक्ल जी ने संस्थापित कर दिया, जिसके आधार पर हिन्दी समीक्षा उत्तरोत्तर उन्नति कर रही है।"[23]

आचार्य शुक्ल के आलोचक व्यक्तित्व के बारे में डॉ. रामचंद्र तिवारी ने सटीक और सत्य लिखा है कि, "आचार्य शुक्ल की समीक्षा में पूर्ववर्ती समीक्षा के सारे उत्कृष्ट और ग्राह्य तत्व अन्तर्निहित हैं और परवर्ती समीक्षा की अनेक संभावनाएँ समाविष्ट हैं। वे सच्चे अर्थों में हिन्दी पथिकृत आचार्य हैं।"[24] शुक्ल जी के बाद लगभग सभी आलोचकों पर उनकी मान्यताओं, सिद्धांतों का व्यापक और गहरा असर है। आलोचना का रूप सृजनात्मक साहित्य का सा करने का श्रेय निस्संदेह आचार्य शुक्ल को दिया जा सकता है।

शुक्ल जी का अध्ययन विस्तृत था, उनकी बुद्धि सूक्ष्म-अन्वीक्षणीय थी और प्रज्ञा मर्म-ग्राहिणी। आचार्य शुक्ल के समीक्षक व्यक्तित्व और समीक्षा कर्म के बारे में नंददुलारे वाजपेयी की उक्ति से सहमत हूँ कि, ". .. उन्होंने रस और अलंकार शास्त्र को नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊंची मानसिक भूमि पर ला बिठाया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दों में शुक्ल जी ने समीक्षा के भारतीय ढांचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस सांचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए।"[25] इस तरह शुक्ल जी ने हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा को एक नया जीवन दिया। उनके विचारों में कोई उलझन नहीं है। उनकी आलोचना भाषा में स्पष्टता, तार्किकता और गहन चिंतन है। जिस दौर के रामचंद्र शुक्ल थे उसी दौर के निराला भी थे, जिन्होंने शुक्ल जी के निधन पर श्रद्धांजलि स्वरूप एक कविता लिखी जिसकी शुरुआत है -

अमा निशा थी समालोचना के अंबर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर..

क्या यह कहना अतिश्योक्ति है कि शुक्ल जी जैसा बड़ा आलोचक और चिंतक हिन्दी में दूसरा नहीं है। आज भी वे हिन्दी आलोचना की सबसे बड़ी ताकत हैं।

संदर्भ :

1. रामचंद्र तिवारी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उनके समकालीन आलोचक, पृ.4
2. वही, पृ. 5
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि-2, काव्य में प्राकृतिक दृश्य, पृ. 1
4. वही, पृ. 2
5. वही, पृ. 3
6. वही, पृ. 4
7. वही, पृ. 6
8. वही, पृ. 7
9. वही, पृ. 9

10. वही, पृ. 9
11. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि-2, पृ. 189
12. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, पृ. 368-369
13. वही, पृ. 1
14. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि-2, पृ. 189
15. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, काव्य में रहस्यवाद, पृ. 88
16. वही, पृ. 88
17. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, काव्य में प्रकृति चित्रण, पृ. 99
18. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 687
19. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, पृ. 80
20. वही, पृ. 83
21. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि-2, काव्य में प्रकृतिक दृश्य, पृ. 5
22. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ. 225
23. नंददुलारे वाजपेयी, नया साहित्य : नए प्रश्न, पृ. 52
24. रामचंद्र तिवारी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और उनके समकालीन आलोचक, पृ. 22
25. नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 83

❖❖❖

आलेख

पूर्वोत्तर की लाली

नारी कंठ से निकली है पहाड़ों की चीत्कार

❍ अभिषेक कुमार यादव✡

अरुणाचल प्रदेश में हिन्दी साहित्य लेखन की लौ जगाने वाले पहले जनजातीय रचनाकार हैं जुमसी सिराम। उनके द्वारा लिखा गया पहला उपन्यास है *'मेरी आवाज सुनो'। यह अरुणाचल प्रदेश में किसी जनजातीय रचनाकार द्वारा रची गई पहली रचना है और साथ ही पहला उपन्यास भी है।* यह उपन्यास पटना के बोरिंग रोड से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'कोशा' के अंकों में पहली बार 1987 में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। 1992 में यह पहली बार पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। उस संस्करण की प्रतियाँ अब अनुपलब्ध हैं। इसका दूसरा संस्करण 2002 में प्रकाशित हुआ। यह पहले संस्करण का संक्षिप्त रूप था। जुमसी सिराम बताते हैं कि इस रचना के पहले संस्करण पर कुछ विवाद हो गया था इसीलिए उन्होंने इसके दूसरे संस्करण को संक्षिप्त कर दिया था। वे बताते हैं कि पहले संस्करण में उन्होंने अपने नैसर्गिक अंदाज में बहुत ही ताकत और प्रतिरोधात्मक तरीके से अपनी बात रखी थी जिसके कारण कुछ लोगों ने इस पर आपत्ति दर्ज की। इसीलिए बाद में उन्होंने इसका संक्षिप्त संस्करण निकाला किन्तु उनका मानना है कि इस उपन्यास को उसके मूल रूप में ही स्वीकृति मिलनी चाहिए। इस संक्षिप्त संस्करण की एक प्रति लेखक के माध्यम से मुझे प्राप्त हुई है। 2018 में जुमसी सिराम ने इसके मूल संस्करण की पाण्डुलिपि को फिर से प्रकाशित कराने की कोशिश की और अब यह उपन्यास अपने मूल रूप में पुन:प्रकाशित हो चुका है।[1] इस लेख में इसी संस्करण को आधार बनाया गया है। जुमसी सिराम ने 'शिला का रहस्य'[2] और 'मातमुर जामोह'[3] नाम से दो अन्य उपन्यास भी लिखे हैं। 'शिला का रहस्य' उपन्यास गालो जनजाति में प्रचलित एक लोक-गाथा को आधार बनाकर लिखा गया है। 'मातमुर जामोह' 1911 में हुए इतिहास प्रसिद्ध 'एंग्लो-अबोर युद्ध' के नायक मातमुर जामोह को केंद्र बनाकर लिखा गया अरुणाचल का पहला ऐतिहासिक उपन्यास है।

जुमसी सिराम के उपन्यास 'मेरी आवाज सुनो' की कथावस्तु लुम्मर दई के 1982 में असमिया में लिखे उपन्यास 'कन्यार मूल्य' (इसका हिन्दी अनुवाद 'कन्या का मूल्य' नाम से बहुत बाद में प्रकाशित हुआ) से प्रभावित है। लेकिन यह प्रभाव केवल विषय-वस्तु तक ही सीमित है। जुमसी ने उस विषय-वस्तु को अपने अंदाज में और नए पक्षों को जोड़ते हुए तथा एक आधुनिक परिपेक्ष्य को सामने रखकर प्रस्तुत किया है। अरुणाचल प्रदेश के कई रचनाकारों ने जनजातीय विवाह-प्रथा के कुछ अमानवीय नियमों के विरुद्ध अपनी कलम चलाई

✡ *डॉ. अभिषेक कुमार यादव, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश, पूर्व फेलो, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला।*

है। विशेषकर तानी समूह की जनजातियों में विवाह के तय होने की प्रक्रिया में वर पक्ष द्वारा वधू के परिवार को कुछ आभूषण, मिथुन (जंगली गौर जो यहाँ बहुतायत से होता है तथा उसे एक महत्वपूर्ण संपत्ति के रूप में माना जाता है। उसका आनुष्ठानिक महत्व भी है। महत्वपूर्ण त्योहारों या मौकों पर उसकी बलि भी दी जाती है।) तथा अन्य कुछ चीजें या संपत्ति दी जाती है। प्रमुख मानवशास्त्रियों[4] और इन रचनाकारों ने इसे वधू के मूल्य के रूप में चिह्नित किया है। यदि किसी लड़की का मूल्य उसके परिवार ने स्वीकार कर लिया है तो उस लड़की को बिना वह मूल्य और जुर्माना चुकाए उस रिश्ते से बाहर निकलने का हक नहीं है। यदि वह ऐसा करती है उसके विरुद्ध सामाजिक कार्यवाही की जा सकती है। ताई तुगुंग ने इस समस्या पर एक नाटक लिखा तो जोराम यालाम नाबाम ने इस पर केन्द्रित कहानियाँ लिखी हैं। इसके अतिरिक्त तुंबम रीबा जोमो 'लिली' ने भी इसी समस्या पर केन्द्रित एक उपन्यास 'उस रात की सुबह' नाम से लिखा है। हिन्दी में इस विषय पर लिखने वाले पहले रचनाकार जुमसी सिराम ही हैं।

जुमसी के इस उपन्यास की नायिका आयि या यायि नाम की एक लड़की है। उसे आलुक नाम के एक लड़के से प्रेम हो जाता है। आलुक अनाथ है और आर्थिक रूप से कमजोर खानदान से संबंध रखता है। इसके साथ ही उसके खानदान की सामाजिक हैसियत भी कमतर है। इधर आयि पहले से ही 'नेप्प-न्यीदा'[5] यानि कि पेट में रहते हुए ही बच्चे का विवाह तय कर देने की सामाजिक प्रथा से बंधी हुई है। उसकी शादी औपचारिक रूप से नहीं हुई थी। असल में उसकी दीदी की शादी एक सम्पन्न किसान ताकार से हुई थी किन्तु दुर्भाग्यवश उसकी दीदी की असामयिक मृत्यु हो गई थी। वह माँ भी नहीं बन सकी थी। एक ऐसे समाज में जहां बच्चों का और वह भी लड़कों का इतना महत्व हो, वहाँ उसका बच्चे पैदा किए बिना ही मर जाना एक 'आर्थिक नुकसान'[6] की तरह था। उन दिनों आयि अपनी माँ के पेट में थी। तभी उन दोनों परिवारों में यह तय हो गया था कि यदि आयि की माँ को बेटी होती है तो युवती होने के बाद उसकी शादी ताकार से की जाएगी। आयि के युवती होने तक उसके माता-पिता की मृत्यु हो गई थी। वह अपने भाई मोकीर और भाभी याजुम के साथ रहती है। इधर वह आलुक से मिलती है, उधर ताकार उसे ले जाने के लिए दिन तय करने के लिए मोकीर से मिलने उसके घर आता है। ताकार अधेड़ावस्था पार कर बुढ़ापे की ओर बढ़ चुका है लेकिन वह और उसकी बूढ़ी हो चुकी माँ चाहते हैं कि आयि उनके घर आए और बच्चे पैदा करके उनका वंश बढ़ाए। आयि इस बात का विरोध करती है। वह कहती है, "यह मेरी आजादी का हनन है बड़े भैया.... ताकार जीजाजी का विवाह मुझसे हुआ था या दीदी से, सारे समाज से यह प्रश्न पूछना। उसके बाद ही मेरा विवाह उससे करना"[7]। उसके प्रबल और तार्किक प्रतिरोध के बावजूद मोकीर मानने के लिए तैयार नहीं है। आयि की भाभी उसके दुख को समझती है लेकिन वह अपने पति और समाज के नियमों के आगे लाचार हो जाती है। आयि की दीदी की शादी में विवाह के नियमों के अनुसार ताकार ने आयि के पिता को लड़की के बदले में बहुत सारे मिथुन, आभूषण तथा अन्य चीजें दी थी। उसकी मृत्यु के बाद आयि के पिता ने अजन्मी आयि का 'नेप्प न्यीदा' कर दिया था। चूंकि बात पहले से तय हो गई थी इसलिए अब यदि इस बात से मोकीर मुकर जाता तो उसे वे सारी चीजें लौटानी पड़ती जो आयि की बड़ी बहन के विवाह के समय ताकार से ली गई थीं, साथ ही यदि पंचायत उस पर कोई जुर्माना तय करती तो वह भी उसे चुकाना पड़ता। मोकीर की माली हालत ऐसी नहीं थी कि वह यह कर पाता। सो उसने चुपचाप बहन को ताकार के यहाँ भेज देने का निश्चय कर लिया।

उपन्यास में घटनाक्रम बहुत तेजी से घटित होता है। आयि और आलुक के प्रेम के विषय में ताकार और मोकीर जान जाते हैं। दोनों ही इसका विरोध करते हैं। इस बीच में कभी-कभी जंगल में छुपकर आयि, आलुक से मिलती है। जब आयि बिल्कुल ही ताकार के साथ जाने को तैयार नहीं होती है तो ताकार एक पंचायत बुलाता है। यह पहले से ही तय होता है कि पंचायत क्या निर्णय लेगी। नितांत पुरुषों का एक संगठन ऐसा कोई कदम

उठा ही नहीं सकता था जिससे स्त्री की चुनौती को वैधता मिल जाय। फैसला हो जाता है कि आयि ताकार के घर जाएगी। एक दिन तय करके उसे जबर्दस्ती ताकार के घर भेज दिया जाता है। लाचार आयि व्यक्तिगत प्रतिरोध के रूप में यही करती है कि वह ताकार को अपने पास भी नहीं आने देती है। ताकार जो कि बूढ़ा हो चुका है, वह चाहता है कि उसकी खानदान के किसी नौजवान से ही आयि संबंध बना ले ताकि उसके घर में बच्चे हो जाय। ताकार के कई छोटे भाई आयि के पीछे लग जाते हैं लेकिन वह किसी को भी अपने पास फटकने नहीं देती है। कुछ दिनों तक तो वे आयि को बहुत ही कड़ाई के साथ रखते हैं लेकिन समय बीतने के साथ उसे थोड़ी छूट देते हैं। ऐसे में आयि एक दिन फिर जंगल में आलुक से मिलती है। उनके बीच में शारीरिक संबंध बनता है। वे वहाँ से भाग जाने की कोशिश करते हैं लेकिन ताकार के लोग उनका बुरी तरीके से पीछा करते हैं। इस क्रम में आलुक को एक बाण लग जाता है और वह नदी में गिर जाता है। आयि पकड़ ली जाती है। ताकार के लोग आलुक को मरा हुआ जानकर वापस चले आते हैं।

उधर आलुक नदी में बहते हुए एक अनजान किनारे पर लग जाता है। वहाँ एक आदमी उसकी रक्षा करता है और उसे अपने गाँव ले जाता है। वह मिनियोङ्ग[8] लोगों का गाँव था। आलुक वहाँ लंबे समय तक रहता है। उधर आयि अपने पेट में पल रहे अपने और आलुक के बच्चे की रक्षा के लिए अपने सर्वोत्तम साहस का परिचय देते हुए ताकार का घर छोड़कर अपने भाई मोकीर के घर रहने आ जाती है। मोकीर को भी तब तक आयि की बात समझ में आ गई थी और उन सबने यह फैसला किया था कि वे एक साथ मिलकर खूब मेहनत करके पैसा जुटाकर आयि को नेप्प-न्यीदा के बंधन से आजाद करा लेंगे।

इसी बीच आलुक लौट आता है। उसके आने को ताकार के परिवार वालों ने अपने लिए चुनौती समझा। आयि और आलुक एक साथ मेहनत करके पैसा जुटाने की कोशिश करते हैं और साथ ही विवाह में होने वाले इस लेन-देन के विरुद्ध लोगों को समझाते भी रहते हैं। उनकी बातों से लोग प्रभावित भी हो रहे होते हैं। लेकिन उधर ताकार के परिवार वाले कोई और ही योजना बना लेते हैं। एक दिन सांझ को जब आयि और आलुक कहीं से आ रहे थे, उसी दौरान ताकार के परिवार और कुल-जनों ने उन पर हमला कर दिया और आयि और आलुक की हत्या कर दी।

उपन्यास का नैसर्गिक अंत तो यहीं हो जाता है लेकिन उपन्यासकार ने लोगों में फैली चेतना को दिखाने के लिए आखिर में नौजवानों की एक रैली को दिखाया है। यह रैली आयि और आलुक की शहादत को अपने भविष्य से जोड़कर देखती है और एक तीखा प्रतिरोध दर्ज करती है। इस रैली में शामिल लोग भारतीय इतिहास और साहित्य तथा विश्व इतिहास और साहित्य से उदाहरण लेकर कहते हैं कि दुनिया भर में स्त्रियों के साथ बहुत अत्याचार हुआ है और अब यह बंद होना चाहिए।

इस उपन्यास के कथा-प्रवाह के बिल्कुल आरंभ में ही पता चल जाता है कि उपन्यास किस दिशा में जा रहा है या जाएगा। वह क्या कहना चाह रहा है, इस बात से पाठक बिल्कुल शुरू में ही परिचित हो जाता है। इसे उपन्यास की शैलीगत कमजोरी मान सकते हैं। इसका कारण यह है कि असल में इस उपन्यास का कथानक एक लंबी कहानी का कथानक है लेकिन लेखक ने इस कुप्रथा की वीभत्सता को दिखाने और इसके विरुद्ध हो रहे प्रतिरोध के तीखेपन को दिखाने के लिए इसके कथानक को विस्तार दिया है। अपने इस उद्देश्य में तो लेखक पूरी तरह सफल हुआ है। किन्तु इसके कारण कथा-प्रवाह और स्थितियों में कई बार दुहराव सा होता हुआ लगता है। इसके कारण वह अपनी स्वाभाविक रोचकता खोने लगता है।

इस उपन्यास में जो बात बहुत मजबूती के साथ दिखाई देती है, वह यह है कि इन जनजातीय समाजों में संबंध बनने और उनको जीवित रखकर आगे बढ़ाने को लेकर बहुत आग्रह रहता है। यही आग्रह 'मेरी आवाज सुनो' में यायि का जीवन बर्बाद कर देता है। यह आग्रह इन समाजों के लोक-साहित्य में भी दिखाई देता है।

इससे यह पता चलता है कि इसी आग्रह के कारण इन जनजातियों के समाज की आंतरिक संरचना इतनी बंधी हुई और मजबूत होती है।

एक और बात जो इस उपन्यास में बहुत प्रभावी तौर पर दिखती है, वह है संपन्नता। जनजातीय समाजों में संपन्नता का भिन्न अर्थ होता है। पूंजीवादी समाज में पूंजी पर एक वर्ग का अधिकार होता है और यह पूंजी लगातार और भी ज्यादा पूंजी के संग्रहण में लगी होती है। यह मुनाफा और लगातार गलाकाट मुनाफा पर केन्द्रित व्यवस्था होती है। जनजातीय समाजों में संपन्नता का पैमाना इस तरह का नहीं होता है। इन समाजों में कुछ संपत्ति तो सामुदायिक होती है। इसके अलावा व्यक्तिगत संपत्ति भी होती है लेकिन वह किसी वंश या रक्त संबंध के लोगों की होती है। यह संपत्ति जमीन, पशुओं, पारंपरिक आभूषणों आदि के रूप में होती है। जिस वंश के लोगों के पास उर्वर भूमि होती है, वहाँ फसलों की पैदावार अच्छी होती है। एक ऐसी भौतिक परिस्थिति में जहां खेती और शिकार ही जीविका और जीवन का मुख्य आधार हो, वहाँ उर्वर भूमि और शिकार से भरे जंगल या पहाड़ पर नियंत्रण ही ताकत का आधार होते हैं। जनजातीय समाजों में वंशों की श्रेष्ठता का निर्धारण केवल उनकी संपत्ति से नहीं होता है बल्कि वह उनकी वंश-परंपरा से होता है। लेकिन भौतिक जीवन में उन वंशों का सामाजिक महत्व कम हो जाता है जिनके पास खेती की अच्छी जमीन नहीं होती है या वे आर्थिक रूप से कमजोर होते हैं। 'मेरी आवाज सुनो' में आलुक आर्थिक रूप से कमजोर वंश परंपरा से ताल्लुक रखता है। वह अपने जीवन-यापन के लिए आलो शहर में मजदूरी करता है। वह शहर में रहने वाले अधिकारियों के लिए नदी से पानी ढोकर लाता है और उसके बदले में मिले पैसों से गुजारा करता है। एक तरह से वह मजदूर बन जाता है।

मजदूर की जो अवधारणा तथाकथित मुख्यधारा के समाजों में होती है वह जनजातीय समाजों में ना के बराबर होती है। जनजातीय समाजों में काम करने की सामूहिक परंपरा होती है। इसे समझने के लिए दो-तीन और बातें भी समझनी जरूरी हैं। ये समाज, भौगोलिकता और जनसंख्या से जुड़ी हुई बातें हैं। हम जनजातीय समाजों को समझने के लिए अक्सर कुछ विशिष्ट तरीके ईजाद करने की कोशिश करते हैं जबकि उनकी आवश्यकता नहीं होती है। कुछ बातें केवल व्यवहार और भौतिक परिस्थितियों से समझी जा सकती हैं। अरुणाचल प्रदेश का भौगोलिक क्षेत्रफल बहुत ज्यादा है जबकि उसकी आबादी महज दस-बारह लाख है। भारत में प्रति वर्ग किलोमीटर सबसे कम आबादी अरुणाचल प्रदेश की है। तानी लोगों में सबसे ज्यादा जमीन न्यीशी जनजाति के पास है तो सबसे कम जमीन आपातानी जनजाति के पास है। जमीन की अधिकता आबादी को दूर-दूर कर देती है। जनसंख्या की कमी वंश और गोत्र की पहचान को सहज और मजबूत बनाती है। यदि जनसंख्या ज्यादा हो जाएगी, जैसा कि मैदानों में होता है तो यह पहचान थोड़ी व्यापक हो जाती है और इसमें कई लोग शामिल हो जाते हैं लेकिन जनजातीय समाजों में इनकी पहचान भी आसान होती है और इस पहचान को कायम रखते हुए जीवन-यापन भी करना भी आसान होता है। अब समाज की बात, हम सामान्य तौर पर एक जनजाति को एक इकाई मानकर चलते हैं। यह बिल्कुल ही गलत समझ है। एक ही जनजाति में कई गोत्र या वंश परंपरा के लोग होते हैं। जिन वंशों का आपसी संबंध होता है, वे एक बड़े समूह के रूप में जनजाति के रूप में दिखते हैं। इसका एक उदाहरण देता हूँ। तानी एक बहुत व्यापक समूह का नाम है जिसमें पाँच जनजातियाँ आती हैं। अब इन जनजातियों में भी कई वंशों के लोग हैं, जैसे न्यीशी जनजाति में नाबाम, बालो, रे, ताबा, तादो, ताना आदि। लोग वंश के अंदर शादियाँ नहीं करते हैं। यह बहुत ही अनिवार्य नियम है। खैर, तो गाँव मूलतः एक ही गोत्र या वंश के लोगों की बसाहट होता है। ऐसे में यह मान्य नहीं है कि कोई एक परिवार या उसका व्यक्ति उसी गाँव के किसी दूसरे परिवार के यहाँ नौकर हो। नौकर का सीधा अर्थ समझा जाय। एक ऐसा व्यक्ति जिसे उसके श्रम के बदले में कुछ पारिश्रमिक दिया जाय। वह एक 'अन्य' होता है जो केवल अपनी आजीविका के लिए

अपने श्रम को बेचता है और उसका मूल्य किसी न किसी रूप में पाता है या पाने का आकांक्षी होता है। अब जबकि वहाँ एक ही गोत्र के लोग हैं तो उनमें कोई भी 'अन्य' नहीं होता है। इसीलिए कोई किसी के खेत में मजदूरी नहीं करता है बल्कि बारी-बारी से सभी गाँव वाले सबके खेतों पर काम कर देते हैं। किसका काम पहले होगा और किसका बाद में होगा, इसमें थोड़ा भेद हो सकता है। खेती और शिकार ही जीविका के मुख्य साधन हैं और दोनों ही सामूहिक रूप से किए जाते हैं। घर बनाना या कोई और काम जिसमें ज्यादा लोगों की आवश्यकता होती है, वह सामूहिक रूप से कर लिया जाता है। लेकिन ये सारी बातें एक ही वंश परंपरा या समान वंश परंपरा के लोगों पर लागू होती है। जिन लोगों को हराकर गुलाम बनाया गया है या फिर किसी और कारण से जिन्हें गुलाम बनाया गया है, उन पर यह सामूहिकता का भाव और व्यवहार काम नहीं करता है।

इस तरह के समाज में जब 'नई' व्यवस्था आती है तो वह अपने साथ कई तरह की चीजों को लेकर आती है। यह नई व्यवस्था एक तरफ सभी नागरिकों में समानता का वादा करती है तो दूसरी तरफ उसकी संरचना में ही भेदभाव व्याप्त होता है। अपने आंतरिक अंतर्विरोधों से भरी यह व्यवस्था जब किसी जनजातीय समाज में पहुँचती है तो यह अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करना चाहती है। उधर जनजातीय समाज के भी अपने अंतर्विरोध हैं। वहाँ जीवन कठिन है लेकिन सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था मजबूत है पर जटिल नहीं है। चूंकि नई व्यवस्था ज्यादा ताकतवर है और उसने अपनी वैधानिक मान्यता भी खुद से ही घोषित कर रखी है तो यह निश्चित है कि इसके कारण जनजातीय समाजों में संक्रमण का दौर शुरू होता है। आलुक और आयि इसी संक्रमण-काल के पात्र हैं। आलुक चूंकि जनजातीय समाज में आर्थिक रूप से कमजोर वंश से है इसीलिए वह नई व्यवस्था में मजदूर बन जाता है। सारे पारंपरिक समाजों में मजदूरी को एक हेय काम समझा जाता रहा है। इसीलिए आलुक द्वारा आलो शहर में मजदूरी करने की बात का ताकार और मोकीर दोनों ही मजाक बनाते हैं और उसकी अवहेलना करते हैं। ताकार कहता है कि, "जीविका निर्वाह के लिए वह शहर के साहबों के घर जाकर सीपू और सियोम नदी से पानी भर देने का काम करता है। शहर में पानी की सुविधा नहीं है न, इसीलिए सभी गरीब लोग मजदूर बनकर दूर के झरनों से पानी ला देने का काम करते हैं। वह उनमें से ही एक है।[9] पंचायत के समय आयि जब किसी भी कीमत पर ताकार के साथ जाने को तैयार नहीं होती है तो मोकीर उसे समझाते हुए कहता है, "तुम कैसी नासमझ हो मेरी बहन जो ताकार से शादी के लिए इन्कार करके उस आलुक को पसंद कर रही हो जो दुत्कारे हुए कुत्ते की तरह इधर-उधर भटककर मजदूरी करता है"[10]।

इस उपन्यास की भाषा पर हिन्दी फिल्मों और हिन्दी धारावाहिकों के संवादों का बहुत प्रभाव दिखता है। कहने का अर्थ यह है कि इस उपन्यास के संवाद बहुत बार कृत्रिम लगने लगते हैं। असल में अरुणाचल प्रदेश का जनजातीय समाज हिन्दी समाज से बिल्कुल भिन्न है। जीवन की विभिन्न स्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया भी अलग होती है। भाषा के प्रयोग भी और अभिव्यक्ति में भी भिन्नता होती है। ऐसे में जब कोई पात्र किसी हिन्दी पट्टी के पात्र या किसी हिन्दी फिल्म के पात्र की तरह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो पूरा दृश्य-बंध ही अस्वाभाविक लगने लगता है। 'मेरी आवाज सुनो' में इस तरह के संवाद बहुतायत हैं। आयि और आलुक के प्रेमपूर्ण संवादों में फारसी बिंबों और रूपकों का प्रभाव दिखाई देता है। प्रेम की अभिव्यक्ति के ये रूपक फारसी से हिन्दी में आए। हिन्दी फिल्मों में इनका धड़ल्ले से प्रयोग हुआ। लोग बातचीत में भी इनका खूब प्रयोग करते हैं। संभवत: यहीं से जुमसी सिराम ने इन्हें लिया होगा। प्रेम में पहाड़ों और नदियों को साक्ष्य की तरह मानना या आसमान और पृथ्वी को प्रेमी-प्रेमिका के रूप में देखना ऐसे ही रूपक हैं। बहुत लंबे समय के बाद आयि और आलुक के मिलने के दृश्य का वर्णन करते हुए लेखक ने उनके मनोभावों को कुछ यूं दर्ज किया है, "दो बिछड़े प्रेमी अब अचानक मिले थे जैसे रेगिस्तान में भटके दो राही अचानक मिल गए हों। जैसे वर्षों की प्यासी धरती, आसमान में उमड़े बादलों को देखकर मग्न हो उठी हो"[11]। अब यह मनोभाव थोड़ा

अस्वाभाविक हो जाता है। यह उस देश-काल से अलग हो जाता है जहाँ यह कहानी घटित हो रही है। आलुक, आयि से अपने फर्क को चिह्नित करता हुआ कहता है कि "मगर तुम तो आकाश के चंद्रमा की तरह हो और मैं धरती पर हूँ"[12]। यह अभिव्यक्ति बिल्कुल ही असहज कर देती है। कारण यह है कि तानी जनजातियों के लोक-धर्म या लोक-विश्वास का नाम है 'दोन्यि-पोलो'। 'दोन्यि' का अर्थ हुआ सूरज और 'पोलो' का अर्थ हुआ चंद्रमा। दोन्यि, आने है यानि कि माँ है और पोलो यानि कि चंद्रमा पिता है। ऐसे में यह बिल्कुल भी स्वाभाविक नहीं लगता कि आलुक, आयि को चंद्रमा कहे। यह उपमा असहज कर देती है। पात्रों का निर्माण उनके समाज में ही होता है। वहीं से पल्लवित होकर वे अपनी पाई हुई सीमा का अपने विवेक के बल पर अतिक्रमण करते हैं। लेकिन यहाँ इस तरह की बात भी नहीं दिखती है। चंद्रमा से स्त्री की सुंदरता की तुलना बहुत साफ तौर पर फारसी से आई हुई है जो हिन्दी फिल्मों से होते हुए यहाँ तक पहुंची है।

यहाँ एक और बात का जिक्र करना चाहता हूँ। गर्भवती आयि से उसके घर वाले पूछते हैं कि तुम्हारे पेट में यह किसका पाप पल रहा है। 'पाप' और 'पापबोध' की बात केवल एक सामान्य अपराध के संदर्भ में नहीं होती है बल्कि यह निर्मित की गई एक अवधारणा है। यह अनिवार्य रूप से सामाजिक नियमों, वर्चस्वकारी मान्यताओं और वर्गीय हितों से जुड़ी हुई अवधारणा है। कौन सा काम करना या कौन सी बात 'पाप' है, इसे हर समाज अपने हिसाब से तय करता है। बहुधा इसे पूरा समाज तय नहीं करता बल्कि उसके ताकतवर समूह तय करते हैं। कुंवारी लड़की का गर्भवती होना या एक व्यक्ति की पत्नी का किसी दूसरे व्यक्ति के साथ सहवास करके गर्भवती हो जाना एक स्थिति है। अब इसी स्थिति को एक अवधारणा और सामाजिक वर्चस्व के हिसाब से 'पाप' घोषित किया गया है। गर्भ में पल रहे शिशु को ही 'पाप' कहा जाता है क्योंकि वह सामाजिक नियमों के हिसाब से अस्तित्व में नहीं आया है। शिशु का होना एक प्राकृतिक स्थिति है लेकिन इस नैसर्गिकता को समाप्त करके उसे अच्छे और बुरे में बाँट दिया गया है। यह 'पाप' की अवधारणा इसलिए निर्मित की जाती है ताकि इसका बोध एक आत्मग्लानि की तरह मौजूद रहे। इसीलिए इसकी वैधानिकता के लिए धार्मिक ताने-बाने का भी निर्माण किया जाता है, मिथक गढ़े जाते हैं और कहानियाँ बनाई जाती हैं। अरुणाचल प्रदेश में भी इस तरह की स्थिति को अच्छा नहीं माना जाता है लेकिन यहाँ के जनजातीय समाज में 'पाप' की अवधारणा नहीं है। ऐसे में आयि के गर्भ में पल रहे शिशु के लिए आयि दोषी मानी जा सकती है लेकिन वह अपने पेट में किसी का पाप पाल रही है, यह बात उस समाज की स्वाभाविक वृत्ति नहीं है। अब ऐसे में अगर एक अरुणाचली रचनाकार ने इस बात को लिखा है तो यह पता चलता है कि हिन्दी समाज का भाव-जगत भी इन रचनाकारों को प्रभावित कर रहा है। हिन्दी केवल एक भाषा के रूप में ही नहीं बल्कि एक संस्कृति के रूप में भी इन रचनाकारों के साहित्य में झलक रही है। हिन्दी-जन या हिन्दी के समाज के सोचने का जो तरीका है, वह जाने-अनजाने इन रचनाकारों के मानस को प्रभावित कर रहा है।

इन कुछ कमजोरियों के बावजूद यह उपन्यास दो कारणों से बहुत महत्वपूर्ण है। पहला कारण तो यह है कि यह आत्मालोचन करता है। इस बात को समझने के लिए हमें फिर से जनजातीय समाजों की सामाजिक संरचना पर एक दृष्टि डालनी होगी। जनजातीय समाजों की सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था भले ही बहुत ज्यादा जटिल न हो किन्तु वह कठोर होती है। गैर जनजातीय समाजों की अपनी जटिल मान्यताएँ और परम्पराएँ हैं। जब किसी गैर जनजातीय व्यक्ति को उसकी अपनी मान्यताओं के संदर्भ में जनजातीय समाजों में कोई प्रगतिशील बात दिखाई देती है तो उसे लगता है कि जनजातीय समाजों की मान्यताओं में सब कुछ प्रगतिशील, आधुनिक और तार्किक है। यह इतनी सरलीकृत समझ है कि इसके माध्यम से किसी मनुष्य का भी सही विश्लेषण नहीं किया जा सकता, समाज की बात तो बहुत दूर है। जनजातीय समाज अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं और परम्पराओं के पालन में अपेक्षाकृत ज्यादा कठोर होते हैं। आदिवासी मामलों के विशिष्ट

जानकार और हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक प्रो. वीर भारत तलवार ने मुंडा समाज के लोक-साहित्य में प्रेम की एक मूल्य के रूप में मौजूदगी को चिह्नित किया है लेकिन साथ ही यह भी चिह्नित किया है कि यह एक ऐसा मूल्य नहीं है जिसके लिए सब कुछ दांव पर लगाया जा सके[13]। इसके कारणों की पड़ताल करते हुए वे लिखते हैं कि, "इसका पहला कारण यह है कि मुंडाओं का सामाजिक संगठन बहुत शक्तिशाली रहा है और उसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता नहीं के बराबर रही है..... समाज की सामूहिकता में ही व्यक्ति का निजत्व विलीन होता रहा है। दूसरा कारण यह है कि गण व्यवस्था अपने आप में एक पूरी दुनिया होती थी जो चारों ओर से बंद होती थी।.... व्यक्ति, समाज को ठुकराकर समाज के बाहर जाता कहाँ ? इसलिए गण-समाज का सदस्य अपनी निजी इच्छा के लिए अपने समाज को चुनौती देने की बात सोच भी नहीं सकता था।"[14] इसका अर्थ यह है कि समाज ने जितना अवकाश दिया है, उसी अवकाश में ही व्यक्ति की वैयक्तिकता है। ऐसे में सामाजिक नियमों के विरुद्ध जाना एक व्यक्ति के लिए बहुत आसान नहीं है। जनजातीय समाजों की इस सामाजिक संरचना के लिहाज से देखें तो जुमसी सिराम का यह उपन्यास मील का पत्थर है। इसके पात्र न सिर्फ अपने समाज की एक गलत और अमानवीय परंपरा को चिह्नित करते हैं बल्कि बहुत साहस और तर्कपूर्ण तरीके से उसका प्रतिकार भी करते हैं।

दूसरी बात जो इस उपन्यास को महत्वपूर्ण बनाती है वह है आधुनिक विचारों के साथ समाज को बदलने की कोशिश। लेखक केवल समस्या को बताकर और उसकी आलोचना करके नहीं रह जाता है बल्कि वह अपने पात्रों के माध्यम से निदान भी सुझाता है। इस समस्या को वह केवल एक समाज या संस्कृति की समस्या के रूप में नहीं देखता है बल्कि सभी धर्मों और समाजों की परम्पराओं और मिथकों में जाकर इस समस्या की जड़ को खोजने की कोशिश करता है। वह उन सभी नियमों और धर्मादेशों को कटघरे में खड़ा करता है जो स्त्री की आजादी का हनन करते हैं। ये दोनों गुण इस उपन्यास को न सिर्फ अरुणाचली हिन्दी साहित्य बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण कृति बना देते हैं।

संदर्भ :

1. अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली ने वर्ष 2021 में इस उपन्यास का पुनर्प्रकाशन किया है। प्रोफेसर वीर भारत तलवार ने इस उपन्यास की भूमिका लिखी है।
2. यह एक लघु उपन्यासिका है। इसका प्रकाशन आलो के नाना प्रकाशन ने किया था। वर्ष 2001 में यह लघु उपन्यासिका प्रकाशित हुई थी।
3. यह उपन्यास पहली बार 2015 में प्रकाशित हुआ था। 2016 में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन श्री केंबोम बागरा ने व्यक्तिगत पहल पर कराया था।
4. विशेषत: वेरियर एल्विन और क्रिस्टोफ वॉन फ्यूरर हेमेन्द्रोफ ने अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों से संबन्धित अपनी पुस्तकों में इस बारे में लिखा है।
5. इस बारे में जुमसी सिराम उपन्यास में प्रकाशित लेखकीय वक्तव्य में लिखते हैं, "'नेप्प न्यीदा' का मतलब है पेट विवाह जिसका अर्थ यह है कि जब बच्चा माँ के पेट में हो, तभी उसकी शादी किसी के साथ तय कर दी जाय"।
6. अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों में महिलाओं के हिस्से में ज्यादा श्रमपूर्ण कार्य होते हैं। सच यह है कि दुनिया के हर समाज में स्त्री के हिस्से में ही सबसे ज्यादा श्रम आता है। अब, जब वे श्रमपूर्ण कार्यों की बड़ी हिस्सेदार हैं तो निश्चित ही उनके जाने या आने से परिवार को फर्क पड़ता है। इसके साथ ही संतानोत्पत्ति और वंश वृद्धि का परिपेक्ष्य भी महत्वपूर्ण है।
7. मेरी आवाज सुनो, जुमसी सिराम, अनुज्ञा प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 14.

8. आदी जनजातीय समूह का एक प्रसिद्ध वंश। शिक्षा के प्रसार और खेती-बारी के उन्नत तरीकों के कारण यह वंश काफी सम्मानित और सम्पन्न है।
9. मेरी आवाज सुनो, जुमसी सिराम, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, पृ. 12.
10. मेरी आवाज सुनो, जुमसी सिराम, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, पृ. 24.
11. मेरी आवाज सुनो जुमसी सिराम, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, पृ. 80.
12. मेरी आवाज सुनो, जुमसी सिराम, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, पृ. 20.
13. झारखंड के आदिवासियों के बीच : एक एक्टिविस्ट के नोट्स, वीर भारत तलवार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृ. 199
14. झारखंड के आदिवासियों के बीच: एक एक्टिविस्ट के नोट्स, वीर भारत तलवार, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृ. 200.

❖❖❖

कवि–लेखक–नाट्यकर्मी–अभिनेता लतीफ हुसैन उर्फ ललित कुमार सिंह 'नटवर'

❍ वीरेन नंदा✡

आज के मुजफ्फरपुर प्रसंग में जिस व्यक्ति पर बात करने आया हूं उनके जन्म के समय अर्थात सौ–सवा सौ साल पहले मुजफ्फरपुर का चेहरा कैसा था, उसका थोड़ा दर्शन करता और कराता चलूं। फिर लौटूंगा उस विनोदप्रिय, कृष्णभक्त, संगठनकर्ता, समाज सेवक, बाल चर (स्काउट), नवयुवक समिति, पद्य–पाठ परिषद् और बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के निर्माणकर्ता, रात्रि पाठशाला के जनक, स्वतंत्रता सेनानी, कवि–लेखक–गद्यकार–एकांकीकार, फिल्म अभिनेता, संवाद लेखक, नाट्यकर्मी– लतीफ हुसैन उर्फ ललित कुमार सिंह 'नटवर' के योगदान पर, जिन्हें कभी 'नटराज' तो कभी 'नाट्येंद्र' कहा गया।

आज की तरह पहले अपना यह शहर मुजफ्फरपुर, भीड़–भाड़ में झोंकाया हुआ नहीं था और न ही बड़ी–बड़ी अट्टालिकाएँ या कंक्रीट का जंगल हुआ करता था कि गरीबों की धूप और हवा छेक ले। था तो आम, लीची, अमरूद, कटहल, पपीता, सीसम, इमली, अमलतास आदि के फूल–फलों से आच्छादित घने पेड़। खुले–खुले बड़े–बड़े मैदान और खुली हवा के मदमस्त झोंके। खर, फूस और खपरैल मकान, जिससे छन कर आती थी सूरज की किरण और सांसों में भरती शुद्ध ताजी हवा। संपन्न लोगों या जमींदारों के मकान ही ईंट के बने दिखते मगर छत पर खपड़ा ही छवाया होता। शायद ही कोई दुमंजिल मकान दिखता। अंग्रेजों के ऊँचे मकान भी ईंट के बने होते किन्तु छत खपड़े के ही नजर आते। ये अलग बात है कि अंग्रेजों के मकान के खपड़े काफी चौड़े और खूनी रंग से चमकते होते। शोषण से अर्जित धन–संपदा से बाह्य सुन्दरता तो चमकती ही है, तो क्यों न उनके मकान चकमक चमकते ! खैर....।

तो कह रहा था कि तब शहर में भीड़ का रेलमपेल नहीं था। न साइकिल, न स्कूटर–मोटरसाइकिल–फटफटिया का गनगनाता शोर था, न ही मोटर कार की पी पों। लोगों के पाँव ही सवारी थी। गाँव देहात से लोग कचहरी या टीसन के लिए या व्यापारियों को अनाज आदि बेचने आते तो कटही बैलगाड़ी शहर में नमूदार होता। अंग्रेजी राज के कारण घोड़ा, हाथी, एक्का, टमटम, बग्घी या फिटीन अंग्रेजों या धनिक अथवा जमींदारों की सवारी थी। निजी कारें इने गिने लोगों के ही पास थी। तब इसे मोटर लारियाँ कहते थे। ये लारियाँ भी इक्का–दुक्का शहर में नजर आती। हाँ, स्टेशन पर जरूर हुड वाली फोर्ड टी मॉडल टैक्सी के साथ एक्का या टमटम दिखता था।

कभी–कभार पालकी भी दिख जाती, जिसमें 'मुँह पर धानी रूमालिया' डाले दूल्हा बैठा जा रहा होता या

✡ *कवि, लेखक एवं शोधकर्ता, मुजफ्फरपुर, बिहार।*

किसी पालकी में 'सजन भवन पहुँचा दो हमको, मन का हाल विहाल रे' की कसक लिए घूंघट में घुटती पालकी गुजरती। बदन पर कपड़े के नाम पर ठेहुना भर धोती और लट्ठ लिए चार कहार पालकी ढोते बेदम होते, लट्ठ टिकाते सजन भवन पहुँचाते और सजनी के द्वार टिकाते।

रमना स्थित संगीत के पारखी और सबसे बड़े दानवीर जमींदार उमाशंकर प्रसाद मेहरोत्रा उर्फ बच्चाबाबू (इन्हीं का देवी मंदिर भी है) के अहाते के कोने पर 'फेयर वेदरस या ब्रदर्स' नामक एक अंग्रेजी कंपनी की बड़ी सी दुकान या शोरूम कहिए, हुआ करती थी; जिसमें कार, ट्रैक्टर और हल्के किस्म का हवाई जहाज और उसका पार्ट्स बिका करता था। इसे खरीदने वाले ढहते देशी रियासत के राजा-महराजा या बड़े निलहे फार्म के अंग्रेज मालिक हुआ करते थे। इन लोगों के दो-तीन हैंगर सिकंदरपुर के उत्तरी छोर पर हुआ करता था। तब का सिकंदरपुर आज की तरह नहीं था, उसकी रौनक ही अलग थी। यहाँ पर शहर का छोटा हवाई पट्टी हुआ करता था, जहाँ छोटे-छोटे हवाई जहाज उड़ते रहते थे। किशोर वय के अंग्रेज लड़के भी यदा-कदा इन विमानों को उड़ा कलाबाजियाँ करते दिख जाते थे। सिकंदरपुर के उत्तर-पूर्वी छोड़ पर एक टेनिस क्लब हुआ करता था, जिसमें अंग्रेज टेनिस और गोल्फ खेला करते।

चंपारण और नेपाल के तराई क्षेत्र में भी अंग्रेजों के बड़े-बड़े फार्म थे, जिनके पास छोटे हवाई जहाज को उतारने के लिए रनवे हुआ करता था। सप्ताहांत में ये अंग्रेज छुट्टियाँ बिताने अपने वायुयानों से मुजफ्फरपुर आते और गणेश टॉकीज (बाद में चित्रा टॉकीज नाम पड़ा) में अपने परिवार संग अंग्रेजी फिल्म देखा करते थे और यूरोपियन क्लब (वर्तमान मुजफ्फरपुर क्लब) में शराब और शबाब संग ऐश करते। इस क्लब में अंग्रेज गोरों के अलावा किसी की इंट्री नहीं थी। केवल वे भारतीय उसके अन्दर नजर आते जो उन अंग्रेजों की खिदमत में जबरन लगाए गए होते। पूर्व डीजीपी आनन्द मोहन प्रसाद वर्मा बताते हैं कि अपने छात्र जीवन में उसी टॉकीज में 'गौन विद द विन्ड' नामक अंग्रेजी फिल्म देखी थी, जो अमेरिकी युद्ध काल की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों पर केन्द्रित थी।

बर्मा-जापान युद्ध के समय ब्रिटिश, अमेरिकी और भारतीय फौज जब वहाँ तैनात हुई तो उस समय फौज के लिए घी पैक कर भेजने के लिए इसी सिकंदरपुर में घी सेंटर खोला गया था जो काफी समय तक जीवित रहा।

अंग्रेज लोगों को सामान खरीदने सरैयागंज आना पड़ता था क्योंकि यही एकमात्र बाजार था तब। सरैयागंज टॉवर से पूरब घीना चौधरी-गोपाल चौधरी की कई बड़ी-बड़ी दुकानें हुआ करती थीं, जिसमें परचून, कागज, कलम के साथ मोटर छाप सिगरेट भी बिका करता था और इस व्यवसाय पर उन्हीं का एक क्षत्र राज था। टॉवर से पश्चिम सापुरजी की एक दुकान थी, जिसमें विदेशियों के खाने-पीने, शराब और अन्य तरह का सामान मिला करता था। मक्खन, हॉर्लिक्स, दलिया, ब्रिटेनिया बिस्कुट, खिलौने आदि सामान उस वक्त इंग्लैंड से ही आया करता था और यह केवल सापुर ही मंगवाता था इसलिए उसी की दुकान पर अंग्रेज पहुँचते। इस दुकान की उम्र काफी लंबी रही। क्योंकि माँ से भी इस सापुरजी की दुकान का जिक्र बचपन में हमेशा सुनता रहा कि आज सापुरजी की दुकान में ये सामान मिला।

उस समय बिस्कुट, हॉर्लिक्स खाने का रिवाज यहाँ के लोगों में नहीं था। इसी सापुर की दुकान पर उस समय के नामी जमींदार, शिकारी और शिकारी लेखक रणवीर सिंह सोंधी अपने पालतू बाघ को खुली जीप में साथ लेकर पहुँचते तो शराब वाली दुकान पर जमी जमघट तितर बितर हो जाती। कभी इन्हीं सोंधी साहब का बावन बीघा हुआ करता था। जज किंग्सफोर्ड को मारने खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी जिस धर्मशाला में रुके थे, वो भी इन्हीं का था। एक अच्छे पायलट होने के कारण रणवीर सिंह सोंधी सिकंदरपुर हवाई अड्डे के इंस्ट्रक्टर हुआ करते थे। 'ज्योत्सना महल' सिनेमा हॉल (बाद में रूपाश्री तथा प्रभात टॉकीज) जब यहाँ खुला तो उसमें

लगने वाली पहली फिल्म 'करवट' का पम्पलेट इन्होंने ही शहर-गाँव में हवाई जहाज से गिराया था।

साइकिल भी उस वक्त बाहर से ही आता। जापानी साइकिल, जो टिकाऊ नहीं होती थी, बीस रुपए में तो फिलिप्स साइकिल चालीस रुपए में मिलती थी। राजकपूर की फिल्म का गाना- 'मेरा जूता है जापानी, पतलून इंगलिस्तानी, सर पे रूसी लाल टोपी' इस बात का प्रमाण है कि भारत में ये चीजें बाहर से आती थी।

स्टेशन को लोग 'टीसन' कहते। इस स्टेशन पर बी.एन.डब्ल्यू.आर. की रेल गाड़ी चला करती थी, जिसका पूरा नाम बंगाल नॉर्थ-ईस्ट रेल था। पटना जाने के लिए तुरकी, कुढ़नी, गोरौल, भगवानपुर, सराय, हाजीपुर, सोनपुर होते हुए रेल से पहलेजा घाट स्टेशन पर उतरना पड़ता था और वहाँ से पहले नाव और बाद में स्टीमर द्वारा गंगा पार कर लोग पटना पहुँचते थे।

सरैयागंज नाम पड़ने के पीछे की कहानी यह है कि तिरहुत जिला से अलग कर 1875 में मुजफ्फरपुर बसाने वाले मुजफ्फर खाँ की दो बेटियाँ थी। दोनों बला की खूबसूरत, सुरीली और तीक्ष्ण बुद्धि की, इसलिए दोनों का नाम उसने सुरैया रखा। बड़ी का 'सुरैया' नाम दिया तो दूसरी को 'छोटी सुरैया' पुकारा। इस तरह यह इलाका उसी दोनों के नाम पर 'सरैयागंज' और 'छोटी सरैयागंज' कहलाया, जो अबतक कायम है। इस कथा या किवदंती में कितनी सच्चाई है, मालूम नहीं।

रामजीवन शर्मा 'जीवन' ने सरैयागंज के बारे में कभी कहा - "आप सैर कीजिए बनारस के चौक की/हमारा सर्वस्व तो सरैयागंज नाका है।" उनके सरैयागंज को अपना सर्वस्व मानने के पीछे कारण यह रहा कि सरैयागंज ही मुजफ्फरपुर का कभी इकलौता हाट, मण्डी अथवा मुख्य बाजार हुआ करता था। इस बाजार में खड़े हो आप शादी के सारे सामान खरीद सकते थे- लोहे-पीतल के बर्तन, सोने-चाँदी के जेवर, कपड़े, जूते-चप्पल, स्नो-पाउडर, टिकुली-बिंदी, चूड़ी, अनाज-मसाले आदि सबकुछ ! यानी, सरैयागंज को तब का इकलौता बिग बाजार कह सकते हैं।

सरैयागंज से उत्तर राय बहादुर टुनकी साह का एक विशाल धर्मशाला था, जिसका उद्घाटन् उस समय के अंग्रेज गवर्नर ने किया था। इसके उद्घाटन् के लिए मुख्य द्वार पर सोने का एक वजनी ताला लगाया गया था, जिसे गवर्नर ने खोलकर उद्घाटन् किया और वह ताला उन्होंने गवर्नर को 'वार फंड' में दे दिया था। टुनकी साह को राय बहादुर की उपाधि इसी तरह की चापलूसी के कारण अंग्रेजों से मिली होगी। टुनकी साह लोहे के सबसे बड़े और एकमात्र व्यापारी हुआ करते थे लेकिन जीवन शैली अत्यन्त साधारण और सरल। कहते हैं कि परोपकारी भी थे। 'राय बहादुर टुनकी साह होम्योपैथिक कॉलेज' उन्हीं का बनवाया हुआ है। आज टुनकी साह धर्मशाला परिसर में उनके वंशज कॉन्वेंट स्कूल चला रहे हैं।

बंगाली समाज में पढ़े-लिखे लोगों की जमात सबसे ज्यादा होने के कारण उस समाज के वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर आदि देश के प्रायः हर शहरों में अपनी धमक बना रखी थी। मुजफ्फरपुर भी इससे अछूता न था। तब इनकी संख्या काफी हुआ करती थी। इन्हीं लोगों का बनवाया मुखर्जी सेमिनरी स्कूल है, जिसमें गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबल पुरस्कार मिलने से पहले 1901 में सम्मानित किया गया था।

सरैयागंज से दक्षिण का एक इलाका है कल्याणी। एक धनाढ्य बंगाली बोस या उनके मित्र परिवार की लड़की का नाम था - कल्याणी। उसकी अकाल मृत्यु के कारण उन्होंने अपने परिसर का नाम कल्याणी रख दिया। उनका परिसर कई एकड़ में फैला था, इस कारण उस स्थल का नाम कल्याणी पड़ गया और उसके पास के पूर्वी इलाके को सुविधा के लिए लोग छोटी कल्याणी कहने लगे तो वह इलाका छोटी कल्याणी कहलाया।

इसी कल्याणी पर एक मशहूर दुकान हुआ करती थी कभी, नाम था 'कल्याणी केबिन'। सुन कर आश्चर्य

होगा कि इस दुकान का उद्घाटन आजाद हिन्द फौज के नायक नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने किया था।

अयोध्या प्रसाद खत्री के पिता जगजीवन लाल खत्री अंग्रेजों के अत्याचार से क्षुब्ध हो जब यूपी के बलिया जिले के अपने सिकंदरपुर गाँव से सपरिवार पलायन कर यहाँ आ बसे तो इसी कल्याणी पर जीविका के लिए किताब की दुकान खोली थी।

शहर के चक्कर मैदान में 'बिहार लाइट हॉर्स' की छावनी हुआ करती थी और यह मुजफ्फरपुर सदर में पड़ता था। इसमें अंग्रेज घुड़सवार अक्सर पोलो खेलते दिख जाते। इसी कारण इसका नाम 'चक्कर' पड़ा। पोलो खेलने वाले मैदान को तकनीकी तौर पर 'फील्ड' कहा जाता है और इसका फील्ड काफी बड़ा और गोलाकार था तथा पोलो खेलने वाले खेलते समय चक्कर लगाते हैं। शायद इसीलिए इसका नाम 'चक्कर मैदान' पड़ा। इस मैदान में जयपुर महाराजा की पोलो टीम भी साल में एक बार यहाँ की अंग्रेज टीम के साथ पोलो खेलने आती थी, जो अपने समय की नामी टीम थी।

इस शहर ने कभी फुटबॉल जैसे खेल को रईसी अंदाज में भी खेलते देखा है। यहाँ एक फैंसी फुटबॉल मैच हुआ था, जिसमें एक टीम के गोलकीपर गणेश टॉकीज के मालिक और सरैयागंज के जमींदार बाबू बद्री नारायण साह थे तो दूसरी ओर जमींदार बाबू उमाशंकर प्रसाद मेहरोत्रा उर्फ बच्चा बाबू। इन दोनों जमींदार को धूप से बचाने उनके सेवक बड़ा-बड़ा छत्र लिए उनके पीछे खड़े थे। खेल शुरू होने से पहले चांदी की थाली पर एक फुटबॉल रखकर सेवक आया। बाबू बद्री नारायण साह से कहा गया कि 'बॉल मारा जाए और खेल शुरू किया जाए'। तब यह खेल आरंभ हुआ। फुटबॉल खेल को भी क्रिकेट की तरह रईसों का खेल बनाने की यह चेष्टा थी।

उस वक्त चांदी के सिक्के का चलन था, जिस पर महारानी विक्टोरिया, सप्तम एडवर्ड या जॉर्ज पंचम की आकृति उभरी होती थी, जिसकी क्रय शक्ति आज के रुपए से कई सौ गुणा ज्यादा थी। चौंसठ पैसे का एक रुपया होता था। एक पइसा, दु पइसा, एक आना को एकन्नी, दो आना को दुअन्नी और चार आना को चवन्नी कहते थे। रुपया का सिक्का चांदी का तो था ही। उस वक्त ब्रिटिश पाउण्ड भी यहाँ के चलन में था। मेरे पास पिता के संदूक में मिला एक पाउण्ड का हरा-हरा जो नोट है, उसमें महारानी एलिजाबेथ की तस्वीर छपी है। बैंक ऑफ इंग्लैंड से जारी इस नोट नंबर **EU 24 479275** पर 'वन पाउण्ड' दर्ज है।

तब के समय तौल (माप) का बटखरा मन, पसेरी, सेर, आधा सेर, पाव, छटाक का होता था। कहने को एक रुपए के सिक्के में ढाई मन चावल-गेहूँ मिला करता था किन्तु निलहे अंग्रेज के कारण जनता और किसान दाने-दाने को मोहताज थे। सोना-चांदी ग्राम में नहीं 'भरी' में बिकता था। कपड़ा आदि मापने के लिए मीटर नहीं, गज होता।

मुजफ्फरपुर में कई जमींदारों की कोठियाँ और ऐशगाह हुआ करता था। इन ऐशगाहों में तवायफों को नचवाना शान और वैभव की निशानी मानी जाती थी। इन तवायफों का बसेरा मोतीझील बसाने वाली मोतीबाई के अधीन था। मोतीझील उजाड़ और वीरान इलाका था जिसके कुछ हिस्से को इन्हीं घुंघुरुओं की रुनझुन ने आबाद कर रखा था।

यूरोपियन क्लब में आने-जाने वाले कुछ मनचले अंग्रेज की बग्घियाँ भी उनके दरवाजे यदा-कदा रुकतीं। एक अंग्रेज अफसर इसे शहर के बीचोबीच बसता देख इसे उजाड़ कर शहर से दूर चतर्भुज स्थान में शिफ्ट करवा दिया। अपने समय के मशहूर जमींदार केदारनाथ महथा के ऐशगाह में आज सेंटजेवियर स्कूल चल रहा। इस ऐशगाह में अपने दादा के छोटे भाई स्व. नरसिंह नारायण नंदा के साथ बचपन में कई बार गया, जहाँ भर-भर प्लेट ड्राई फ्रूट और मिठाइयाँ मुझे मिला करती थीं। केदार नाथ महथा के इस परिसर में उनकी जमींदारी में

होने वाले केस-मुकदमें की सुनवाई भी होती थी। क्योंकि उस परिसर में मुझे जेल की तरह की कोठरी और कटघरा भी देखने को मिला था, जो इस बात की गवाही देता है कि वे सुनवाई के साथ सजा दे उसी कोठरी में बंद करवाते रहे होंगे।

चतर्भुज स्थान दरअसल चतर्भुज भगवान का मंदिर है। इस मंदिर के यहाँ होने की कथा बताते ब्रह्मानन्द ठाकुर कहते हैं कि एक संत तुर्की के चतर्भुज भगवान को अपने साथ ले जाकर कहीं और स्थापित करना चाहते थे तो वहाँ के लोगों ने आपत्ति नहीं की और महात्मा संत को कहा कि बाबा आप ले तो जा सकते हैं, लेकिन जहाँ स्थापित करना चाहते हैं वहाँ तक पहुँचने के बीच इसे भूमि पर नहीं उतारना होगा। संत चतर्भुज देवता की मूर्ति अपनी छाती से लगा तुर्की से चले, किन्तु रावण जैसे महादेव को लेकर चले और देवघर बस गया। उसी तरह चतर्भुज देवता भी मुजफ्फरपुर के एक पेड़ के नीचे आ बसे। धीरे-धीरे इसकी महत्ता बढ़ी। लोगों की मनोकामना पूरी होने लगी तो दानवीरों ने भवन भी बनवा दिया। किन्तु इस इलाके में तवायफों के आ बसने के कारण भले घर की महिलाओं ने इस मंदिर के परिसर में आना-जाना बंद कर दिया और मनचले पुरुष 'मैं तुझ से मिलने आई, मंदिर जाने के बहाने' की तरह इस ओर रुख करते रहें और मंडी की रौनक बढ़ती रही। आज चतर्भुज स्थान का मतलब मंदिर नहीं, रण्डीखाना हो चला। इसी चतर्भुज मंदिर से सटे दक्षिण आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री का निवास रहा, जिसमें अब उनकी स्मृतियाँ शेष हैं। शास्त्री जी कभी रौ में होते तो अक्सर चुटकी ले कहते- इस मंडी में जब कोई कवि-लेखक पकड़ा जाता तो मेरा नाम बेचकर कि 'शास्त्रीजी के पास से आ रहा' छूट जाता।

"हर मजहब हर मिल्लत के कुछ दीवाने/छोटा सा हिंदुस्तान, मुजफ्फरपुर है।"- कहने वाले कवि डॉ. श्यामनंदन किशोर की ये पंक्तियाँ आज के दौर में अपने शहर मुजफ्फरपुर की, तब की स्थिति को बयाँ करने के लिए काफी है। उत्तर बिहार की इस सांस्कृतिक नगरी में आपसी भाईचारा और मिल्लत की वजह से यहाँ किसी दंगे का इतिहास नहीं मिलता है। हाँ, चौरासी के दंगे का कलंक जरूर अपने माथे पर लिए सिसक रहा है। किन्तु उसके पूर्व या पश्चात फिर कभी कोई दंगा नहीं हुआ। मिल्लत, भाईचारा, प्रेम और आतिथ्य यहाँ की घुट्टी में है। उसी प्रेम और भाईचारे के दीवाने 'नटवर' जी पर बात कर रहा, जिन्होंने अपने शहर में तो दंगा नहीं देखा था किन्तु देश की घटना पर उनकी नजर पैनी रही, तभी न लिखा -

"मुहम्मद' के कल्मे में 'मोहन' की मुरली,
मधुर एक सुर में बजानी पड़ेगी।
अरब के मुसाफिर अब हैं हिन्द वासी
न गठरी यहां से उठानी पड़ेगी।"

प्रेम का मधुर सुर बजाने वाले ललित कुमार सिंह नटवर उर्फ लतीफ हुसैन बहुमुखी प्रतिभा के धनी होने के बावजूद उनकी जान नाटक और अभिनय में बसती थी। इसी कारण किसी ने उन्हें 'नाट्येंद्र' कहा तो कोई 'नटवर'। लतीफ हुसैन, ललित कुमार सिंह कैसे बने और फिर नटवर क्यों कहलाए, उस पर बात करने से पहले बताता चलूं कि यदि नटवरजी नहीं होते तो अयोध्या प्रसाद खत्री के खड़ी बोली हिन्दी काव्य-भाषा के आविस्मरणीय आंदोलन का कोई साक्ष्य आज हमारे सामने नहीं होता और वे अभी भी हिन्दी साहित्य के इतिहास की नींव में ईंट की तरह खोये होते।

तो चलिए चलते हैं 'नौरस नटवर' की जीवन-झांकी देखने -

दीना ठगवा से ठागा सिंह, ठागा सिंह से लतीफ हुसैन फिर हुए ललित कुमार सिंह 'नटवर'

बचपन से यह नाम पिता (स्व. श्रीनारायण नंदा उर्फ शिल्लू बाबू) और बुआ (स्व. भवानी देवी मेहरोत्रा),

जो स्वतंत्रता सेनानी रहीं, से सुनता आया था। पिता बताते रहे कि नटवर जी मेरे साथ ही कलकत्ता गए थे, जहाँ उन्होंने अपने भाई रायमोहन चोपड़ा से उन्हें मिलवाया था, जो फिल्मों में बतौर अभिनेता काम करते थे। उस समय चार्ली चैप्लिन कलकत्ता आए हुए थे तो रायमोहन के साथ हमलोग भी चौप्लिन से मिले थे।

बुआ बताती रहीं कि ललित कुमार सिंह 'नटवर' उर्फ लतीफ हुसैन हमारे बाबूजी स्व. पुरुषोत्तम नारायण नंदा के 'रत्नाकर प्रेस' में मुलाजिम थे। वहाँ से निकलने वाली 'सतयुग' पत्रिका का संपादन और प्रबंधन का काम देखते थे। शिवपूजन सहाय ने भी लिखा कि "नटवरजी 1916-17 में मुजफ्फरपुर के रत्नाकर प्रेस (जहाँ से 'सत्ययुग' नामक सचित्र मासिक पत्र और स्वामी सत्यदेवजी की 'सत्य ग्रंथमाला' निकलती थीं) के असिस्टेंट मैनेजर रहे।"

5 जून 1898 को नटवर जी का 'जन्म सूतापट्टी (सोडा गोदाम) की एक गली में कदंब के हरे भरे-पेड़ के नीचे एक खपड़पोश झोंपड़ी में हुआ था।' यह स्थल अब कदम कुंज कहलाता है। इनकी शिक्षा आर्थिक कारणों से मिडल स्कूल तक ही हुई। किन्तु अपनी लगन और मेहनत के बल पर हिन्दी के साथ-साथ उन्होंने उर्दू, अंग्रेजी, संस्कृत, बांग्ला, गुजराती आदि भाषाओं पर भी अपनी पकड़ बनाई।

अपनी नीली नशीली आंखों और तोतली बातों से किसी को भी फुसला लेने का हुनर बचपन से होने के कारण प्यार से लोग उन्हें 'ठगवा' कहते। बचपन का नाम 'दीना' के साथ 'ठगवा' जुड़ 'दीना ठगवा' हो गए।

आरम्भिक शिक्षा के लिए जब स्कूल में नामांकन के लिए गए तो शिक्षक के पूछने पर अपना नाम ठागा सिंह बताया। 'हिन्दी-साहित्य और बिहार' नामक पुस्तक के अनुसार- "आपका वास्तविक नाम 'ठागा सिंह' था। किन्तु, जब आप प्राथमिक विद्यालय में आये तब वहाँ के शिक्षक ने आपका नाम 'लतीफ हुसैन' रख दिया। 18 सितम्बर, सन् 1927 को आप पुनः हिन्दू-धर्म-रीति से शुद्ध होकर हिन्दू धर्मानुयायी हुए। शुद्धीकरण के बाद आपका नाम पड़ा- ललित कुमार सिंह। शिवपूजन सहाय के अनुसार, "आपका हिन्दू नाम पड़ा है- ठाकुर ललित कुमार सिंह 'नटवर'।" जिस स्कूल में वे पढ़े, वह आज भी बैंक रोड में जीवित है।

कुछ का मत है कि नटवरजी के नामांकन के समय उनकी माँ पान कुंअरि साथ रही होंगी। इसीलिए उस मुस्लिम शिक्षक ने उनका नाम लतीफ हुसैन रजिस्टर में दर्ज कर दिया होगा, जिससे यह नाम पड़ा। क्योंकि "सन् 1919 ई. के सितंबर माह में उनका देहांत हुआ, और वे मुसलमानी रिवाज के अनुसार दफनाई गई" थीं। (शिवपूजन-रचनावली)

नटवरजी के धर्मान्तरण की पुष्टि राजेन्द्र प्रसाद सिंह के 'वे अविस्मरणीय साहित्यकार : पूर्वावलोकन' शीर्षक आलेख से भी मिलता है। वे कहते हैं- "बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब आर्यसमाज का आंदोलन सुनियोजित वेग से जारी था; यहाँ से लतीफ हुसैन नाम से ध्यान आकर्षित करते हिन्दी लेखक पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे थे.... लतीफ हुसैन की कविताएँ और लेखालेख उपनाम 'नटवर' से जुड़कर छपने लगा।..... लतीफ हुसैन 'नटवर' ही आर्यसमाज के तत्वावधान में अपनी पूरी पहचान और नाम के साथ धर्मान्तरण कर कविश्रेष्ठ एवं नाट्यकर्मी तथा समाज सेवी ललित कुमार 'नटवर' हो चले।" और शाहाबाद के उज्जैन वंशीय क्षत्रिय महादेव प्रसाद सिंह के सुपुत्र होने के कारण 'सिंह' तो लगना ही था, तो इस तरह ललित कुमार सिंह बने। देश-समाज सेवा के साथ नाटक में उनके अप्रतिम योगदान ने श्नटवरश बना दिया।

'दशम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पटना' के 'कार्य विवरण - द्वितीय भाग (लेखमाला)' में नटवरजी द्वारा प्रस्तुत आलेख 'हिन्दी की आधुनिक कविता और उसकी भाषा' शीर्षक आलेख में उनका नाम 'मुहम्मद लतीफ, मुजफ्फरपुर' प्रकाशित है। सीतामढ़ी में हुए 'बिहार प्रादेशिक तृतीय साहित्य सम्मेलन' में बाबू शिवनन्दन सहाय द्वारा 14 अक्टूबर 1921 को सभापति के रूप में दिए अपने संबोधन में भी 'मुजफ्फरपुर के मुहम्मद लतीफ हिन्दी

के बड़े प्रेमी और सुलेखक हैं' कहा था।

लतीफ हुसैन नाम के पीछे की कथा बताते लोग कहते थे कि उनके पिता महादेव सिंह ने पान कुंअरि नामक एक तवायफ से शादी की थी, जो 'मुजफ्फरपुर जिला के 'सिसौला' (शिवहर) नामक ग्राम के शेख मदारू मियाँ की लड़की थीं।' इसी कारण यह नाम पड़ा। लेकिन उनके तवायफ होने की बात गलत है।

मुजफ्फरपुर से होकर जो बूढ़ी गंडक नदी बहती है वह पहले सिकंदरपुर, गोला बांध, गाँधी पुस्तकालय और महिला शिल्प कला महिला विद्यालय (अब कॉलेज) के पीछे से बहती हुई चंदवारा की ओर से आगे बढ़ती थी। चंदवारा घाट ही उस समय शहर का मुक्तिधाम था। खुदीराम बोस का दाह संस्कार इसी चंदवारा घाट पर हुआ था। खैर...।

इस नदी का पाट उस समय काफी चौड़ा हुआ करता था। अखाड़ा घाट कृष्णा टॉकीज के आस-पास हुआ करता था। (इस बात का प्रमाण यह है कि उसके दोनों ओर बसा जो वर्तमान मोहल्ला है, बरसात में आज भी डूबा रहता है।) इसी घाट से लोग नाव से उस पार जाकर सीतामढ़ी, दरभंगा आदि के लिए बस पकड़ते थे। उस समय बस व्यवसाय पर अखड़ाघाट उस पार के बाबू जंगल सिंह का राज था, जो जाति से राजपूत थे। इसी बस स्टैंड पर मदारू मियाँ की बेटी भटक गई थी। बस अड्डे के लोगों ने उसे अकेला रोते देख महादेव सिंह, जो तहसील के लिए वहाँ आए हुए थे, से कहा कि अपने ही बियाह कर ल तहसीलदार साहेब। अभी तक कुंवरे बनल घूम रहल हती। उसके आगे की कथा शिवपूजन सहाय से सुनिए -

"बाबू महादेव सिंहजी उनको बहुत छोटी उम्र में ही मुजफ्फरपुर लाये थे। उसी समय से अपने घर के अन्दर, विवाहिता पत्नी के समान, बड़ी प्रतिष्ठा और पतिव्रता के साथ, उन्हें पर्दे में रखते थे। वह भी जब से बाबू साहब के आश्रय में आईं, हिन्दू गृहिणी की तरह, नित्य बड़ी स्वच्छता से नहाती-धोती और खाती-पीती थीं।"

इतने तफ्सील से उनके बारे में बात तो कोई करीबी ही कह सकता है। उनके कैसे करीबी थे शिवपूजन सहाय। यह उनकी तीसरी शादी के समय अपनी होने वाली पत्नी को लिखे पत्र से पता चलता है, जिसमें बारात में कौन-कौन लोग आएंगे, का जिक्र है- "ललित कुमार सिंह 'नटवरश' मुजफ्फरपुर के हैं, जो हाल ही में मुसलमान से हिंदू हुए हैं। मुसलमानी नाम 'लतीफ हुसैन' था। हमलोगों के बहुत पुराने दोस्त हैं। बारात में आवेंगें।"

बिन ब्याही किसी लड़की को साथ रख लेने पर समाज उसे किन नजरों से आज भी देखता है, तो उस दकियानूसी समय में नटवरजी की माँ को तवायफ कहा होगा तो कोई आश्चर्य नहीं ! जबकि उनके पूर्वज हिन्दू थे। बकौल शिवपूजन सहाय- "उनके नाना पहले शाकद्वीपीय-ब्राह्मण थे, जो बाद को मुसलमान हो गये थे; किन्तु उनके पिता शेख मदारू मियाँ खानदानी मुसलमान थे।" नटवरजी के पिता को इस बात के लिए दाद देनी होगी कि उस काल में उन्होंने ऐसी हिम्मत दिखाई और नटवरजी का जन्म होने दिया। आज तो बड़े शहरों में लिव इन रिलेशन आम होता जा रहा।

विनोदी स्वभाव के नटवर जी में किशोर वय से ही समाज सेवा, गली मुहल्ले में होने वाले किसी भी आयोजन का भार माथे ले, अपने हमउम्र साथियों के साथ उसको सफल बना देना, जागरूकता अभियान चलाना आदि ऐसे काम रहे जिसने उनमें नेतृत्व क्षमता का विकास किया। लेकिन बचपन की शैतानियों के किस्से भी कम न थे। कहते हैं कि होली के समय रात-रात भर जगकर अपने संगियों संग दुकानदारों के साइन बोर्ड बदल डालते। सोने चांदी की दुकान पर जूते की दुकान का साइनबोर्ड तो जूते की दुकान पर मिठाई का, कपड़े की दुकान पर दवा का, तो दवा की दुकान पर लोहे का। रात भर में अनेकों दुकान के साइनबोर्ड बदल जाते और सुबह से दुकानदारों की गालियाँ बरसती तो दूसरी ओर ठहाकों की बौछार होती।

एक सज्जन को अपना रंग गोरा करने के लिए तरह-तरह के विज्ञापित साबुन, स्नो, पाउडर खोजते फिरते

देख, उन्होंने एक साबुन की आजमाइश की सलाह दे डाली। बस क्या था, उसने खरीदी और लगाते ही गधे के सिर से सींग की तरह बाल गायब और नटवर जी नौ दो ग्यारह। कभी किसी सख्स को देख चिढ़ा देते –

'नाम ले तो भूखे मरे, मुंह देखे तो पाप
सरैयागंज नाका पर फलनवा के बाप।'

तो उन्हें मारने के लिए ढूंढता फिरता और वे भागे-छुपते। रोज़ ब रोज़ इस तरह के चकल्लसपन से कुछ नाराज होते तो कुछ लोग मजा लेते।

खेल-खेल में किसी की नकल उतार मुँह पर सच बोल देने की आदत से नाराजगी भी झेलनी पड़ती। एक बार गौशाला के एक अंग्रेज भक्त व्यवसायी पर कृष्ण अष्टमी के दिन उन्हीं का गेटअप बना उनके सम्मुख गुनगुना दिया –

'धर्म कर्म को रगड़ो मेट्यो
घी में दियो चर्बी फेंट्यो
धन-दौलत तो खूब समेट्यो
तनिक न की परवाह
बिन्दी लग्यो भाल।'

तब से उनका गौशाला आना-जाना बन्द। लेकिन सच बोलने से बाज आए न कभी।

ऐसा ही एक वाकया 1912 में होली के समय का है, जब वे मात्र चौदह वर्ष के थे। उस उम्र में डाकू बन अपने कुछ साथियों को सिपाही और घायल का भेष धारण करवा सेठ गौरीदत्त जालान के धर्मशाला पहुँच गए, जहाँ तवायफ का नाच चल रहा था, उसे भंडूल कर दिया। तब से जो वहाँ तवायफों का नाच गाना बंद हुआ, फिर कभी न हुआ। उसकी जगह नाटक खेला जाने लगा। डाकू बनी इसी नाटक मंडली ने 1913 में नाट्य मंडली बनाई, जो आगे चलकर नवयुवक समिति की आधारशिला बनी। गौर करने वाली बात है कि इन्हीं गौरीदत्त जालान के पुत्र का नाम ईश्वरदास जालान था, जो लेखक होने के साथ-साथ "सन् 1947 से 1952 तक पश्चिम बंगाल-विधान सभा के अध्यक्ष-पद को सुशोभित करते रहे" थे।

एक समय ऐसा था कि मुजफ्फरपुर में होली का त्योहार बड़ी धूम धाम से मनाया जाता था। मुझे याद है कि होली की शाम गुलाल खेलने के लिए लोग सफेद मलमल का कुर्ता, पैजामा या धोती पहन सफेद कपड़े के झोले में किलो के भाव से अबीर-गुलाल रख निकलते। सूतापट्टी और सरैयागंज से निकलते लोग, टोली बनाते हुए राह में मिलने वाले अपने-पराय, सभी को गुलाल से नहलाते, गले मिलते हुए छाता बाजार, गरीब स्थान होते हुए पुरानी बाजार चौक पर रुकते। शहर के सभी मुहल्लों से लोग आ जुटते थे क्योंकि यहाँ मक्खन साह की कचौड़ी-जिलेबी की दुकान में होली के दिन सिर्फ हरे रंग की भांग की बर्फी ही बिका करती थी, जिसे गपकने भीड़ जुटती और बर्फी खाते-झूमते लोग सोनारपट्टी, शुक्ला रोड होते हुए तवायफ मंडी वाली सड़क से गुजरते चतर्भुज मंदिर पहुँचते।

मक्खन साह हलवाई की तीसरी पीढ़ी आज 'माखन स्वीट्स' नाम से उसी चौक पर दुकान चला रही जो 'मक्खन साह चौक' नाम से प्रसिद्ध हो चला। लोग प्रसिद्धि के लिए क्या-क्या हथकंडा नहीं

अपनाते। बताइए तो, भांग की बर्फी बेच जो प्रसिद्धि मक्खन साह को मिली, भला वह अपने शहर के किसी वर्तमान हथकंडेबाज लेखक को मिल सकती है? खैर यह भंगेरी प्रसंग फिर कभी।

दाता कम्मल साह मजार से मंदिर की ओर जाने वाली सड़क के दोनों ओर के मकान के हाते या दरवज्जे तवायफों के शुरू होते। जिस पर खड़ी-सजी गणिकाएँ ग्राहकों को लुभाने दिलफेक इशारा करतीं। ये इशारा आँखों

से, उँगलियों से या होठों से होता, जिनमें न जाने कितनी नई उमर की नई फसल को वो सब काट लेती। उन गणिकाओं के इश्कबाज ग्राहक इसी को मंदिर समझ, उनके गालों पर अबीर मलते अन्दर घुस जाते तो कुछ मोल भाव करते नजर आते और कुछ खानगी पट्टी की तंग गलियों में सरक लेते। जो इन सब माया से बच-बचा के निकल जाते, चतर्भुज मंदिर पहुँच जाते।

होली में सभी का कुर्ता 'मलमल के कुर्ते पर छींट लाल लाल' नहीं, बल्कि सरापा लाल होता, बजरंगबली की तरह लाल। रंग जिसका जो हो, सभी का चेहरा लाले लाल होता। क्या मूँछ, क्या आँखें, क्या भौं, क्या सिर के बाल और कपड़े ! सब लालन लाल। सरैयागंज से चतर्भुज स्थान जाने वाला वह रास्ता लाल गुलाल की बेतरतीब रंगोली से नहा उठता, जिसे लुप्त होने में कई-कई दिन लगते। उस वक्त के लोग कहते- पैर की धमक से अबीर जब तक माथे न पहुँच जाए तो होली कैसी ? इस तरह की होली की शुरुआत करने वाले नटवरजी ही थे।

लेकिन इस रंग रंगोली त्योहार के पहले कीचड़, नाले का पानी या कपड़ा फाड़ होली की ही प्रधानता थी यहाँ, जिसे समाज सुधारक नटवर जी ने तोड़ा और व्यंग करते लिखा भी -

"गाली गाना, गदहे चढ़ना और नशे का पीना
जो होली में नहीं हैं करते व्यर्थ है उसका जीना
सड़ा गला नालों का पानी गंगाजल है आज
राख धूल कादो माटी से कर दो शुद्ध समाज
मुंह में कालिख पोत देह पर चेथरा गुदरी साज
झाड़ू ले लंगटे हो नाचो जरा न आवो बाज
मंदिर और शिवालय में वेश्या का नाच कराओ।...."

होली को प्रेम का त्योहार मानने वाले नटवरजी 'हृदय-पिचकारी में भर कर, मधुर सद्प्रेम के रंग को' बिखेरने की बात कहते- व्यंग, उल्लास, उमंग से भरी अनगिन कविताएँ होली पर लिखीं तो अभाव, दुःख, दीन-हीन के लिए भी और गलत परम्परा तोड़ती भी।

दीन हीन लोगों की दारुण व्यथा की कथा इस होली की कविता में देख सकते हैं, जो उन्होंने भोजपुरी में लिखी -

कइसे के होली मनाई
कइसे के भरम बचाई रे भाई,
होली में मन मानत नाहीं।
कपड़ा महँग दाम तिगुना चढ़ल बा,
कहवाँ से रुपया ले आई।
मुश्किल से दु-तीन आना पइसा,
भर दिन के होला कमाई।
घर में त बाल-बच्चा भूख से मरत बा,
हमरो भइल ह खराई।
रंग-अबीर एक-दू पइसा में पुरे ना,
का सब के मुँह में लगाई।
सब केहु घर में पुआ-पूरी खाता,

हम कइसे मन के बुझाई।
खा-पी के सब मिलि नाचत गावत बा,
हमरा छुटेला रोआई।
देखि देखि हिअरा हमार ललचाता,
का कर के मन समुझाई।
हे राम ! रउए उपाय बताईं,
कइसे के होली मनाई।

बज्जिका में भी उन्होंने कविताएँ लिखीं। 1923 में लिखित उनकी कविता 'दुखिए किसान की होली' बज्जिका साहित्य में ऐतिहासिक महत्व की मानी गई है। उन्होंने बज्जिका को 'तिरहुतिया' कहा; क्योंकि 1875 के पूर्व यह मुजफ्फरपुर जिला 'तिरहुत जिला' कहलाता था। इसलिए कविता के शीर्षक के नीचे उन्होंने लिखा भी - 'तिरहुतिया में'। प्लेग, अकाल, सूखा, बेगारी, अभाव और महंगाई से बेहाल जनता कैसे खेले रंग, का दृश्य इस मार्मिक कविता में देखिए, जो अपने श्कीसुन भगवन्तश से गुहार लगा रही-

दुखिए किसान की होली

(तिरहुतिया में)

ढंग बिन कइसे होली खेलब एमकी सब भाइन के संग।
भूखल पेट, न तन पर कपड़ा आउर दुःख से तंग।
प्लेग अकाल के मारल मन में कइसे उठे उमंग।
आग लगाऊं। केकरा घर में ? के ई मचौलक जंग ?
कार बार सब चौपट हो गेल, आउर महँगा भेल रंग।
एक त पानी भेल न एमकी जे से होइत खूब अन्न।
जे कुछ भेल सेहु छिन लेलक की खाएब भगवन्त ?
न दी तेपर मारे हमरा कोठरी में करे बन्द।
घर दुआर भी छीन निठुर कर देलक बेअवलम्ब।
बेगारी में काम कराबे पूरा देबे न बन्न।
करइत करइत काम बाप रे! टूट गेल छन बन्द।
की गाऊ आउर कथी बजाऊ न ढोलक न चंग।
की खाऊ पीऊ पइसा बिन न ताड़ी न भंग।
सब केहु घर घर खुशी मनावे आएल देख बसन्त।
पर हमरा छुट्टी नहिं तनिको, करइत दुःख के संग।
अब की करु ? कइसे के जीऊ हे कीसुन भगवन्त।
खबर ल तू अब हम्मर नहिं त जीवन होइहें अन्त।
ढंग बिन कइसे होली खेलब एमकी सब भाइन के संग।

नटवरजी होली जैसे रंग-रंगीले त्योहार में 'जोगीड़ा' लिख 'रंग में एब को बोरें' कह कर 'कपट छल दूर भगावें' का उपदेश देते, तो हँसी-ठिठोली के लिए 'होलीकांक' शीर्षक से पुस्तिका निकाल बंटवाते, जिसमें शहर का कोई भी छींटाकशी से नहीं बच पाता।

'होलीकांक' से पहले जरा नटवरजी के 'जोगीड़ा' से रूबरू होते चलें, जिसमें होली का रंग भरते हुए जागरण

की भी बात की –

'आओ प्यारे ! खेलें सब मिल होकर एक ही रंग।
किसी को तनिक न छोड़ें।
रंग में एब को बोरें।।
बोर बोर कर रंग में सब को, कर दें लाले लाल।
कोई अंग न बाकी छोड़ें, खाली रहे न गाल।'

और कविता के अंत तक पहुँचते-पहुँचते जागरण का संदेश देते हैं –

जागो भारतवासी प्यारे, हो गया अब भोर।
आलस त्याग उठो बिस्तर से अपनी मूंछ मरोड़।
नींद का समय नहीं है।
घड़ी शुभ बीत रही है।

होली पर जोगीड़ा लिखते हुए भी वे अपने उद्देश्य से नहीं भटकते। एक तरफ वे होली में वैसी कविताएँ लिख रहे थे तो दूसरी ओर लोगों के भरपूर मनोरंजन के लिए होली की छींटाकशी करने 'होलीकांक' पत्रिका भी निकाल शहर में बांटते।

'होलीकांक' का 12वां अंक मुझे देखने का सुयोग मिला, जिसे उन्होंने 'काला-बाजारियों का एक मात्र पत्र' बतलाते पत्रिका का नाम 'घासलेट' रखा। इसकी खासियत यह रही कि इसके प्रधान संपादक के रूप में जनोखाचार्य चतर्भुज गोयनका 'गनोरिया' और बतौर संयुक्त संपादक श्री मोहन लाल 'बजरंग दुलरुआ' तथा श्री जगन्नाथ 'अजात' का नाम चस्पां किया। जनखा से जनोखा, मतलब हिजड़ा ! इसी तरह की उपाधियों से विभूषित यह होलीकांक दिलचस्प अंदाज में पेश है। इसके साथ ही वे प्रधान संपादक की ओर से 'संपादकीय पिचकारी' भी मार डाली –

"कागज की महंगी, नून तेल लकड़ी की मुश्किल, कभी मुझे गोनोरिया, कभी 'अजातजी' का अजातपना और मोहनलालजी का बार-बार बजरंग की गोद में बैठने से, हमलोगों ने सालका भर अंक एक ही बार होली में निकालने का निश्चय किया, ...

'घासलेट' में शहर के गणमान्य घासलेटियों का जो 'आमलेट' बना है, वह चखने में आनन्ददायक तो है ही, साथ ही 'बेरेट' भी है। .....

इस साल रंग कम खर्च होगा, क्योंकि सबों का चेहरा 'ब्लैक' करते-करते काला हो गया है। कबीरदास जी ने कहा है कि –

'काली कमली लठ चढै न दूजो रंग
दिनरात करो ब्लैक जी पियो जी भर भंग'

इसके बाद उन्होंने तुकबंदियों से देश-दुनिया के 'नेताओं का कबीरा' लिखा। वह भी 'ट्रूमैन के नाती' की कलम से, और –

प्रेसीडेंट ट्रूमैन को इन पंक्तियों से नवाजा- 'चीन से नहीं खेलेंगे होली/सीधे छाती में मारता गोली।' तो मार्शल स्टेलिन के लिए ये पंक्तियाँ गढ़ी- 'अमेरिका वृटेन का मैं हूँ काल/लाल रंग से रंग रहा उनका गाल।' उसी तरह क्वीमेंट एटली की चापलूसी को इन शब्दों में परखा- 'सांप छछून्दर की गति मेरी/चीन अमेरिका का साथ देता हूँ फेराफेरी।' तो माओ-त्से-तुंग के बारे सटीक टिप्पणी जड़ी- 'रशीयन गुरु का अफीमची चेला/अमेरिका को

पछाड़ रहा अकेला।' लियाकत अली खाँ की बेबसी को इस तरह दर्शाया- 'लंदन अमेरिका में जा जाकर खाया केक/कश्मीर के मामले में चल रही न एक।' तो अपने देश के राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के बारे में टिप्पणी की - श्राष्ट्रपति मैं सीधा सादा/पिलानी से प्यार मुझसे है ज्यादाश। और प्रधानमंत्री नेहरू पर -

'मैं हूँ एशिया का अगूआ।
सभी के साथ खेलूंगा फगुआ।।
अन्यायियों को कर दूंगा दस्त ।
मेरी परराष्ट्रनीति है तटस्थ।।

तो फिर अन्य महारथियों पर निम्नांकित दोहे कहे -

श्री राजगोपालाचारी : 'गवर्नर जेनरल से गृहमंत्री हो गया क्या कहूँ।
पहले थी घर की सास अब बन गई बहू।।'

राजर्षी टंडन जी : 'मैं सफेद दाढ़ी वाला।
कांग्रेसी चेले कर रहे काला।'

मौलाना आजाद : 'पन्द्रह वर्ष तक देकर बनवास।
हिन्दी का कर रहा है नाश।।'

आचार्य कृपलानी : 'टंडनजी से जब गया मैं हार।
जनत्रांतिक मोर्चा का खोला व्यपार।।'

श्री जयप्रकाश ना. : 'देश के लिए एक घंटा।
लगाता रहता हूँ कुछ टंटा।।'

बिहार केसरी श्री कृष्ण सिंह : 'मैं खाता मुर्गी और खोआ।
चेलवा सब के लोहा छोआ।।'

श्री अनुग्रह नारायण सिंह : 'बिहार में नहीं अकाल नहीं कु-ग्रह ।
जब खाद मंत्री है राम-अनुग्रह।।'

और 'हिंदुस्तानी कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि' के लिए यह तंज :

'तैलंगाना में मार रहे हैं गोली।
चुनाव में खेलूंगा होली।।'

इस तरह की ठिठोली करते, 'कंट्रोल औफिस का पिछवारा' स्थल में हुए "सर्व दल कवि सम्मेलन का झांकी" प्रस्तुत कर संपादकीय टिप्पणी जड़ दी- 'इस सम्मेलन में जनखा सम्मेलन, चार सौ बीस सम्मेलन, नपुंसक सभा, हिजड़ा पार्टी, ब्लैक कांग्रेस दल के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।' और सभा की कार्यवाही महेश प्रसाद सिंह के भाषण से शुरू हुई जिसमें खुद को 'उन्होंने उत्तर बिहार का एकमात्र लीडर मैं क्यों हूँ', कविता के माध्यम से व्यक्त किया -

'उत्तर बिहार मेरी शक्ति, करता हूँ श्रीकृष्ण की भक्ति।
हूँ वकील नहीं बारिस्टर, मैं बिहार का (ऑनरेरी) प्राई मनिस्टर।'

बारी बारी से शहर के गणमान्य व्यक्ति उठ-उठ कर अपना परिचय कविता में देते दिखते हैं। करीब सत्तर-पचहत्तर से ज्यादा लोगों पर उन्होंने दिलचस्प दोहे गढ़ते हुए खुद्द पर भी छींटाकशी की -

'साहित्य से मैंने मुँह मोड़ा,

फिल्म लाइन से नाता जोड़ा
न इसी में, न उसी में रहा बात ठाठ का,
मैं जस धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का।'

और फिर शहर के रईस जमींदार, संगीत पारखी और देवी मंदिर के संस्थापक एवं म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन बाबू उमाशंकर मेहरोत्रा, राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, हिन्दी लेखक और एलएस कॉलेज के प्राचार्य रहे प्रो. नवल किशोर गौड़, खादी बोर्ड के चेयरमैन और एमएलसी रहे ब्रजबिहारी प्रसाद (जो ऊँचा सुनते थे), वकील और पत्रकार शारदा प्रसाद भण्डारी, डॉ. लोकनाथ शर्मा, डॉ. दुर्गा प्रसाद नन्दे (रश्मि रेखा के पिता, जिनका क्लिनिक साहू पोखर पर था) आदि बहुतों पर होली की दनदनाती पिचकारी मारी। कुछ बानगी देखिए –

उमाशंकर प्रसाद मेहरोत्रा – मैं नगर पिता भोला भाला, मैं क्या देखूं सड़क और नाला
भाईस चेयर मैन महेन्द्र लाला, मेरे नाम पर वही तोड़ता ताला।

रामधारी सिंह दिनकर – मैं राष्ट्रकवि वतन का लायक, राष्ट्रीय युद्ध मोर्चा का मैं था गायक
गिरगिट सा रंग बदलने का मैं आदि, तन पर अब शोभे नवल धवल खादी
मैं था गद्दार देखो पिछला कार्य्य, अब लंगट सिंह कालेज का मैं आचार्य

जानकी वल्लभ शास्त्री – मैं झक्की प्रथम श्रेणी का आला, मेरे गुरु कुकुरमुत्ता वाले निराला।
तुलसीदास को मैं नहीं मानता, अपने मन का साहित्य सानता।।

नवल किशोर गौड़ – मुझमें थोड़ी ही कामिनी सी लोच, कामायनी पर कर रहा खोज।

ब्रजबिहारी प्रसाद – नगर सभापति दिल का गहिरा, मैं हूँ बहीरा मैं हूँ बहीरा
बड़ों बड़ों को देता घुड़की, खाता हूँ मैं मारकर डुबकी
सभी समझते मुझको सन्त, मैं हूँ पहुँचा हुआ महन्त।

शारदा प्रसाद भण्डारी – धनराज ने मुझको धारा, मैंने बढ़ के हाथ भी मारा
मेरी किस्मत देख सभी खाते हैं खार, अब मैंने ले ली है मोटर कार।

डॉ. लोकनाथ शर्मा – मैं जब देखता रोग है क्रानीक, प्रिसक्राइब करता जगलाल टानिक
भाई भतीजा दोनों अकडू, मरीज मेरे सभी ढलकरू

डॉ. दुर्गा प्रसाद नन्दे – लात मार दिया सरकारी नौकरी पर
खोल के दूकान बैठा हूँ पोखरी पर।

इस तरह तुक भिड़ाते हुए आगे के पन्ने पर राजनीतिज्ञों को उपाधियों से नवाजा, जिनमें कुछ इस प्रकार है – डॉ. अंबेडकर को 'कलयुगी मनू', श्यामा प्रसाद मुखर्जी को 'बंगाली मामा', महामाया प्रसाद सिंह को 'कृपलानी सेनापति', जगजीवन राम को 'स्टेलिन बंधू', गोविन्द बल्लभ पन्त को 'उत्तर का महन्त', विजयालक्ष्मी पंडित को 'साम्यवादी से पूंजीवादी', के.बी. सहाय को 'श्री कृष्ण दुलारी', प्रजापति मिश्र को 'मझौआ के बांगड़' तो रामवृक्ष बेनीपुरी को 'अवसरवादी शोशलिस्ट' का मुकुट पहनाया।

होलीकांक के एक विज्ञापन पर नजर पड़ते ही हँसी छूटी। वाइन व्हिस्की की दुकान के प्रचार हेतु स्लोगन देख– 'Take Liquor & Be Thicker' तथा 'संतोष के साथ पियें/और बहुत दिन जीयें।'

इसके बाद 'होलीकांक' में 'नेताओं के गीत' शीर्षक से कालाबाजारी पर लिखी उनकी तीखी व्यंग रचना से गुजरते हुए उनकी सोच, निर्भीकता और बेबाकीपन का पता चलता है। यह रचना उनके संग्रह में देखने को

नहीं मिलती है। कालाबाजारी पर उनकी बानगी का एक अंश देखें –

'झूठी प्रतिज्ञा, घूस कौशल में अटल अनुराग है
सम्भोग का उन्माद है सेवा तपस्या त्याज्य है
सुख में हमीं नेताओं का भगवान केवल भाग है
अन्तः करण में गूंजता नित ब्लैक का ही राग है'।

कालाबाजारी को केन्द्र में रखकर निकाले गए होली के इस अंक में और भी बहुत कुछ है, जिसे लेख में समेटा नहीं जा सकता। होली के बहाने सामाजिक बुराइयों, देश की हालत और कालाबाजारी पर कसता तंज ही इस अंक की विशिष्टता है। इस तरह के अनेकों अंक उन्होंने हर साल होली के समय निकाल न केवल अपनी पहचान बनाई बल्कि शहर की संस्कृति को भी निखारा। इसके बाद इस तरह के अंक बाद में यहाँ के लोगों ने भी निकाली, किन्तु जो ख्याति 'होलीकांक' को मिली वो फिर किसी को न मिल सकी।

होलीकांक निकालने वाले नटवरजी की 'गुलाल' नामक कविता संग्रह 1923 में प्रकाशित हुई थी, जिसमें सभी कविताएँ होली को केन्द्र में रखकर रची गई हैं। इस संग्रह की पहली कविता 'स्वागत वसन्त' में बसन्त का स्वागत करते हुए स्वराज की मांग करते हैं। इस पुस्तक की भूमिका 'होली का संदेश' में कहते हैं कि वसन्त के आ जाने से अब- 'कोई दुःखी नहीं जान पड़ता। यह दृश्य मानो जगत को प्रेम और साम्यवाद का संदेश दे रहा है।' बानगी देखें –

स्वागत वसन्त

ढीली सी, हो रही नसें थीं, हृदय चूर था।
वह आशा उत्साह बहुत हो रहा दूर था।
सूख गया था रक्त, मुखों छाई पियराई।
असमय में ही हाय, झुर्रियाँ-सी पड़ आई।
ठंडक ऐसी छा गई, अंग शिथिल से हो गये।
अवयव-संचालन-नियम, मानो थे सब खो गये।

... ...

रक्त खलबला उठा, नसों में बिजुली छाई।
पीलापन मिट रहा, मुखों पर लाली आई।
नव उत्साह, उमंग हृदय में फिर है छाई।
जभी वसन्ती सुछवि मोहिनी पुनः लखाई।
रे वसन्त, बस अन्त कर घड़ी हेमन्त-कुराज की।
सुखद छटा छिटका यहाँ अपने सरस स्वराज की।

इस संग्रह में 'सामाजिक-दोष का सम्बत' जलाने की बात कहते श्पवित्र होलीश जैसी कविता लिखी तो जबान विधवा की मनोदशा होली में किस तरह चीत्कारती है वह 'विरहिन विधवा' में देख सकते हैं –

विरहिन विधवा

दइया, मैं तो कैसे के होली मचाऊँ।
ऐसो भाग में आग लगाऊँ।।
वारी वयस, अभिलाष भरो मन,
का विधि याहि दबाऊँ।

प्रीति रीति कछु नेक न जान्यो,
किमि अरमान पुराऊँ।।
रहि रहि, का यह होत हृदय मंह -
जबतक काहि। दिखाऊँ ।
कौन सुने समुझे यह विपदा,
काको भेद बताऊँ।।
रीति, नीति, बैरिन भई सगरी,
किमि गुरुजनहिं सुझाऊँ ।
हे विधना, अब आप संभराहु,
नहिं, घुट घुट मर जाऊँ।।

गुलाल संग्रह में विभिन्न रंग की कुल अट्ठाइस कविता है। नकली होली, नकली उपदेशक, नकली लीडर, नकली देशभक्त शीर्षक से उन्होंने कविता लिखी तो 'नकली कवि' पर भी। उनकी होली की कविताओं में आज का समय देख सकते हैं।

1912 में जिस गौरीदत्त जालान के धर्मशाला में डाकू बन नटवरजी और उनकी मंडली ने तवायफ का नाच भंडूल कर दिया था, उससे मिली शाबाशी ने नाटक के प्रति उनकी गहरी रुचि उत्पन्न कर दी। यह रुचि जब जुनून बन परवान चढ़ी तो अपने 'ब्वायज एलेवुन फुटबॉल क्लब' को 'सरैयागंज-नाटक समिति' के रूप में उन्होंने परिणत कर दिया, जिसका शुभारंभ स्वामी सत्यदेव रचित नाटक 'मेजिनी' के मंचन से हुआ था।

तुकबंदियाँ तो नटवरजी कर ही रहे थे जिस कारण 1913 में दो घटनाएँ घटी। एक तो उनकी तुकबंदियों की पहली पुस्तक 'ललित राग संग्रह' आई और दूसरे, नवयुवक समिति की आधारशिला रखी गई जो आगे चलकर विधिवत 1916-17 में 'नवयुवक समिति' बनी।

नवयुवक समिति की दुमंजिल बिल्डिंग आज जहाँ खड़ी है, वह स्थल पहले परती जमीन हुआ करती थी जिसमें एक कुआँ था। आमजन इस कुएँ पर बाल्टी-रसरी के सहारे पानी खींच-घीच नहाया-धोया करते थे। अभी जो नवयुवक समिति का मुख्य द्वार है, उसमें घुसते ही दाहिनी ओर वाली फर्श के नीचे ही कुआँ दबा है।

किन्तु शुरुआती दिनों में समिति का कोई स्थाई ठौर-ठिकाना न था। सरैयागंज इलाके में ही यह कभी इस द्वारे तो कभी दूजे दरवाजे, कभी अखाड़ा घाट रोड में तो कभी कोई और ठिकाने लगती रही। इस तरह स्थल परिवर्तनशील यह अंतिम ठिकाने लगी भारत जलपान (जो तब नहीं था और अब भी नहीं रहा) के निकट झगरू लाल साह के मकान में और दस वर्षों तक वहीं टिक सी गई, जिसका अधन्नी भी किराया नहीं देना पड़ा ! क्यों ?

क्योंकि झगड़ू लाल साह, खत्री जी के समय से ही दानी प्रवृत्ति के थे। इनकी दानशीलता की कहानी यह रही कि इनके पिता बाबू गोविन्द लाल साह भारी सूदखोर महाजन, बीसों मकान के मालिक और काँइयाँ थे। उन्हीं के सुपुत्र झगड़ू लाल साह 'पिता की मृत्यु के बाद दाता कर्ण ही बन बैठे।' नटवरजी इनके बारे में बताते हैं कि वे नवयुवक समिति, हिन्दी-भाषा-प्रचारिणी सभा, साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं को दिल खोल मदद करते। 'अयोध्या-प्रसादजी की मृत्यु के अनन्तर उनके परिवार की देखभाल भी उन्होंने की।' वह इसलिए कि "श्री अयोध्या-प्रसादजी खत्री और श्री भुवनेश्वर मिश्र ने 'झगड़ू लाल साह' को साधु-हिन्दी में 'युद्ध विक्रम राय' बना दिया था।..... 'राय' को स्वत: 'मारूक' बनाकर बाबू युद्धविक्रम मारूक बड़े प्रसिद्ध हुए।" इन्हीं के जीवन पर लिखी भुनेश्वर मिश्र की 'घराऊ घटना' नामक लघु-उपन्यास है, जिसका जिक्र बलवंत भूमिहार वाले

पिछले लेख में मैंने किया था।

झगड़ू लाल साह उर्फ युद्धविक्रम मारूक, अपनी सारी सम्पत्ति इन्हीं सब उपकार में स्वाहा कर दी। अन्य कारण भी नटवरजी बताते हैं- "कुछ रिश्तेदार ही हड़प बैठे थे। नगर की एक प्रसिद्ध गायिका से उनका पुराना सम्बन्ध था, जिसके साथ अपने संबंध-विषय में सफाई दिया करते थे कि 'मैं शरीर का नहीं दिल का विलासी हूँ।' अंतिम लाचारी ने उन्हें उसी के घर में बसेरा लेने को बाध्य किया।" इन 'के जीवन-काल तक उनका बैठकखाना विद्वानों, साहित्यिकों और कार्यकताओं का विवाद-गृह और अड्डा बना रहा।' ... 'मारूकजी की बैठक एक प्रकार से खड़ी बोली आंदोलन का कार्यालय ही थी।' इन्हीं दिलफेक और उपकारी व्यक्ति ने दस वर्षों तक नवयुवक समिति को आश्रय दिया, जिस कारण वह आगे बढ़कर फूली-फली।

युद्धविक्रम मारूक जी के उसी मकान में रहते हुए समिति के लोगों ने उस परती जमीन में पहले एक झोंपड़ी गाड़ दी। फिर धीरे-धीरे उस पर नवयुवक समिति का कार्यालय चलने लगा। बाद में चलकर शहर के रईस जमींदार और अन्य लोगों के सहयोग से इसका कुछ हिस्सा पक्के का बना। नटवरजी के हमउम्र साथी तथा हर पल के सहयोगी ज्ञानमोहन दास, उनकी मृत्यु के बाद अपनी सारी संपत्ति बेचकर नवयुवक समिति का न केवल जीर्णोद्धार किया बल्कि ऊपरी तल्ला भी बनवाया। इस बात की प्रेरणा उन्हें अपने समय के लेखक पं. छविनाथ पाण्डेय से मिली थी, जो नवयुवक समिति की गोष्ठियों और कवि सम्मेलन में आरसी प्रसाद सिंह, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री आदि कवियों के साथ प्रायः मंच पर दिखते थे।

किन्तु यह जमीन नगरपालिका की होने के कारण एक तरह से नाजायज कब्जा था। सरकार किसी शहीद के नाम पर तो भूमि दे सकती थी किन्तु नटवरजी के काम या उनके अतुलनीय योगदान पर नहीं। 1930 में आजादी के आंदोलन के समय तिलक मैदान में हुए गोली काण्ड के समय शहीद हुए भगवान लाल के नाम पर वह जमीन समिति वालों ने सरकार से अलॉट करवा लिया, क्योंकि उनके नाम पर भगवान लाल पुस्तकालय तो समिति में चल ही रहा था। इस तरह भगवान लाल की भव्य मूर्ति नवयुवक समिति के द्वारे स्थापित हो गई और नवयुवक समिति सरैयागंज किनारे ठांव लगी।

इस समिति की स्थापना के जब 25 वर्ष पूरे हुए तो 'रजत जयंती', टुनकी साह के धर्मशाला में मनाई गई जिसमें डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, काका कालेलकर, श्रीराम बाजपेयी, दक्षिण भारतीय हिन्दी प्रचारक श्री सत्यनारायण आदि के साथ बाहर के बहुतों लेखक शरीक हुए, जिसके फलस्वरूप इस समिति की ख्याति राष्ट्रीय स्तर पर हुई।

शहर के जमींदार बाबू उमाशंकर मेहरोत्रा उर्फ बच्चा बाबू नवयुवक समिति के आजीवन सदस्य रहे। इनके समय में भारत के ऐसे कौन संगीतज्ञ और नृत्यांगना न रहीं, जिसने इस शहर को अपनी कला से मोहित न किया हो। हर वर्ष कोई न कोई संगीत का भव्य आयोजन होता। आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री रायगढ़ का राजकवि पद, लात मारकर जब इस शहर में आए तो यही उनके आश्रयदाता बने। उन्हीं के रमना स्थित विशाल प्रांगण में वे कई वर्ष तक रहे। मिस्कॉट मुहल्ला उन्हीं की जमीन पर बसा है। रमना पोस्ट ऑफिस, दैनिक जागरण, सेंट जेवियर्स जूनियर स्कूल, देवी मंदिर आदि उन्हीं की भूमि पर चल रहा, जिसके मध्य बसा-खड़ा है आज भी उनका प्रांगण।

नटवरजी द्वारा स्थापित 'सरैयागंज-नाटक समिति' के पूर्व ही शहर में रंगमंच की स्थापना हो चुकी थी और यह अयोध्या प्रसाद खत्री के जीवन-काल में ही हुई थी। इस बात को नटवरजी रेखांकित करते कहते हैं - "खत्रीजी के जीवन-काल में वहाँ बहुविध सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रगति हुई, अनेक संस्थाएँ और विद्यालय स्थापित हुए। संगीत और अभिनय-कला की जागृति हुई। हाजीपुर के सुप्रसिद्ध मुख्तार जनाब दमड़ीलाल

और मुजफ्फरपुर के रईस-जमींदार बाबू बद्रीनारायण सिंह ने व्यवसायिक थियेटर-कंपनियाँ खोलीं। बदरी बाबू ने तो स्थायी रंगमंच भी बनवाया था, जिसपर स्थानीय और बाहरी मंडलियाँ अभिनय प्रदर्शित करती थीं।" आगे वे कहते हैं - "श्री जगन्नाथ प्रसाद साहू ने 'फ्रेंड्स यूनियन क्लब' की स्थापना की, जिसमें पारसी ढंग के नाटक शौकिया खेले जाते थे। सर्वश्री बैधनाथ प्रसाद सिंह, महेश्वर प्रसादजी, जगदीश नारायण भंडारी और जगदीश नारायण नन्दे आदि ने 'रिक्रिएशन क्लब' खोला जिसमें संगीत और वाद्य के अतिरिक्त हिन्दी-नाटक भी खेले जाते थे। 'महाराणा प्रताप', 'वैधव्य कठोर दण्ड है या शांति', और 'सरोजिनी' उसके प्रसिद्ध अभिनय हुए।"

यह भी बताता चलूं कि मेरे दादा के तीन भाइयों में जगदीश नारायण नन्दे सबसे बड़े थे। 1934 के भूकम्प में अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा बनवाया गया ब्राह्मण टोली स्थित शिवालय जब ढह गया था तो यही जगदीश नारायण नन्दे ने उसका जीर्णोद्धार करवाया था।

इस ऐतिहासिक सच के बावजूद रंगमंच को मुजफ्फरपुर में विस्तार और स्थायित्व देने वाले नटवरजी ही थे। उनके नेतृत्व में नवयुवक समिति की नाट्य मंडली ने 1913 से 1936 के बीच करीब तैंतीस नाटकों का मंचन किया, जिनमें से अधिकांश का निर्देशन नटवर जी का था। मंचित नाटकों में चतुर चर, सत्य हरिशचंद्र, भक्त प्रह्लाद, विल्वमंगल सूरदास, अलीबाबा, वीर अभिमन्यु, कलियुग, अत्याचार, परिवर्तन, भारत विजय, बाजीराव पेशवा, समाज स्तंभ, अछूता कौन ?, अधर्म का अंत, कुंदन कसौटी आदि प्रमुख हैं। इन नाटकों के लेखकों में नटवर जी के अलावा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाकृष्ण दास, डॉ. डी. एल. राय, कथावाचक पंडित राधेश्याम, आगा हश्र कश्मीरी, पंडित जीवानन्द शर्मा तथा मोहन लाल गुप्त के नाम प्रमुख हैं।

इन नाटकों में चतुर चर, भारत विजय, परिवर्तन, अधर्म का अंत, भक्त प्रह्लाद तथा समाज स्तंभ आदि नाटक साहू पोखर स्थित 'नवल थियेटर' में मंचित हुआ था। यही नवल थियेटर बाद में चलकर 'श्याम सिनेमा हॉल' बना। कुछ नाटक उन्होंने 'गणेश टॉकीज' में भी मंचित किए, जो बाद में कैपिटल, चित्रा और विशाल नाम धारण करता जमींदोज हो चुका।

आज से ठीक 100 वर्ष पूर्व नटवरजी के साथ कवि रामजीवन शर्मा 'जीवन' ने भी नाटक में भूमिका अदा की थी। इसे जीवनजी के शब्दों में ही सुनिए जो उनकी 18-08-1923 की डायरी में दर्ज है- "आज रात में मुजफ्फरपुर नई धर्मशाला में 'देवलोक में कवि-मंडल' नाटक हुआ। पर्दा से शून्य। वस्त्रालंकारों के बिना ही मैंने 'रहीम' का पार्ट किया। श्याम ने 'बिहारी' का, लतीफ ने 'रसखान' का।"

1962 में नटवरजी लिखित नाटक 'छोटा मुँह बड़ी बात' में जिस लड़की ने एक भूमिका की थी, उनसे मिलने का सुखद मौका मुझे मिला। 'मुन्नी चौधरी प्रभा' नामक उस महिला ने बताया कि तब मैं बारह साल की थी। यह नाटक 'देश के बच्चों में देश की राजनीति की जानकारी' होनी चाहिए, को केन्द्र में रख रची गई थी। इसे रचने के पीछे उनकी मंशा रही कि नेता गण बच्चों को जब जुलूस, हड़ताल, नारेबाजी, तोड़फोड़ आदि गैरकानूनी कार्यों में झोंकते हैं तो उन्हें सही-गलत राजनीति की सीख भी होनी चाहिए और उसमें शामिल होने, न होने का निर्णय लेने की क्षमता भी होनी चाहिए। इसी बात को केन्द्र में रख कर यह नाटक उन्होंने किशोरों के लिए लिखी। प्रजापति खन्ना द्वारा यह 'पुस्तक केन्द्र, कल्याणी, मुजफ्फरपुर' से 1958 में प्रकाशित हुई थी, जिसका मूल्य था, 1 रुपया 4 आना।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी नटवरजी खुद ज्यादा नहीं पढ़ सके; लेकिन शिक्षा का जीवन में क्या महत्व होता है, यह अच्छी तरह जानते थे, इसलिए लोगों के बीच फैले अंधकार को दूर करने ढिबरी और लालटेन की रौशनी में 'रात्रि पाठशाला' की शुरुआत की। इसकी कई शाखा उन्होंने शहर में खोली। पुरानी बाजार, नई बाजार, कल्याणी और आमगोला में खोली गई शाखा काफी लोकप्रिय हुई। इस रात्रि पाठशाला में वैसे लोग पढ़ने आते

थे जो जीविकोपार्जन के कारण दिन में नहीं पढ़ सकते थे। इसमें ऊँच-नीच, जात-पात, धर्म का कोई भेद भाव नहीं रखा। 'पुरानी बाजार शाखा की पाठशाला में ग्यारह अछूत विद्यार्थी पढ़ते थे।' यहाँ मुफ्त शिक्षा के साथ लिखने-पढ़ने के सामान भी दिए जाते। शहर में इसके पहले ऐसी कोई पाठशाला नहीं थी। समाज में चेतना विकसित करने की राह ढूंढने वाले नटवरजी, एक तरह से स्वप्नदर्शी थे।

कभी शांत नहीं बैठने वाले नटवरजी हर किसी के दुख-सुख में शामिल रहते। निःस्वार्थ भाव से किए गए कार्यों की वजह से वे शहर और समाज में लोकप्रिय ही नहीं, सर्वप्रिय हो चले। उन्हें आदर से देखे जाने के पीछे उनकी निष्कलुष समाज सेवा भावना रही। बाल्यावस्था से ही त्योहार या किसी उत्सव पर अपनी मंडली के लड़कों के साथ उपस्थित होकर भीड़ नियंत्रित करना; खोए, भटके या बिछड़े हुओं को गंतव्य तक पहुँचवाना, रोगी की सेवा, लावारिस बच्चों को आश्रय दिलवाना, अनाथ विधवा को आश्रम पहुँचाना, लावारिस लाशों का दाह संस्कार करना आदि उनके ऐसे कार्य रहे जिससे उनकी न केवल प्रसिद्धि बढ़ी, बल्कि लोकजन में प्रिय होते चले गए।

लोग बताते हैं कि 1919 में पहलेजा घाट पर एक धार्मिक उत्सव पर लाखों की भीड़ जुटी थी। वहाँ भी वे अपने पचास साथियों के साथ पहुँच हर तरह से सेवा की। इस तरह के कार्य में वे और उनकी मंडली सदा तत्पर रहती। 1920 में मोतिहारी का शिवरात्रि और राजगीर मेला तथा 1921 में छपड़ा और 1923 में शाहाबाद (आरा) में आए भीषण बाढ़ में पीड़ितों की कुशलता से की गई उनकी सेवा के कारण उन्हें प्रांत ही नहीं, देश के स्तर पर लोक प्रिय बना दिया। उनके सेवा दल में सैकड़ों की संख्या में लोग आ जुड़े। शहर या आसपास जब भी कोई विपदा आती, बाढ़ या भूकंप से क्षति होती, वे नाटक मंचित कर धन एकत्रित करते और उसे कस्तूरबा स्मृति कोष में देकर मदद पहुंचाते। ऐसे निःस्वार्थी सेवक थे नटवरजी।

बिना किसी प्रशिक्षण के वे समाज सेवा कर रहे थे। जब उन्हें पता चला कि नियम पूर्वक सेवा करने के लिए स्काउटिंग का ज्ञान आवश्यक है तो वे 1919 में इलाहाबाद चले गए और विधिवत उसकी शिक्षा ग्रहण कर मुजफ्फरपुर के सरैयागंज में 'बालचर मंडल' की स्थापना की, जो शहर ही नहीं, बिहार की पहली 'सरैयागंज बालचर' शाखा बनी। इसके बाद मारवाड़ी हाई इंग्लिश स्कूल और बी.बी. कॉलेजिएट में शाखा खोली और इसे तिरहुत से लेकर पूरे प्रांत में फैला दिया, जिस कारण वे बिहार के 'प्रांतीय स्काउटिंग संस्था' के प्रचार कमिश्नर ही नहीं बने बल्कि 'भारत स्काउट एंड गाइड्स' के सहकारी कमिश्नर, तिरहुत और कलकत्ता के डिस्ट्रिक्ट कमिश्नर के रूप में भी कई वर्षों तक कार्य किया। अपने इस बालचर मंडल के लिए उन्होंने दस नियम बनाकर 'बालचर प्रार्थना' भी लिखी -

'हृदय में बल दो भगवान !
करें पूरन निज काज महान।
पर-सेवा में जरा न हिचकें दे देने में जान।
भेदभाव तज सबको समझें भ्राता, मित्र समान।.....'

पुस्तकालय और वाचनालय खोलने के साथ उन्होंने पहली बार शहर में एक और संस्था का सृजन किया, नाम दिया- 'पद्य-पाठ-परिषद्', जिसमें कविता पाठ के साथ समस्या पूर्ति आदि भी की जाती थी। इस नई घटना से शहर में हलचल सी मची और कविता पाठ के समय काफी लोग जुटने लगे। यह सिलसिला लंबे समय तक चला। इसमें मोहन लाल महतो 'वियोगी', पं. जनार्दन झा 'द्विज', रामवृक्ष बेनीपुरी, रामजीवन शर्मा 'जीवन', भुवनेश्वर सिंह 'भुवन', जयकिशोर नारायण सिंह, मोहनलाल गुप्त, आरसी प्रसाद सिंह, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, ज्ञानमोहन दास, श्याम नंदन किशोर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, डॉ. दुर्गा प्रसाद नन्दे, कृष्ण जीवन भट्ट, लक्खी

प्रसाद वर्मा आदि इत्यादि के साथ न जाने कितने बाहर के कवियों ने शिरकत की, उसकी लम्बी फेहरिस्त है।

जिस धर्म समाज संस्कृत विद्यालय (जो अब कॉलेज है) के एक कमरा में परमेश्वर नारायण महथा और विश्वनाथ प्रसाद महथा ने 'नोबल रीडिंग क्लब' नाम से एक पुस्तकालय स्थापित किया था, उसे अयोध्या प्रसाद खत्री और यमुना प्रसाद ओझा के सुझाव पर 1903 में 'हिन्दी भाषा प्रचारिणी सभा' कर दिया गया। हिन्दी के उत्थान के लिए इस सभा ने बेहतर काम किया। इसी कारण नटवरजी ने लिखा कि 'आरा की नागरी प्रचारिणी सभा और यह हिन्दी प्रचारिणी सभा ही उस समय प्रान्त में श्रेष्ठ हिन्दी संस्थाएँ थीं।'

इसी 'हिन्दी भाषा प्रचारिणी सभा' के जब नटवरजी पुस्तकालयाध्यक्ष बने तो साहित्य के प्रति उनका अनुराग जगा और हिन्दी, उर्दू, भोजपुरी, बज्जिका और ब्रजभाषा में कविता करने लगे। धीरे-धीरे उनकी कविताएँ भिन्न पत्रिकाओं में छपने लगी। उस समय उनका नाम पत्रिकाओं में लतीफ हुसैन या लतीफ हुसैन नटवर छपा करता था।

पंद्रह साल की उम्र में उनकी तुकबंदियों का पहला संग्रह आने के बाद पीछे मुड़कर नहीं देखे। 1923 में 'गुलाल' कविता संग्रह, 1926 में 'धनुर्धर' नाटक, 1928 में 'बांसुरी' कविता संग्रह, 1951 में 'दीपिका' कविता संग्रह, 1954 में 'दांव-पेंच' कहानी की किताब आई। इसके अलावा कलंक (उपन्यास), भूतों की गिरफ्तारी (जासूसी), खुदीराम बोस (जीवनी), प्रजा शक्ति (नाटक), तिरछी चितवन (उर्दू शेरों का संग्रह) आदि पुस्तकें लिखी। उनके लिखे तीन एकांकी- स्वर्ग में 'सायरन', 'पब्लिसिटी' और 'ब्लैक मार्केट' है। यह अलग बात है कि इनमें से कई पुस्तकें प्रकाशित नहीं हो पाई और कई अब अनुपलब्ध हैं। इसके अलावा स्कूलों के लिए भी उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं जो मुजफ्फरपुर के बर्मन प्रेस से छपा करती थी। पुरानी बाजार स्थित यह बर्मन प्रेस खन्ना परिवार का था, जिसके सुरीले गीतकार गया प्रसाद खन्ना 'उदय' थे जो बाद में 'उदय खन्ना' नाम से फिल्मों में गीत लिखने बम्बई चले गए। कलकत्ता से जब कभी नटवरजी यहाँ आते तो इन्हीं खन्ना के घर रुकते या कांग्रेसी नेता मोहन लाल गुप्त के निवास, जो आगे चलकर एमएलए और मंत्री भी बने थे। उदय जी के घर पर कवि गोष्ठियाँ होती, जिसमें शहर के कवि-लेखक के साथ नटवरजी भी काव्य-पाठ किया करते।

नटवरजी की काव्य प्रतिभा इन दो कविता में उनकी काव्य प्रतिभा आप सभी परखें। 'शंखनाद' पूर्ण और 'कवि से उसकी बात न पूछो' का एक अंश देखिए -

1. शंखनाद

विजयी के उर उन्माद जाग,
पापिनी पराजय हार भाग।
आलस्य, फूट, भय, हट विकार,
ओ उष्ण रक्त बह प्रखर धार।
आँखें, भुज, पग, निज, पथ निहार,
वाणी भर ले तू शंखनाद।
विजयी के उर उन्माद जाग,
पापिनी पराजय हार भाग।
कंप उठे धरातल बार-बार,
दिग्गज भागें कर चीत्कार।
हिमवान, विन्ध्य उगले अंगार,
निधि, नदी, सरोवर बहे आग।

विजयी के उर उन्माद जाग,
पापिनी पराजय हार भाग।
अन्याय, दासता, अनाचार,
पर-पीड़ा, डाका, लूट-मार,
सब जल भुनकर हों क्षार क्षार,
कुन्दन बन चमके जय-सुहाग।
विजयी के उर उन्माद जाग,
पापिनी पराजय हार भाग।
नव प्रलयंकर का हो संहार
नव रणचंडी का शुभ सिंगार
तब शान्त सृष्टि का हो संवार
घर घर गूंजे फिर प्रेम राग।
विजयी के उर उन्माद जाग,
पापिनी पराजय हार भाग।

2. कवि से उसकी बात न पूछो

कवि से कवि की बात न पूछो,
रवि से उसका ताप न पूछो।
जो जल कर रस-रास रचाता
सब में रम सब को अपनाता
पालक, नाशक, सृष्टि-विधाता
उस रवि का उत्ताप न पूछो।
हिमगिरि को झकझोर हिलाता,
जल थल में हड़कम्प मचाता,
पल में प्रलय-दृश्य दिखलाता
वह झंझा उत्पात न पूछो।
कह न सके, कहते दुख पाये,
चुप रहने पर भी अकुलाये,
अबुझ वेदना बढ़ती जाये
वह दारुण सन्ताप न पूछो।
कवि से कवि की बात न पूछो.....।

पटना स्थित 'बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन' नामक संस्था का उदय मुजफ्फरपुर में ही हुआ था। पीर मुहम्मद 'मुनीस' के कहने पर नटवरजी ने मथुरा प्रसाद दीक्षित और रामधारी प्रसाद के साथ इसे शुरू किया, जिसका कार्य नवयुवक समिति कार्यालय से ही संचालित होता था। बाद में यह किराए के मकान में स्थानांतरित हुआ। इस सम्मेलन का 'सोनपुर मेला में, श्रद्धेय पं. जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के सभापतित्व में पहला अधिवेशन हुआ' था।

अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा स्थापित जिस 'हिन्दी भाषा प्रचारिणी सभा' को नटवरजी ने 1914 से 1919 तक

'सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक और क्रांतिकारी भावनाओं का मंदिर' बनाया था, वह लक्ष्मीनारायण गुप्त के कारण समाप्त हो गया। 'उसका समस्त सामान नव-संस्थापित 'हिन्दू-भवन' में उठवा लिया' गया किन्तु यह भी छः महीना होते-होते बन्द हो गया। इसी हिन्दू भवन में 19 अक्टूबर 1919 को जगन्नाथ प्रसाद के सभापतित्व में जो सार्वजनिक सभा हुई थी, उसी में 'बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना का प्रस्ताव पास हुआ था। हिन्दू भवन के टूटने के बाद हिन्दी भाषा प्रचारिणी सभा का सारा सामान इसी बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन में उन्होंने लाकर रख दिया। 1933-34 ई. में यह सम्मेलन भी बंद हो गया और फिर इसका सामान 'गोखलेपुरी' से होता हुआ 'सुहृद् संघ' की अलमारियों में जा पहुँचा।

1934 के विनाशकारी भूकम्प में हुई भयानक क्षति को देख यहाँ के 'पीड़ितों के आश्रय के लिए 'सर्वेन्ट ऑफ इंडिया सोसाइटी' ने 'गोखलेपुरी' का निर्माण किया' था। इसी गोखलेपुरी के पुस्तकालय-वाचनालय को सम्मेलन का सारा सामान नटवरजी ने दे दिया। जब यह भी ढीला पड़ने लगा तो इसके इंचार्ज कमलदेव नारायण ने वह सारा सामान एक नई संस्था, जो 'सुहृद संघ' नाम से खुली थी, उसे दे दिया। नटवरजी कहते हैं- "इस प्रकार सन् 1898 ई. का अंकुर पौधे से विशाल वृक्ष बनकर अनेक झोंके-थपेड़े खाता हुआ मानो उत्तराधिकार के रूप में इस 'संघ' को प्राप्त हुआ।"

गोखलेपुरी तिलक मैदान के पास अभी 'श्यामनंदन सरस्वती मध्य विद्यालय, गोखलेपुरी' के नाम से चल रहा है। कुछ का मानना है कि यह स्वतंत्रता सेनानी गोपाल कृष्ण गोखले के नाम पर बसा है, क्योंकि 34 के भूकम्प में महात्मा गाँधी के साथ गोपाल कृष्ण गोखले भी आए थे। किन्तु सत्य यही है कि गोखलेपुरी का निर्माण 1934 में भूकम्प से ग्रसित लोगों को आश्रय देने के लिए ही इसे बनाया गया था। हो सकता है बाद में यह स्कूल में परिणत हुआ हो और गोपाल कृष्ण गोखले गांधीजी के साथ भूकम्प का जायजा लेने जब यहाँ आए थे तो शायद उनका नाम इससे जुड़ गया हो।

इस गोखलेपुरी स्कूल का नाम बचपन से माँ से सुनता आया था। माँ स्कूल से लौटती तो कभी-काल कहती कि आज गोखलेपुरी स्कूल में टीचर्स मीटिंग थी, उसी से देर हो गई।

सुहृद संघ का अपना भवन, विशाल कैम्पस, बाल-उद्यान और रंगमंच होने के कारण यह 'प्रान्त ही नहीं, हिन्दी संसार की श्रेष्ठ संस्थाओं में उसका स्थान' हो चला था। आज इसके कैम्पस में नीतीश्वर महाविद्यालय चल रहा और सुहृद संघ नाम भर रह गया। इसी की आलमारी में अयोध्या प्रसाद खत्री की वह गठरी (उनकी कृतियाँ, प्रकाशित साहित्य, विज्ञप्ति, पर्चे, निबन्ध आदि) नटवरजी को मिली थी, जिस कारण आचार्य शिवपूजन सहाय एवं नालिन विलोचन शर्मा के सम्पादन में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से "अयोध्या प्रसाद खत्री-स्मारक ग्रन्थ" छप पाई, जो खत्रीजी के अवदान को जानने/समझने की कुंजी बनी।

जग कल्याण का कार्य तो नटवरजी कर ही रहे थे किन्तु उसके साथ-साथ कविता और लेखालेख भी लिख रहे थे, जो 'आज', 'विश्वामित्र', 'पाटलिपुत्र', 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'सेनापति', 'श्रीशारदा', 'मतवाला', 'प्रभा', 'संसार', 'हिंदूपंच', 'मनोरमा' आदि पत्रिकाओं में छप रही थी। 'दैनिक भारतमित्र' तथा 'कानपुर-गजट' के वे संवाददाता भी बने। 1919 में बर्मन प्रेस के 'रमणी-रत्नमाला' और 1923 में 'किसान-समाचार' के संयुक्त संपादक बने तो 1925 में साप्ताहिक 'आशा' के प्रधान संपादक।

कविताओं से अपनी छाप छोड़ने वाले नटवरजी को अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य के कवि-सम्मेलन में भी बुलाया जाने लगा, जहाँ कविता-पाठ से उन्होंने न केवल अपनी पहचान बनाई बल्कि वाहवाही भी लूटी। शिवपूजन सहाय कहते हैं- "वृंदावन के कवि सम्मेलन में आपकी कृष्णभक्तिमयी कविता सुनकर पं. किशोरी लालजी गोस्वामी ने जब आपको 'रहीम' कहकर वाहवाही दी, तो पं. जगन्नाथ प्रसादजी चतुर्वेदी ने छूटते ही

कहा था कि मैं तो उन्हें पहले ही 'रसखान' की पदवी दे चुका हूँ। वास्तव में आप आधुनिक 'रसखान' हैं भी।" इस तरह उनकी ख्याति बढ़ने लगी और वे हिन्दी पट्टी में जाने जाने लगे।

'बार बार देखि अनदेखी होती ज्ञात है'- शीर्षक से उनकी कविता के नीचे कोष्ठक में लिखा है - 'वृंदावन-सम्मेलन'। शायद यही कविता उन्होंने वृंदावन सम्मेलन में पढ़ी हो। चार पंक्तियाँ देखें -

"सोलह सिंगार साजि हिन्दी अलबेली आजु
ब्रज की सहेली संग बैठी इतरात है।
राधा श्री किशोरी के अधर लाल अमृत मैं
मानो सु चैतन्यता छबीली मुसकात है।"

कविता-लेख के साथ उन्होंने गीत, गजल, एकांकी, नाटक, उपन्यास और कहानियाँ भी लिखीं। 'दांवपेंच' नामक उनकी कहानियों की किताब में छोटी-बड़ी कुल आठ कहानियाँ- 'दांवपेंच', 'खो गया था', 'डबल डाका', 'सनीचर देवता की पूजा', 'बाबू मालिश', 'भोली भक्ति', 'नापाकिस्तान' और 'चतुर चतुरानन' नाम से संग्रहित है, जिसे उन्होंने 'हास्य-रहस्य की कहानियाँ' कही है। जाहिर है कि हास्य और मनोरंजन से भरपूर इन कहानियों की भाषा भी उन्होंने बोलचाल की भाषा में लिखी और शैली ऐसी कि पाठक उसकी गिराफ्त से छूटे नहीं। ललित कुमार सिंह का लालित्य इन कहानियों में अपने शीर्ष पर है। इन कहानियों के माध्यम से उन्होंने देश और सामाज के अंदर का खोखलापन उजागर किया।

ललित कुमार सिंह की भाषा देखनी हो तो 1938 में राँची के 16वें शबिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन' में सभापति पद से दिया गया उनका वक्तव्य काबिले गौर है। अपनी कविता से प्रारम्भ करते, श्रेष्ठ जनों को आदरपूर्वक संबोधित कर उन्होंने कविता की उत्पत्ति, भाषा, बोली और भाषा आंदोलन पर बात की। उन्होंने कहा कि 'कविता किसी भाव या स्कूल की नहीं होती है।' वे लम्बी कविता की जगह छोटी कविता के हिमायती रहे। 'लम्बी-ताड़ ऐसी कविता' के 'बहुत ही कम कायल' थे। वे कहते हैं 'महाकाव्य साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। साधारण जनता खजाना नहीं रखती, उसे दैनिक निर्वाह के लिये रेजगारी चाहिये, सोने या चांदी के सिल नहीं।'

उक्त संबोधन में उन्होंने कुछ प्राचीन संत कवियों को छोड़, राजा के तमाम आश्रयी कवियों की घोर निंदा करते कहा कि 'उनकी रचनाओं में कवित्व है, रस है, कविता के सभी गुण हैं लेकिन शृंगार रस के नाम से जो अश्लीलता या कामुक विवेचना का मवाद फदफदा रहा है, वह इतना भयानक और संक्रामक है कि अब रोक लगा देने की आवश्यकता आ पड़ी है।' वे राजाओं की स्तुति में उन कवियों द्वारा गढ़ी गई अतिशयोक्तियों और झूठी वीरता के गायन को इतिहास से परे बतलाया।

'शिवाजी न होते तो सुन्नत होत सबकी'- की खिल्ली उड़ाते ऐतिहासिक साक्ष्य रखा कि यह सभी जानते हैं कि 'औरंगजेब महाराष्ट्र प्रान्त को अपनी अखिल भारतीय बादशाहत के अधीन देखना चाहता था। इसीलिए शिवाजी से उसकी लड़ाई थी; न कि वह भारत के सारे हिन्दुओं को मुसलमान बना देना चाहता था।' इस तरह की अनर्गल, झूठी और खुशामदों से भरी कविताओं पर प्रतिबन्ध लगाने की बात कही थी। साथ यह भी जोड़ा कि 'उन कवियों की जीवनी की भी परख करनी चाहिए जिनकी सिकन्दरी भुजा सावधानी का संकेत कर रही' थी।

अपने वक्तव्य में उन्होंने 'कवि का स्थान वस्तुतः कर्ता के बराबर' माना। 'क्योंकि, सृष्टिकर्ता और कवि दोनों की निर्माण की हुई दुनिया मानवता के लिए आवश्यक' है। उन्होंने कवि को 'युग संचालक', 'पालक' और 'घालक' कहा। कवि को जवाबदेह बताते यह भी कहा कि 'इनके एक हाथ में अमृत है तो दूसरे में विष'।

स्वामी विवेकानन्द को कोट करते हुए कवि को भलाई-बुराई के बीच से भलाई चुन लेने वाला बताया। क्योंकि भावी संतान के लिए यही उपयोगी होता है।

कवि के संदर्भ में जो उनका काव्यात्मक वक्तव्य है। वह अभिभूत करने वाला है। गद्य में प्रस्तुत उस काव्यात्मक पंक्ति को यदि काव्य की तरह लिखा जाए तो वह इस तरह दिखेगा। उनके उस गद्य अंश को कविता की तरह मैंने सजाया भर है, जिसमें एक भी शब्द मेरे नहीं, नटवरजी के गद्य की पंक्तियाँ हैं। मुझे लगता है इसका शीर्षक 'कवि' ही होना चाहिए। आप सभी देख/परख कीजिए -

सूखे पत्तों की मरमर किसने सुनी
पहले पहल ?
किसके कानों में सबसे पहले
नदी की कलकल रागिनी ने अमृत ढाला ?
कौन था आरंभिक अनुभवी
झरनों के संगीत का ?
किसने पहचाना पहले -
पपीहे की पुकार में पिया
और
कोयल की कूक में हूक ?
किसने सम्बोधित करना शुरू किया -
भंवरों की भनभनाहट में
श्रुति सुधाकर .... स्निग्ध नाम ?
किसने समझा -
बादलों के संहारक वज्रनाद में
सौदामिनी के सौंदर्य को ?
किसने सिखलाया -
रिमझिम राग सुनना
मूसलाधार बरसात में ?
किसकी आंखों से देखी जाने लगी -
नद-नदी, वनों, पहाड़ियों की
लुभावनी प्राकृतिक छटा ?
किसने बिछाया वास्तव में -
धर्म, मुक्ति, आत्मा की
भूलभुलैया का महाजाल ?
किसने किया -
दुनिया की बनावट को सृष्टि कह
स्रष्टा की कल्पना और उसके
सहस्त्रों नामों का नामकरण ?
माया-बंधन से बचने का उपदेश,
उसकी मूर्ति का प्रथम पुजारी

कौन था ?
वेद, पुराण, शास्त्र, कुरान, बाइबल पद्य है तो
कर्ता उनका कौन ?
पशुता पर मनुष्यता का आवरण
ढंकने वाला यशस्वी जनक कौन ?
किसकी आंखों ने परखी –
पहले-पहल
फूलों की रंगीनी और हरियाली की शोभा ?
किसके कानों द्वारा हुआ परिचय
चिड़ियों की चहक का ?
किसने कराया अनुभव –
मलय पवन का स्पर्श ?
किस बेदर्द ने फैलाया –
मिलन की मस्ती का संक्रामक
और विरह वेदना ?
किसने की उत्पन्न –
सौंदर्य की बारीकियों की छानबीन
उसके आकर्षण-भोग की
उद्दाम उत्तेजना ?
सिखाया किसने –
कायर-मुर्दों में जोश का जादू भर
मौत से मुकाबिला करना ?
कौन बांटता है –
मजनुओं को उन्माद
फरहादों को कफन
यक्षों को अधीरता
ब्रजवनिताओं में बेकली ?
कौन प्रदान करता है –
सतवंती सीता, उर उन्मादिनी उर्मिला
यशस्विनी यशोधरा, शीला शकुन्तला को
अपूर्व सहनशक्ति ?
कौन गाता है –
विलासी राजाओं की वीरगाथा
प्रजापीड़क लालसा का गान ?
बरसाता है आंसू कौन
पीड़ित प्रजा की करुण कराह पर ?
वो कवि है... वो कवि है

कवि ही है इसका उत्तर।

नाट्य साधक नटवरजी समाज की समस्याओं, भ्रष्टाचार, अपराध, व्यावसायिक लूट-खसोट आदि, अपनी आँखों से देख रहे थे। उनका कोमल मन यह सब देख विचलित होता जिसे वे अपनी कविताओं में व्यक्त तो कर ही रहे थे। साथ ही उन्होंने उन समस्याओं को आवाम के सामने रखने के लिए सीधे-सीधे उन्हीं की बोली-वाणी में एकांकी का सृजन कर उन्हें जागृत करने लगे। 'चतुर चर', 'स्वर्ग में सायरन', 'पब्लिसिटी' और 'ब्लैक-मार्केट' एकांकी उसी की परिणति थी।

'चतुर चर' एकांकी में - कैसे किसी अपराधी को उसके द्वारा छोड़े गए निशान और संकेतों से पकड़ा जा सकता है, यह बात उन्होंने इस एकांकी के माध्यम से बतलाया, जो उनके स्काउट में दक्ष होने का प्रमाण भी है। विश्व युद्ध के समय बमबारी के पूर्व जो सायरन बजते थे, उसी की पृष्ठभूमि में 'स्वर्ग में सायरन' एकांकी की काल्पनिक रचना की। इसमें एक ओर इन्द्र, विष्णु, वृहस्पति, वरुण, यम और कुबेर जैसे देव पात्र रखे तो दूसरी ओर तिलक, एनिबेसेंट, कार्ल मार्क्स जैसे महापुरुष; विक्रमादित्य, अकबर, विल्सन आदि राजा तो तुलसी, कबीर, भूषण जैसे कवि गण। इन पात्रों के माध्यम से नटवरजी ने यह उपदेश दिया है कि मनुष्य निर्मित बम से 'यदि मर्त्यलोक न रहा, विश्व विध्वंस हो गया तो लोक-परलोक की क्या उपयोगिता' रह जायेगी। दुनिया में अशांति की वजह बलशाली देशों द्वारा कमजोर राष्ट्र पर एकाधिकार की कोशिश को बताते कहते हैं- 'जब तक राष्ट्रों में यह लुटेरी प्रवृतियाँ रहेंगी तब तक संसार में शांति न होगी।'

सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए लोग कैसे-कैसे हथकंडे अपनाते हैं, उसी को उद्‌घाटित करता उनका 'पब्लिसिटी' एकांकी है तो 'ब्लैक-मार्केट', स्वार्थपरक राजनीति, पीत-पत्रकारिता और व्यापारियों का छद्म चेहरा उजागर करता है। पब्लिसिटी एकांकी में उन्होंने दलित बस्ती की मार्मिक पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त की-

'धोबी हमरा कपड़ा न धोए, नाउ न काटे बार
रोग-बीमारी में केउ न देखे, अइसन विपत के मार।
सड़ल-गलल जूठा हम खाई, रहे के घर ना द्वार
गन्दा-गड़हा के पानी पिअइले है इ नरकवा के मार।
छाया पड़े, भिनसर मुंह देखे, दें सब गाली हजार
कुत्तो-बिलाई से नीचा गिनाइले येही है गतिया हमार।'

उनके 'ब्लैक-मार्केट' एकांकी को पढ़ते हुए आप वर्तमान समय को देख सकते हैं, क्योंकि कालाबाजारी आज भी बदस्तूर जारी है। इस एकांकी में 'कामरेड पिलपिल' और 'घुरघुरा शास्त्री' के माध्यम से कालाबाजार की व्याख्या करते बताते हैं कि- 'इसकी बुनियाद तब पड़ी थी जब गोरों ने कालों की मार्केटिंग यानी खरीद-बिक्री शुरू की थी। अर्थात् काले देशों को अपना बाजार बनाना आरम्भ किया था।' इस एकांकी में उन्होंने काला रंग को पूँजीपतियों का असली रंग बताया। कालाबाजारी करने वाले पूँजीपतियों और उनका साथ देने वाले कामरेडों, धर्मशास्त्रियों, पत्रकारों आदि का असली चेहरा खोल कर रख दिया। साथ ही उन्होंने 'धर्म, जाति, संस्कृति और सांप्रदायिक उभार' पर भी गहरी चोट की।

आजादी के आंदोलन में अपनी भूमिका निभाते हुए नटवरजी ने विदेशी वस्त्रों की होली जब 1921 में जलाई तब मुजफ्फरपुर के लोगों के साथ वस्त्रों की होली जलाते हुए उसके चारो ओर घूम-घूम कर जुल्मी सरकार के बारे में गाते रहे -

"आये थे व्यापार करन को
बन गये थानेदार।
नहीं रखनी जुल्मी सरकार।"

1916 के होमरुल आन्दोलन में सक्रिय रहने वाले नटवरजी, 1922 के गया कांग्रेस अधिवेशन में 'कांग्रेस सेवा दल' के प्रधान के रूप कार्य किया जिसने उन्हें गहरे रूप से कांग्रेस से जोड़ दिया और वे आजादी के आंदोलन में पूरी तरह शरीक हो गए। 1930 के नमक सत्याग्रह के समय बाबू रामदयालु सिंह के नेतृत्व में जो जत्था पैदल ही यहाँ से शिवहर गया था, उसके अग्रणी सेनानी नटवर जी थे, जहाँ नमक कानून तोड़ने के जुर्म में सभी के साथ वे भी गिरफ्तार कर जेल भेजे गए।

14 नवंबर, 1930 को राष्ट्रीय दिवस के समय जब तिलक मैदान के जिला कांग्रेस कार्यालय में करीब 64-65 फीट ऊँचे स्तंभ पर जन समूह ने तिरंगा फहराया। तब उस समय के एस.पी. हिचकॉक ने तिरंगे का डोर काट देने का आदेश दिया। इसी बीच उस भीड़ में शामिल एक अठारह वर्ष का बालक मंच पर चढ़ ललकार उठा कि जबतक इस शरीर में लहू है, इस लहराते तिरंगे को कोई नहीं झुका सकता। तभी हिचकॉक के आदेश से लाठीचार्ज शुरू हुई, किन्तु भीड़ मानने को राजी नहीं तब गोली चलाने का आदेश हुआ। परिणाम स्वरूप उस नौजवान 'भगवानलाल' को इंस्पेक्टर तौहीद खाँ ने तीन गोलियाँ मारकर शहीद कर दिया और इस भीड़ का नेतृत्व करने वालों में से एक नटवरजी को अपने पैंतीस साथियों के साथ गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया।

यह उनकी नेतृत्व क्षमता का ही कमाल था कि जब सेवा दल को सरकार ने गैर कानूनी घोषित कर दिया तब वे अपने 500 सहयोगियों के साथ सत्याग्रह पर बैठ गए। इस कारण उन सभी सहयोगियों के साथ उन्हें गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। जेल जाने पर भी आजादी के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था, उसे उनकी इन पंक्तियों में देख सकते हैं -

'तन बन्दी हो क्या हुआ ? मन संचित कर शक्ति,
विद्युत से भी तीव्र गति, उड़ उड़ खोजे मुक्ति।'

सरैयागंज चौक पर स्थित जो गाँधी जी की मूर्ति स्थापित की गई थी उसका उद्घाटन् डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने किया था। उस टॉवर पर सौ शहीदों के नाम अंकित हैं। उस सूची को तैयार कर अंकित कराने के पीछे नटवरजी ही थे।

आजादी के आंदोलन में बहुत सारे स्वार्थी लोग भी घुस आए थे, जो खुद को बड़ा देशभक्त बता रहे थे। उन सबकी पहचान नटवरजी ने उसी तरह की, जैसे नकली कवि, नकली उपदेशक, नकली लीडर की की। उनकी लिखी 'नकली देशभक्त' कविता पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे वर्तमान समय को रेखांकित कर रही हो-

नकली देशभक्त

मुँह में राम बगल में छूरी, कर चरितार्थ दिखाऊँ ।
देशभक्ति के पवित्र नाम पर भी कालिख लगवाऊँ।।
भोले भाले अनजानों को गहरा फांस फंसाऊँ ।
सुनी, रटी, लेक्चर से उन पर खूब ही असर जमाऊँ।।
दिखलावा है जोश हमारा पर सच्चा जतलाऊँ ।
अपने को है माफ सभी कुछ, पर को ज्ञान सिखाऊँ।।
करूं पाप व्यभिचार छिपा कर कोई पता नहिं पावे ।
कर सब के सम्मुख अपने को ब्रह्मचारी बतलावे।।
लिखना पढ़ना तेरही बाईस बातें खूब बनाऊँ ।
कर कर के चटुक्ति, सबों से बस रुपया ठग लाऊँ।।
जिस समाज में मिलूं मैं जाकर वैसही भाव बनाऊँ ।

मीठी और उन्हीं के ढंग की बातें उन्हें सुनाऊँ।।
बड़ों बड़ों की निन्दा करना प्रथम काम है भाई।
औ अपनी अति मिला जुला कर सबसे करूं बड़ाई।।
कहिये साहब कैसा हूँ मैं देशभक्त अलबेला ।
होगी उन्नति अवश्य देश की आई गई शुभ बेला।।
क्योंकि मेरे ऐसों की है कमी नहीं भारत में ।
देशभक्ति का जामा पहिने फंसे हुए स्वारथ में।।

1930 से ही नटवरजी फिल्मों में अभिनय के लिए कलकत्ता जाने लगे थे, किन्तु फिल्मों में अभिनय का जुनून उन्हें मुजफ्फरपुर पूरी तरह छोड़ने को विवश कर दिया और वे यहाँ की अपनी संपत्ति बेच 1937 में कलकत्ता शिफ्ट कर गए। मुजफ्फरपुर के मारवाड़ी समाज में उनकी गहरी पैठ होने के कारण उन्हें कलकत्ता में टिकने में सहूलियत हुई। कलकत्ता के 47, जकारिया स्ट्रीट में उन्हीं बाबू ईश्वरदास जालान के घर रुके जिनका जन्म 30 मार्च 1895 को मुजफ्फरपुर में गौरीदत्त जालान के घर हुआ था।

अपने जीवन काल में नटवरजी ने अनेक संस्थाएँ ही नहीं खड़ी की बल्कि कई संस्थाओं के संरक्षक भी रहे। कलकत्ता प्रवास के दौरान वहाँ भी उन्होंने 1950 में बंगीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की और तीन वर्ष तक इसके मंत्री रहे। कलकत्ता जैसे हिन्दी विरोधी क्षेत्र में यह करना उनके हिन्दी के प्रति अनुराग का उदाहरण है, जिसे उनकी इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

'हिन्दी हित जप रे भाई, धर हिन्दी पर ध्यान
हिन्दी हित सब अर्पण कर दे, जो चाहे कल्याण।'

हिन्दी के प्रति उनका अनुराग अयोध्या प्रसाद खत्री की तरह था। वे भी अशुद्ध या कुरुचिपूर्ण किताब के सख़्त खिलाफ थे। हिन्दी के प्रति उनकी दीवानगी का किस्सा बताते लोग कहते कि कलकत्ता में एक बार निराला जयंती मनाई जाने वाली थी, जिसका शुभारंभ रवीन्द्रनाथ टैगोर के गीत से होना था। तब नटवर जी ने इसका विरोध करते कहा कि 'मेरा निराला इतना दरिद्र नहीं है', और झट 'वर दे, वीणा वादिनी वर दे' तैयार करवा कर उसी गीत से उस कार्यक्रम का शुभारंभ कराया।

फिल्मों में तुरंत कोई काम तो मिल जाता नहीं, इसलिए संघर्ष करते हुए वहाँ के बच्चों को हिन्दी पढ़ाने का काम करने लगे। यह जानकर आश्चर्य होगा कि उनसे हिन्दी सीखने वालों में एक बच्ची ऐसी भी थी, जो आगे चलकर बांग्ला और हिन्दी फिल्मों की नामचीन तारिका बनी– शर्मिला टैगोर। इसके साथ ही वे नाट्य संस्था से जुड़कर हिन्दी प्रचार का काम भी शुरू किया। 'बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की की तर्ज पर 'कलकत्ता जैसे कट्टर अहिन्दी भाषी और हिन्दी विरोधी नगर में बंगीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना करके' उन्होंने 'अपनी गहन हिन्दी-निष्ठा का उदाहरण सामने रखा।' इस कार्य से उन्हें वहाँ ख्याति भी मिली और फिल्मों में संवाद लेखन का काम मिलने लगा। 'वे न्यू थियेटर कलकत्ता में संवाद और पटकथा लिखने के लिए नियुक्त हो गए।'

उक्त कार्य करते हुए वे चितपुर रोड (समय सारणि) स्थित निहाल चन्द्र वर्मा की 'हिन्दी नाट्य परिषद्' से जुड़े और अभिनय तथा निर्देशन का काम संभाला। इससे जुड़कर नटवर जी ने जो महत्त्वपूर्ण काम किया उसकी चर्चा करते सरदार रामऔतार सिंह लिखते हैं– "60 साल पहले कलकत्ता के हिन्दी नाट्य अभिनय एवं पात्रों के संवाद कथन में पारसी रंगमंच का प्रबल प्रभाव था।... परिषद् के साथ नटवर जी के जुड़ जाने से न केवल हिन्दी नाटकों पर पारसी प्रभाव का अंत हुआ बल्कि कलकत्ता में आधुनिक हिन्दी रंगमंच एवं नाट्य

अभिनय का विस्तार हुआ। इस समय देश भर में ख्याति प्राप्त कलकत्ता की हिन्दी नाट्य संस्था 'अनामिका' की स्थापना में नटवर जी की ही प्रेरणा थी।" बाद में वे इस परिषद् के प्रमुख भी हुए।

इस नाट्य परिषद् द्वारा प्रदर्शित नाटकों में 'महानिशा' नामक बांग्ला नाटक का 'पुनर्निर्माण' नाम से हिन्दी रूपान्तर कर उसका निर्देशन करते हुए दुर्वासा ऋषि की अविस्मरणीय भूमिका निभाई। यह मिनर्वा थियेटर में 12 सितंबर 1941 को मंचित हुआ था। गोविन्द बल्लभ पन्त रचित 'अंगूर की बेटी' का निर्देशन करते हुए माधव नामक पात्र की भूमिका की, जो 17 अगस्त 1943 को मंचित हुआ। हरिकृष्ण रचित 'राजस्थान गौरव' में दिल्ली के बादशाह की भूमिका की, जो 27 सितंबर 1944 को मंचित हुआ तो 6 अप्रैल 1955 को मंचित 'जय चित्तौड़' में अलाउद्दीन की भूमिका के साथ उन्होंने निर्देशन भी किया। कलकत्ता के स्कॉटिश चर्च कॉलेज में उपेन्द्र नाथ अश्क रचित नाटक 'अधिकार का रक्षक' तथा 'नया समाज' एवं 'नारी' का निर्देशन किया। डी.एल. रॉय लिखित 'चंद्रगुप्त' में नटवरजी ने राक्षस की भूमिका निभाते हुए उसका भी निर्देशन किया। ताराचन्द दत्त स्ट्रीट स्थित 'मून लाइट' सिनेमा हॉल में भी उन्होंने नाटक मंचित किए। इस हॉल में सिनेमा के अलावा रविवार को नाटकों का भी प्रदर्शन होता था।

कलकत्ता में उनके सहयोगियों में भगवती चरण वर्मा, सरदार रामावतार सिंह, श्रीपति मिश्र, परमेष्ठीदास जैन, जुगल किशोर बाजपेयी, हीरालाल लोहिया (राम मनोहर लोहिया के पिता), गुलाब रत्न बाजपेयी, रामनाथ द्विवेदी 'आजाद', दीनानाथ आदि थे। तो शिवपूजन सहाय, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', मथुरा प्रसाद दीक्षित, रामदयालु सिंह, बिन्दा बाबू, बनवारी लाल खत्री, ब्रजबिहारी प्रसाद, छविनाथ पाण्डे आदि दोस्त।

कलकत्ता के 'न्यू थियेटर' फिल्म कंपनी में देवकी बोस और बी. एन. सरकार की प्रायः सभी फिल्मों में उन्होंने संवाद और गीत लिखे। फिल्मीस्तान स्टूडियो की फिल्म 'प्रेसीडेंट', जिसमें के. एल. सहगल गायक थे, भारतलक्ष्मी स्टूडियो की 'रामायण', भगवती चरण वर्मा की कथा पर फिल्मीस्तान द्वारा बनाई गई फिल्म 'चित्रलेखा' में भी उन्होंने संवाद लिखे। चित्रलेखा फिल्म में संवाद को लेकर भगवती चरण वर्मा और केदार शर्मा में तीखी नोक-झोंक होने लगी तो नटवर जी ने संवाद का ऐसा परिमार्जन किया कि दोनों उनके मुरीद हो गए।

'बिहार के दिवंगत साहित्यकार' में सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर लिखते हैं कि "प्रेमचंद लिखित 'मिल मजदूर' पर हिन्दी फिल्म-निर्माण के दौरान उन्होंने उसमें छोटी सी भूमिका अदा की थी। उस फिल्म में खुद प्रेमचंद ने सरपंच का अभिनय किया था।"..."इसके अतिरिक्त वे 'हरिकीर्तन', 'आशा', 'औलाद', 'तुम्हारी जीत' आदि फिल्मों के अभिनेता तथा संवाद एवं गीत-लेखक भी थे।"

प्रेमचन्द लिखित फिल्म 'मिल मजदूर' जनता तक नहीं पहुँच सकी। इस फिल्म को सेंसर बोर्ड ने इस आधार पर पास नहीं किया क्योंकि यह कपड़ा मिल मजदूरों के शोषण और अत्याचार को हुबहू दिखला रही थी और इसके प्रदर्शन से मजदूरों में आक्रोश पनप सकता था। इसे फिर से संशोधित कर 'सेठ की लड़की' नाम से फिल्म को सेंसर के पास भेजा गया। तब भी सेंसर बोर्ड ने प्रमाण पत्र देने से इंकार किया तब फिल्म को काट-छाँट कर 'दया की देवी' नाम से भेजी गई। 1934 में बनी फिल्म 1936 में जाकर पास हुई और जब यह कुछ सिनेमा हॉल में प्रदर्शित हुई तो मुंबई के टेक्सटाइल कॉरपोरेट ने इसे बैन करा दिया। चूँकि टेक्सटाइल कॉरपोरेट्स का सेंसर बोर्ड पर कब्जा था इसलिए प्रेमचन्द ने बम्बई को अलविदा करते कहा कि 'शराब के धन्धे की तरह ही फिल्म का बिजनेस, बिजनेस माफिया चला रहे हैं, क्या दिखाना है, क्या नहीं दिखाना है, सब वही तय करते हैं, इसलिए अब फिल्मों के लिए आगे लिखना सम्भव नहीं।' इस तरह, इस फिल्म में की गई नटवरजी की भूमिका को देखने से लोग वंचित रह गए।

अभिनय के बारे में उनकी मान्यता थी कि 'सच्चा अभिनेता वही है जो रूप-परिवर्तन में अंतर्बिम्ब को भी

मिला दे।' अर्थात् मेकअप करने के बावजूद अभिनेता यदि उसी के अनुरूप अपनी भाव भंगिमा, चाल ढाल और संवाद अदायेगी नहीं बदल सकता है तो वह सफल अभिनेता नहीं हो सकता।

अभिनय के जिस मुकाम को हासिल करने की सोच ले वे कलकत्ता गए थे, उसमें उन्हें क्या हासिल हुआ, वह उन्हीं से जाने – 'मैं तो आपलोगों से अलग जा बसा हूँ। एन.टी. (न्यू थियेटर) के टीन के फाटक के अन्दर बेलने को सारा पापड़ बेला, लेकिन न नेता बन सका, न अभिनेता। माया तो मिली, मगर राम न मिले।'

1951 में जब नाट्य सम्राट पृथ्वीराज कपूर मुजफ्फरपुर अपनी नाट्य मंडली के साथ आये थे तो इसकी सूचना पाकर नटवरजी भी मुजफ्फरपुर आ गए। पृथ्वीराज कपूर यहाँ के गणेश टॉकीज में लगातार दस दिनों तक अपने नाटक की प्रस्तुति दी। उस दौरान कवि रमण जी के नेतृत्व में यहाँ के साहित्यकारों ने उन्हें एक कविता गोष्ठी में आमंत्रित किया तो सहर्ष वे उस गोष्ठी में पहुँच गए और नटवरजी के साथ अन्य लोगों की रचनाएँ मनोयोग से सुनी। रमण जी की अध्यक्षता में चार घंटे तक चला यह आयोजन मिठनपुरा स्थित कथाकार हरीश जायसवाल के घर पर संपन्न हुआ था।

कलकत्ता में जब कभी वे बीमार पड़ते तो उन्हें देखने वाले 'दो चिकित्सक थे, जो उन्हें नि:शुल्क चिकित्सा देते थे। उनमें एक थे चौरी चौरा कांड के नायक डॉ. माधोराम सोफट और दूसरे थे डॉ. किशोरीलाल।' किन्तु 1968 में उनकी तबियत कुछ ज्यादा नासाज हो गई और चिकित्सकों की दवा जब बेअसर होने लगी तो मुजफ्फरपुर के अपने प्रिय साथी और शिष्य मोहनलाल गुप्त को पत्र भेजा कि 'मैं मौत की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच गया हूँ और मेरी इच्छा है कि मैं अपने साथियों के बीच मुजफ्फरपुर में ही प्राण विसर्जन करूँ।' मोहनलाल गुप्त कलकत्ता जाकर उन्हें ले आए और अपने नया टोला स्थित घर में रखकर दिन-रात सेवा की।

4 दिसंबर 1968 की सुबह 6 बजकर 40 मिनट पर वह नीली आँखों वाला छरहरा गठीला बदन, चौड़ी छाती, ऊँचा ललाट और लम्बी कद काठी की काया सदा के लिए चुप हो गई। और चुप हो गया शहर। ठहर सा गया नगर। सूतापट्टी, तिलक मैदान, सरैयागंज, घिरनी पोखर, गोला रोड, पुरानी बाजार, ब्राह्मण टोली, नई बाजार आदि से निकल पड़े लोग, साथी, सहचर, दोस्त के साथ लेखक-कवियों की फौज और उमड़ पड़ा शहर। बारह बजे निकली उनकी शव यात्रा का पहला पड़ाव नवयुवक समिति रहा। फिर वहाँ से जन सैलाब के संग आश्रम घाट पहुँच उनका शरीर पंचतत्व में विलीन हो गया।

नटवरजी पर काम करते समय कुछ लोगों ने बताया कि सूतापट्टी में उनका एक मजार है! तो चकित हो उसे देखने चला गया। आसपास के लोगों ने कहा कि रंग रोगन होने के कारण लतीफ हुसैन लिखा नाम ढंक गया है। उसकी तस्वीर लेकर लौट पड़ा और सोचता रहा कि जब भरी भीड़ के सामने उनका दाह संस्कार हुआ था तो ये मजार कैसे बना ? इसका किसी के पास कोई उत्तर नहीं।

इस आलेख की समाप्ति से पूर्व उनकी लिखी अन्तिम कविता से आप सभी रूबरू होइए, जो उनके किसी संग्रह में नहीं है –

बागमती

ब्याघ्रमुखी, ओ तरल-प्रलय, अति उद्दत-गति मतिवाली,
किस अभिनव-अभिसार हेतु तू दौड़ रही मतवाली ?
विद्धि-बंकिम-रेखाओं-सी धरती की भाग्य कहानी
पानी के अक्षर से लिखती रहती है मनमानी।
उमड़-उमड़ उठती असीम तब नाश दृश्य दिखलाती
उलट-पुलट सब धुला बहाकर रचना नई रचाती,

मिट्टी में अर्पित की निज को चमत्कार प्रगटाती
ओ बर्बर, तू उर्बर-उर हो, हरित स्वर्ण बिखराती।
कितने शासक, साधक, कवि तेरे आंचल में आए,
कितने गांव मिटाये तूने, कितने नये बसाये।
पावस की मदिरा पीकर ही तू पगली बन जाती,
वैसे वू धीरा-गंभीरा सदा शान्त-रस-माती।
वाकमती, सुर-दुर्लभ-सुर है तेरे मधु-कलकल में
नभ धो लेता है निजमल तब उज्बल निर्मल जल में।

❖❖❖

शोधालेख

अमेरिकी प्रवासी हिंदी साहित्य एवं स्त्री मन का यथार्थ

❍ शालू✡

संक्षिप्ति :

हिंदी का प्रवासी साहित्यकार जब भारतीय परिवेश को छोड़कर पश्चिमी परिवेश में जाता है तब उसके जीवन में भारतीय व पश्चिमी दोनों परिवेश में होने वाले परिवर्तन से अनेक विषमताएँ व जटिलताएँ आती हैं जिससे वह पुराने विचारों, संस्कारों, मान्यताओं तथा मूल्यों को नयी दृष्टि के आधार पर देखता है। इस अवधारणा की साफ झलक उनके साहित्य में देखने को मिलती है। विश्व में प्रवासी साहित्यकार एक ओर भारतीय एवं पश्चिमी समाज को एकता के सूत्र में जोड़ने का कार्य करता है तो दूसरी ओर विदेशों की भौतिक चमक-दमक और खुलेपन, जीवनशैली व भाषागत भिन्नता तथा मानसिक एवं नैतिक अंतर्द्वंद्व से प्रभावित भी होता है।

बीज शब्द : त्रासदी, पितृसत्तात्मक, मानसिकता, द्वंद्वात्मक, अस्मिता, दकियानूसी, आत्मनिर्भर, तनावग्रस्त, संप्रेषित, धनार्जन।

अमेरिकी समाज में प्रवासी स्त्रियाँ मुख्यधारा में आने के लिए प्रयासरत हैं। उन्होंने अपने जीवन के यथार्थ अनुभवों, परिस्थितियों तथा द्वंद्वों को साहित्य के माध्यम से दर्शाने का प्रयास किया हैं। अमेरिका की प्रवासी महिला साहित्यकारों में सुषम बेदी, उषा प्रियवंदा, सुदर्शन प्रियदर्शिनी, अनिल प्रभा कुमार, इला प्रसाद तथा सुधा ओम ढींगरा का योगदान प्रशंसनीय है। इन लेखिकाओं द्वारा रचित कथा साहित्य में स्त्री मुक्ति के स्वर की अनुगूँज उजागर होती है। इस प्रकार विदेशों में भी भारतीय स्त्रियों की अस्मिता एवं अस्तित्व का सर्जनात्मक लेखन उभरकर सामने आता है।

अमेरिकी प्रवासी साहित्यकारों द्वारा स्त्री जीवन के विविध स्वरूपों का यथार्थ अंकन किया गया है। 1990 के दशक में भारतीय पीढ़ी विकसित देशों की ओर आकर्षित हुई। विदेशों में भारतीय अधिक धनार्जन, उज्ज्वल भविष्य तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य को लेकर जाते हैं। अधिकांशतः भारतीय नागरिक सुखमय जीवन व्यतीत करने के लक्ष्य से विदेशों में ही रहने का निश्चय कर लेते हैं। इन परिस्थितियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है। पश्चिमी समाज में स्त्रियाँ दोहरा जीवन जीने के लिए विवश हो रही हैं। वस्तुतः इस दोहरे परिवेश में जीवनयापन करने से उनके व्यक्तित्व में परिवर्तन आने लगता है। इला प्रसाद कृत उपन्यास 'रोशनी आधी अधूरी सी' में शुचि अकेले में अपने व्यक्तित्व के बारे में सोचते हुए कहती

✡ *शोधार्थी, हिंदी विभाग, हिमाचल प्रदेश केंद्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला, जिला-काँगड़ा, हिमाचल प्रदेश-176215; ई-मेल: shalubabbar0@gmail.com*

है, "हम दो नावों में पैर रखकर जीते हैं और कोई समझता भी नहीं। पहले की लडकियाँ मायके और सुसराल बंटा हुआ मन लेकर जीती थीं। आज वे अमेरिका और भारत के बीच जीती हैं। किसे अपना कहे? किसे पराया? दोनों ही अपने, दोनों पराए।"[1] प्रवास में अनेक बड़ी उपलब्धियों को पाने के लिए भारतीय स्त्रियों को मूक होकर शिक्षा, नौकरी, आवास, भाषा इत्यादि समस्याओं को झेलना पड़ता है। यही कारण है कि प्रवासी महिला साहित्यकारों के साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से प्रवासियों की पीड़ा, संघर्ष, विचारधारा का संपुटन मिलता हैं। भारतीय स्त्रियों को विदेशों में समझौते की जिंदगी, वैवाहिक जीवन में विखंडन, पारिवारिक संबंधों में अलगाव, बेगानेपन की त्रासदी, पीढ़ीगत अंतर, सांस्कृतिक टकराहट तथा मानसिकता का बिखराव आदि अनेक समस्याओं का समाधान अकेले करना पड़ता है।

भारतीय व पाश्चात्य मूल्यों में टकराहट

भारतीय व पश्चिमी पृष्ठभूमि के अंतर्गत सांस्कृतिक, नैतिक मूल्यों की टकराहट को साहित्य की विभिन्न विधाओं में व्यापक रूप से अभिव्यक्त किया गया है। इससे प्रवासी भारतीय स्त्रियों के मनोभाव एवं उनकी मानसिक स्थिति तनावग्रस्त हो रही है। इतना ही नहीं, एक ओर प्रवासी भारतीय साहित्यकार भावनात्मक रूप से भारत से जुड़े हुए हैं, तो दूसरी ओर आर्थिक रूप से पश्चिमी देशों पर निर्भर होते हैं। हालाँकि, पश्चिम देशों की तुलना में भारतीय समाज एवं संस्कृति पूर्णत: भिन्न है। भारतीय परिवार में घर का सबसे बड़ा सदस्य परिवार का मुखिया होता है। अन्य सभी सदस्य उनके द्वारा दिए गए निर्णयों का अनुसरण करते हैं। जबकि अमेरिकन परिवार में मुखिया केवल सांकेतिक मात्र का ही होता है। "अमेरिकन परिवार में पति का नेतृत्व सांकेतिक होता है, जबकि पत्नी घर की वास्तविक मुखिया होती है। संपत्ति, घर या कार आदि ग्राम तौर पर पति और पत्नी दोनों के नाम से खरीदी और बनाई जाती है। हिसाब-किताब की जांच अक्सर दोनों मिलकर करते हैं और मासिक घरेलू खर्च के बिलों की अदायगी और आय कर का हिसाब स्त्रियाँ करती हैं।"[2]

मनुष्य जिस समाज एवं परिवेश में होता है उसी आधार पर उसकी विचारधारा भी परिवर्तित हो जाती है। यूरोपीय देशों में स्त्री-पुरूष दोनों को समान अधिकार व महत्त्व दिए जाते हैं। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह भी होता है कि यूरोपीय देशों में स्त्री आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो चुकी है। वस्तुत: स्त्रियां अपने हितों के लिए आवाज उठाती हैं। जिसके परिणामस्वरूप उनके स्वत्व, अस्मिता व अस्तित्व को स्थापित करने के लिए काफी सुधार हुए है।

विकसित देशों में स्त्री अंतर्मन में व्याप्त अनेक सूक्ष्म बिंदुओं जैसे विवाहेतर प्रेम संबंध, अर्थहीन रिश्ते, मानवीय व नैतिक मूल्यों की टकराहट, वृद्ध व बच्चों की समस्याएँ, पुरानी व नयी पीढ़ी के बीच आदर्शों और संस्कारों के त्यागने व अपनाने का द्वंद्व आदि विविध आयामों को अभिव्यक्त किया गया है। अमेरिकी प्रसिद्ध लेखिका सुधा ओम ढींगरा कृत कहानी 'कमरा नं. 103' में संतान द्वारा उपेक्षित माँ के अंतर्मन में उठी चिंताओं, विडंबनाओं तथा विवशताओं को उजागर करती है। अमेरिका में बीमार मिसेज वर्मा को उसके बेटा-बहु घर में लगे जाले उतारने की तरह अस्तपाल में छोड़ आते हैं। "अस्तपाल में एडमिट करवाने उनका बेटा और बहू आये थे। उनकी गम्भीर अवस्था को देखते हुए उन्हें आईसीयू में रखा गया था। बेटे और बहू को एक-दो बार आईसीयू के बाहर लॉबी में बैठा देखा गया। ज्यों ही उन्हें आईसीयू से कमरा नं. 103 में स्थानान्तर किया गया, उस दिन से बहू और बेटे की सूरत नहीं देखी वो घर के फालतू सामान की तरह छोड़ गये।"[3] माँ अपने बहु-बेटे के इंतजार में तिल-तिलकर अस्तपाल में दम तोड़ देती है। कहानी में माँ की संवेदना को दो पीढ़ियों की द्वंद्वात्मक टकराहट तथा अपने परिवार से अलग होकर नियति का शिकार बनती दशा की ओर निरूपित किया गया है। इसी तरह की विषयवस्तु को प्रस्तुत करती सुषम बेदी कृत कहानी 'अवसान' तथा सुदर्शन प्रियदर्शनी कृत कहानी 'अखबारवाला' है।

प्रवासी लेखिकाओं ने अमेरिकी समाज में भारतीय स्त्री की जीवनशैली को यथार्थ की कसौटी पर कसा है। 'न भेज्यो बिदेस' में रत्ती अपने पति प्रीतम के नाम का चूड़ा पहनकर भविष्य में सुनहरे सपनों को लिए अमेरिका में आई थी, पर वहाँ पहुँचने के बाद उसे पता चलता है कि प्रीतम पहले से ही शादीशुदा है तथा उसके लूना नाम की लड़की के साथ अवैध संबंध भी है। लेखिका ने रत्ती के जीवन से स्त्री की असहाय स्थिति, सामाजिक बंधनों में घुटन तथा उसकी छटपटाहट को रेखांकित किया है। "उसके बाप ने तो उम्र-भर जिंदगी को एक व्यापार और औरत को इस्तेमाल की चीज ही समझा है। औरत अगर काम आ सकती है तो ठीक नहीं तो उसकी जगह दरवाजे के पीछे लगी जूतियों की कतार में है। सदियों से यही दुहराया जाता रहा है और आज भी कुछ नहीं बदला।"[4] प्रवासी लेखिकाओं द्वारा रचित साहित्य की एक विशेषता यह हैं कि स्त्री के अंत:कारण की पीड़ा, आत्मबोध, कमजोरी तथा संघर्ष का यथार्थ चित्रण साहित्य में किया गया है। अमेरिका जैसे विकसित देशों में भी स्त्रियाँ अपने पति का एकनिष्ठ प्यार पाने के लिए रोती-तड़पती नहीं है। अतएव उद्देश्यपूर्ण और सार्थक जीवन जीने के लिए नए-नए मार्ग को खोजती हैं। अंतत: आत्मनिर्भर व दृढ़ निश्चय की प्रवृत्ति लिए आगे बढ़ती हैं।

पारिवारिक संबंधों में बिखराव

पारिवारिक संबंधों में बिखराव का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है रिश्तों में विश्वास का अभाव। भारतीय संस्कृति के अंतर्गत बच्चों को बचपन से ही सिखाया जाता है कि हमें बड़ों का आदर और छोटों से प्रेम का भाव रखना चाहिए। ताकि विषम परिस्थितियों में एक-दूसरे की सहायता कर सकें। इसी उद्देश्य से 'हवन' उपन्यास की गुड्डो अपनी छोटी बहन पिंकी के पास अमेरिका चली जाती है। परंतु पश्चिमी देश की संस्कृति से गुड्डो अपरिचित थी। यहाँ आकर उसने अनुभव किया कि अमेरिकन लोगों में अपनेपन का भाव ही नहीं है, जिस तरह का भाव भारतीय समाज के लोगों में देखने मिलता है। इस प्रकार गुड्डो अपनी छोटी बहन पिंकी में लालची दृष्टि, स्वार्थीपन तथा परायेपन की भावना को देखती है। "आप क्या समझती हैं, यहाँ आकर मैं कुछ और हो गई हूँ- मेरी वैल्यूज, मेरे संस्कार बदल गए हैं- आपकी वहाँ कभी हिम्मत ही नहीं हुई थी और मेरे घर में ही आप मेरे मेहमान बनकर मुझे लूट रही हैं- मैं लिहाज और मुरव्वत बरतती रही।"[5] उपन्यास में बीजी गुड्डो को अमेरिका जाने से बार-बार मना भी करती हैं। बीजी के शब्दों में "कुछ नहीं रखा अमेरिका में। ऐसे ही धक्के खाओगी, छोटी बहन पर भी बोझ डालोगी।"[6] विकसित देशों में भारत की अपेक्षा अधिक धनार्जन किया जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य के आधार पर सुषम बेदी ने गुड्डो को आधुनिक नारी के रूप में रेखांकित करने का प्रयास किया है। पति की मृत्यु के पश्चात् गुड्डो के ऊपर जिम्मेदारियों का बोझ भी बना हुआ था। अमेरिका में वह आत्मनिर्भर होने के लिए तथा अपने जीवन को संवारने के उद्देश्य से जाना चाहती थी। वह बीजी से अंतर्मन की बात कहती है, "अमेरिका जाकर कुछ पैसे वाली तो होगी, वर्मा सारी उमर दूसरों का मुँह जोहना पड़ेगा- आखिर दो-दो बेटियाँ ब्याहनी है।"[7] अमेरिकन लेखिकाओं द्वारा यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि विकसित देशों में आर्थिक संपन्नता के बावजूद भी रिश्तों में दूरी आ गयी है; तथापि पारिवारिक सदस्य एक ही शहर में रहते हुए एकाकी जीवन व्यतीत करने के पक्ष पर रहते हैं।

शिक्षित नारी का स्पष्टवादी दृष्टिकोण

आधुनिक समाज में शिक्षा स्त्रियों की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करती है। समाज का उद्देश्य स्त्रियों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना है। वास्तव में शिक्षित स्त्री ही प्रत्येक समस्या का समाधान अपनी बौद्धिक क्षमता के आधार पर कर सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय एवं पश्चिमी समाज में शिक्षित नारी अपमानजनक समझौते के लिए तैयार नहीं होती बल्कि वह अपने अस्तित्व व अधिकार के लिए पुरुषों को

त्यागकर अपने नए जीवन की शुरुआत करने की क्षमता रखती हैं। 'शेषयात्रा' उपन्यास की नायिका अनु के लिए अपने पति प्रणव से तलाक वरदान के सामान है। इससे एक ओर अनु के मन में आत्मविश्वास का भाव जगता है। तो दूसरी ओर वह अनचाहे रिश्ते से मुक्ति की सांस लेती है। समाज में स्त्री के आत्मनिर्भर होने पर तलाक को लेकर सामाजिक मानसिकता भयावह है। प्राय: भारतीय समाज की तलाकशुदा स्त्री को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। "तलाक के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण स्त्री के पक्ष में नहीं जाता, सारी गलती स्त्री की मानी जाती है और उसके पुनर्विवाह के अवसर क्षीण हो जाते है।"[8] अनु के मन में तलाक के बाद के जीवन को लेकर निरंतर प्रश्न बना रहता है। यद्यपि वह अमेरिका जैसे विकसित देश में रहती है लेकिन फिर भी उसके अंतर्मन में भारतीय मानसिकता वाली पीड़ा व्याप्त रहती है। अनु को समझाते हुए मनोचिकित्सक डॉ. गुडमैन के शब्दों में "तुम दुविधा में (भारत में) नहीं रह रही हो, पश्चिम में हो, यहाँ तुम स्वतंत्र, आत्मनिर्भर, मुक्त होकर रह सकती हो।"[9] शिक्षा ही एकमात्र ऐसा माध्यम है जिसमें स्त्री अपने अतीत की सभी परेशानियों को त्यागकर वर्तमान में आगे बढ़ने की प्रेरणा रखती हैं। कामकाजी स्त्रियों ने शिक्षा और नौकरी से मिली सुविधाओं से समस्याओं का समाधान किया है। उषा प्रियंवदा ने स्वावलंबी स्त्रियों के परिप्रेक्ष्य में लिखा है। "उच्चतर शिक्षा ने स्त्रियों को स्वावलंबी ही नहीं बनाया, बल्कि उन्हें अपनी अस्मिता और अधिकारों के प्रति जागरूक भी बनाया। उनमें परम्परागत नारी संहिता और संस्कारों के प्रति विद्रोह का भाव पैदा हुआ।"[10] प्रवासी लेखिका का मूल उद्देश्य यह है कि समाज में प्रत्येक स्त्री शिक्षा प्राप्त कर मुक्ति की ओर अग्रसर रहे। "शिक्षित आधुनिक नारी किसी संकोच कुंठा या अपराधबोध से ग्रस्त नहीं है। वह अनेक बाधाओं के बीच निरंतर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो रही है- आधुनिक नारी की कथा कहना ही लेखिका का उद्देश्य है।"[11]

वैधव्य जीवन की त्रासदी

सामाजिक संवेदनहीनता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की पराकाष्ठा से समाज में स्त्रियों का जीवन पति के मरने के उपरांत कष्टकारी हो जाता है। उन्हें अपने जीवन के सभी सौभाग्य प्रतीकों वाले कार्यों को त्यागना पड़ता हैं। इतना ही नहीं, इस अवस्था में पारिवारिक सदस्यों का दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो जाता है। पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा स्त्री के जीवन में परिवार की छोटी-बड़ी जिम्मेदारियों का बोझ आ जाता है। उन्हें आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समाना स्वयं उठाना पड़ता है। इस स्थिति का सजीव वर्णन प्रवासी लेखिकाओं ने अपने साहित्य के माध्यम से उजागर किया है। 'हवन' उपन्यास में लेखिका ने विधवा स्त्रियों की दयनीय स्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है। अमेरिका में अपने तीन बच्चों की पढ़ाई से लेकर विवाह तक के उत्तरदायित्व को गुड्डो ने भली-भांति पूर्ण किया है। वैधव्य जीवन की संघर्षगाथा को सुषम बेदी ने अपने साहित्य के द्वारा प्रकाश डाला हैं। "अब न लड़का रहा था, न पिता जी ही जिंदा थे। भाइयों और पति के दोस्तों की मदद से गुड्डो ने किसी तरह बी.टी. खत्म की और एक स्कूल में नौकरी भी मिल गई टीचर की।"[12] पश्चिमी समाज में विधवा स्त्रियाँ अपने बेरंग जीवन में स्वत: रंग भरने का कार्य करती है। रुढ़िवादी समाज में अनेक कुप्रथाओं और प्रतिबंधों से अपने जीवन में समाधान करने वाले राहों की तलाश करती हैं। स्पष्ट है कि पश्चिमी समाज की स्त्रियाँ दकियानूसी प्रथा का पुरजोर विरोध करती हैं। प्रवासी लेखिकाओं ने अपने साहित्य के माध्यम से स्त्रियों को सामाजिक जीवन बंधनों से मुक्त करवाने व अस्तित्व के लिए अकेले लड़ने के दृष्टिकोण को संप्रेषित किया है।

अस्मिता व अस्तित्व का संघर्ष

समाज में स्त्री अपने अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के प्रति सजग व संघर्षशील है। जिस कारण उसने सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्रों में अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी हैं। समाज में अपने 'स्व' को स्थापित

करने के लिए पुरुषवादी मान्यताओं का विरोध किया है। लेखिका सुषम बेदी ने अपने साहित्य के द्वारा समाज में व्याप्त कुरीतियों का खण्डन किया है। अपने अस्मिता के पक्ष के प्रति तर्क देते हुए उन्होंने अपनी कहानी 'कात्यायनी' में स्त्रियों का सजीव चित्रण किया है, "पर मैं तो एक सच हूँ, एक हस्ती, एक समूचा का समूचा हाड़मांस का इंसान। यह कोई क्यों देखना नहीं चाहता? देखते हैं तो एक नकारात्मक भाव के साथ कि वह है पर पुरुषहीन है, इसलिए नहीं है।"[13]

समाज में भारतीय स्त्रियाँ अपनी स्वतंत्रता के साथ समझौता कर लेती है लेकिन अमेरिकन समाज की स्त्रियाँ अपनी स्वतंत्रता, अस्मिता व अस्तित्व के प्रति चेतनशील रहती है। इसका सजीव चित्रांकन सोनल के माध्यम से लेखिका ने 'न भेज्यो बिदेस' उपन्यास में व्यक्त किया है। "अमरीकन संस्कृति का सबसे मजबूत हिस्सा है मैं...। पहले मैं, मेरा स्वास्थ्य, मेरी सुरक्षा, मेरी आजादी, उस सबसे बाद आता है घर, पति, बच्चे या समाज के अन्य स्त्री-शोषण करने वाले प्राणी।"[14] इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान में स्त्रियाँ समानता के पक्षधर है। तथा स्वाभिमान व आत्मसम्मान के साथ समाज में जीवन व्यतीत करना चाहती है।

विकसित देशों की एक विशेषता यह है कि यहाँ पति-पत्नी एक-दूसरे पर निर्भर नहीं रहते। इसी परिवेश को देखते हुए संतान भी अपने माता-पिता पर निर्भर नहीं रहती। 'नक्काशीदार कबिनेट' उपन्यास में वृद्ध दंपत्ति डनिस और रॉबर्ट अमेरिका में अकेले, आत्मनिर्भर व आत्मसम्मान का जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार के भावनात्मक प्रेम को देखकर सोनल को अजीब लगता है। क्योंकि वह भारत में संयुक्त परिवार में रही है। सोनल को वृद्ध दंपति जवाब देते हुए कहते हैं। "जब तक हाथ-पाँव काम कर रहे हैं, हम किसी पर भी यहाँ तक कि बच्चों पर भी निर्भर नहीं रहना चाहते। जब शरीर साथ छोड़ेगा, तो उन्होंने ही हमारी देखभाल करनी है। अभी से उन्हें क्यों परेशान करें!"[15] विकसित समाज में किसी भी वर्ग का व्यक्ति एक-दूसरे पर निर्भर नहीं होना चाहता।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि प्रवासी लेखिकाओं ने स्त्री अंतर्मन की संवेदनाओं और यथार्थ अनुभूतियों को साहित्य के माध्यम से संप्रेषित किया है। प्रवासी परिवेश में व्यक्ति स्वतंत्रता की मांग अधिक परिलक्षित होती है। आधुनिक समय और समाज में आकर स्त्रियाँ स्वावलंबी बनने लगी हैं। तथा अमेरिका में नयी ऊर्जा को लिए नए जीवन और नए मूल्यों का सर्जन कर रही हैं।

संदर्भ :

1. प्रसाद, इला, रोशनी आधी अधूरी सी, भावना प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 149
2. स्मिथ, ब्रैडफोर्ड, अनुवाद कृष्णचन्द्र, अमेरिका की संस्कृति, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1957, पृ. 54
3. नियाज, (डॉ.) शगुफ्ता (सं.), अनुसंधान (त्रैमासिक), जुलाई 2020-मार्च 2021, विकास प्रकाशन, कानपुर, पृ. 161
4. प्रियदर्शनी, सुदर्शन, न भेज्यो बिदेस, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 89
5. बेदी, सुषम, हवन, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2014, पृ. 186
6. वही, पृ. 10
7. वही, पृ. 10
8. एन, मोहनन, समकालीन हिंदी उपन्यास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ. 125
9. प्रियवंदा, उषा, शेषयात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1984, पृ. 61
10. राय, गोपाल, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2005, पृ. 420

11. वही, पृ. 421
12. बेदी, सुषम, हवन, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2014, पृ. 9
13. श्रीधर, प्रो. प्रदीप, सुषम बेदी का रचना संसार, विनय प्रकाशन, कानपुर, 2021, पृ. 191
14. प्रियदर्शनी, सुदर्शन, न भेज्यो बिदेस, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ. 37
15. ढींगरा, सुधा ओम, नक्काशीदार केबिनेट, शिवना प्रकाशन, सिहोर, 2016, पृ. 67

❖❖❖

शोधालेख

कश्मीर के दर्द का जीवंत आख्यान : शिगाफ

❍ अमित कुमार चौबे✡

संक्षिप्ति :

कश्मीर अपने अपूर्व प्रकृतिक सौंदर्य के कारण धरती का स्वर्ग कहा जाता है। भारत के शीर्ष को आभामंडित करता हुआ यह भू-भाग प्राचीन संस्कृति, साहित्य, धर्म एवं ज्ञान का समृद्ध केंद्र भी रहा है। इन सब के बावजूद भारत-पाक विभाजन के साथ एक समस्या के रूप में यह राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय राजनीति में ज्वलंत मुद्दा बना हुआ है। कश्मीर को केंद्र में रखकर हिन्दी के जो तमाम उपन्यास लिखे गए उनमें 'शिगाफ' मनीषा कुलश्रेष्ठ का अत्यंत महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में कश्मीर की दुखती रगों को बड़ी संजीदगी के साथ लेखिका ने टटोला है। इस शोध आलेख में कश्मीर संबंधी उन समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है जो इस उपन्यास के माध्यम से पाठकों तक पहुँचती हैं। इस लेख का उद्देश्य है उपन्यास में चित्रित कश्मीर के इतिहास को प्रस्तुत करना, कश्मीर की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितों की पड़ताल करना, विस्थापन की मार झेलते कश्मीरियों की जीवन स्थितियों को समझना। इस शोध आलेख में अंतर-विषयवस्तु विश्लेषण शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है।

बीज शब्द : आतंकवाद, कश्मीरियत, विस्थापन, निर्वासन, जेहाद, सांप्रदायिकता, फिदायीन, कट्टरपंथ, पुश्तैनी, समकालीन, मुजाहिदीन, सूफियाना इत्यादि।

भारतवर्ष को विविधताओं का सजीव पुंज कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। धर्म, जाति, भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज, त्योहार, लोक-संस्कृति आदि के इन्द्रधनुषी रंगों से सुसज्जित इसकी सुषमा विश्व के अन्य देशों से इसे अधिक महत्वपूर्ण एवं आकर्षक बनाती है। विविधताओं में इसकी भौगोलिक एवं प्राकृतिक स्थितियाँ भी शामिल हैं। उत्तर से दक्षिण तथा पूरब से पश्चिम तक भिन्न-भिन्न भौगोलिक क्षेत्र अपनी प्राकृतिक विविधताओं के साथ इसे अधिक विस्तृत एवं बहु-आयामी बनाते हैं। भारत के शीर्ष पर स्थिति कश्मीर जिसे धरती का स्वर्ग भी कहा गया है, अपनी अनुपम प्राकृतिक छंटा बिखेरता हुआ भारत के सौंदर्य को द्विगुणित करता है। कश्मीर के सौन्दर्य को परिभाषित करते हुए विजय गुप्त लिखते हैं कि "सुरम्य स्थली कश्मीर, धरा पर प्रकृति का संपूर्ण सौंदर्य संजोए हुए स्वर्ग समान है या स्वयं में स्वर्ग है, इसके लिए जितनी उपमाएँ, अलंकार तराशे जाएं कम ही पड़ेंगे। यह पुण्य धरा है, यह देव स्थली है, तप और साधना की धरा है। विद्या, कला, साहित्य, संस्कृति

✡ *शोधार्थी, हिंदी साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय*
संपर्क : 6263808894; Email : amit93678@gmail.com

की अनमोल धरोहर को यह सदियों से अपने आंचल में संजोए हुए है, समेटे हुए है। गगन से बातें करती गगनचुंबी हिममंडित शैल शिखाएँ हैं। गले का रजत हार बनकर अमृत बहाने वाली नदियाँ हैं, सुंदर झीलें और सरोवर हैं। विशाल हरे-भरे खेत और खलिहान हैं, मैदान हैं जो इसकी प्राकृतिक संपदा का गौरवगान करते हैं। घने जंगल हैं, जिनकी छटा अनुपम है। अनेकानेक प्रकार की बहुमूल्य वनस्पति तथा खनिज पदार्थ यहाँ उपलब्ध हैं। नित सूर्य गगन के उज्ज्वल मस्तक पर यहाँ का केसर ले उसका तिलक करता है।"[1] अपनी प्राकृतिक सुषमा के महत्व को लिए हुए यह धर्म संस्कृति राजनीति एवं इतिहास की दृष्टि से भी विश्वस्तर पर महत्वपूर्ण दिखाई देता है। प्राचीन काल से धर्म, साहित्य, संस्कृति की अविरल धारा को प्रवाहित करते हुए इसने भारत को ऐसे जीवन दर्शन प्रदान किए जो मानव जीवन को नई दिशा एवं गति प्रदान करते हैं। इन सबके बावजूद भारत-पाक विभाजन के साथ कश्मीर जिस राजनीति का शिकार हुआ उसके घाव कई दशकों के बाद भी भरे नहीं हैं। आतंकवाद, सांप्रदायिकता, विस्थापन, गरीबी, बेरोजगारी, धार्मिक वैमनस्य आदि ऐसी तमाम समस्याएँ कश्मीर में रहने वाले लोगों के जीवन का हिस्सा बन गईं, जिसके कारण आज भी कश्मीर अमन और चैन की ख्वाहिश में जूझता दिखाई पड़ता है। कश्मीर की इन समस्याओं को हिंदी उपन्यासों में रचनात्मक अभिव्यक्ति देने का काम कई उपन्यासकारों ने किया है जिनमें कुछ कश्मीरी हैं और कुछ गैर-कश्मीरी। कथा सतीसर-चंद्रकांता, कश्मीर की बेटी-शत्रुध्न, दर्दपुर-क्षमा कौल, व्यथ व्यथा-हरिकृष्ण कौल, पाषाण युग-संजना कौल, शिगाफ-मनीषा कुलश्रेष्ठ, सूखते चिनार-मधु कांकरिया, इकबाल-जयश्री राय, एक कोई था, कहीं नहीं सा-मीराकान्त, कश्मीर 370 किलोमीटर-रवीद्र प्रभात आदि कुछ महत्वपूर्ण उपन्यास सामने आए हैं जिनमें कश्मीर अपनी अलग-अलग समस्याओं के साथ अभिव्यक्ति पाता है।

समकालीन हिंदी कथा साहित्य के फलक पर मनीषा कुलश्रेष्ठ एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप में अपनी रचनाशीलता के साथ सामने आई हैं, जिनकी रचनाएँ मानव जीवन की जटिल परतों को परत-दर-परत खोलती हुई उन संवेदना बिन्दुओं को स्पर्श करती हैं जिन तक पहुँचना हर साहित्यिक कृति के लिए मुश्किल होता है। ये अपनी रचनाओं में पूर्वाग्रहों से ग्रस्त नहीं दिखाई देती हैं। मनीषा जी का साहित्य विषयों की विविधता के साथ सामने आता है, जहाँ वे मनुष्यता और प्रगतिशीलता की हिमायती दिखाई देती हैं। उनकी कलम की स्याही वर्ण, धर्म, वर्ग और लिंग से इतर सामाजिक यथार्थ का रेखांकन करती हुई दिखाई देती है। "मनीषा कुलश्रेष्ठ की कृतियों में एक ओर जहाँ आधुनिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है तो वहीं दूसरी ओर रूढ़ियों का बहिष्कार भी है। दाम्पत्य-जीवन, पारिवारिक-जीवन आदि के उत्कृष्ट चित्रण के साथ ही साथ लेखिका अपनी रचनाओं में सामाजिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, नारी-चेतना जैसे विषयों को भी बखूबी चित्रित करती हैं।"[2] मनीषा कुलश्रेष्ठ समकालीन दौर की एक सशक्त लेखिका हैं, जो अपने समय और समाज को बेहद सूक्ष्म स्तर पर देखती हैं। उनकी भाषा सतही नहीं बल्कि बेहद गंभीर और संवेदनशील है। उनकी लेखनी के माध्यम से रचे गए उपन्यासों एवं कहानियों में मानव जीवन की विभिन्न संघर्ष गाथाएँ देखने को मिलती हैं। 'शिगाफ' उनके द्वारा रचे गए महत्वपूर्ण उपन्यासों में से एक है। यह उपन्यास कश्मीर समस्या को केंद्र में रखते हुए वहाँ के जन जीवन की मार्मिक एवं जीवंत तस्वीर प्रस्तुत करता है, फिर चाहे आतंकवाद, गरीबी, बेरोजगारी से जूझते हुए कश्मीर में रह रहे पात्र हों या अपनी जड़ों से उजड़कर देश-विदेश के अलग-अलग शहरों में जाकर बसने वाले विस्थापित पात्र हों। इन सब की पीड़ा को उपन्यासकार ने बड़ी संजीदगी से उपन्यास में उतारने का प्रयास किया है। डॉ विमलेश के अनुसार "शिगाफ' मनीषा कुलश्रेष्ठ का सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि पर केंद्रित उपन्यास है जिसमें सांस्कृतिक-सामाजिक विरासत से कट जाने और उसके छूट जाने का दर्द तो है ही बल्कि अपनी खुली जड़ें लिए भटकने और कहीं अन्यत्र नहीं रोपित हो सकने की भीषण छटपटाहट भी शामिल है।"[3] कश्मीर के भीतर उपस्थित नासूर की तरह चुभते दर्द को यह उपन्यास प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों

रूपों में परत-दर-परत खोलता जाता है, जिसमें कश्मीर की सुंदरता किसी भयावह रूप में बदलती हुई दिखाई देती है।

उपन्यास में मुख्य पात्र अमिता के माध्यम से लेखिका ने कश्मीर को इसके पूरे यथार्थ के साथ उकेरा है। अमिता जो कश्मीरी हिन्दू है विस्थापन के बाद अपनी पैतृक जमीन से उखड़कर स्पेन में रहने को विवश है। हजारों मील दूर रहकर भी उसे अपना कश्मीर बार-बार स्मरण हो आता है और जिन बेतुके कारणों से उस जैसे हजारों लोगों को कश्मीर से बेदखल होना पड़ा वह उन पर दिन-रात विचार करती रहती है। उपन्यास में एक स्थान पर अमिता लिखती है कि "धर्म, नस्ल, रंग और विचारधारा के नाम पर पूरी दुनिया जल रही है। कौन कहता है कि ये तरक्की कर चुके हैं या हम तरक्की के दौर से गुजर रहे हैं? बल्कि हम तब बेहतर थे जब समूहों में रहते थे, नदी, पहाड़, पेड़ और आसमाँ को पूजते थे और प्राकृतिक विपदाओं को शैतान का स्वरूप मान उसे भी खुश रखने के लिए जाने क्या-क्या करते थे। नस्ल की शुद्धता तब मसला थी ही नहीं। मसला था, तमाम विषमताओं के बावजूद मनुष्य मात्र के अस्तित्व के जीवित रहने का। आए दिन की प्राकृतिक विपदाएँ, जीने की दुश्वारियाँ, जंग की फुर्सत ही नहीं देती। दो समूह भिड़ते भी होंगे मगर धर्म या नस्ल या रंग या विचारधारा के नाम पर नहीं। वह लड़ाई वजूद की होती होगी।"**4** कश्मीर जहाँ धर्म के नाम पर खून-खराबा हुआ, अल्पसंख्यकों के साथ शत्रुओं की भांति पेश आते हुए उनके घरों में आग लगा दी गई, उस भयावह एवं दर्दनाक मंजर को अमिता याद कर बेहद निराश होती हैं। वह पलायन से पहले प्राकृतिक सौंदर्य एवं सहिष्णुता से पूर्ण अपने कश्मीर को याद कर उदास हो जाती हैं। वह अपने ब्लाग अमिता इन स्पेन ब्लागस्पॉट डॉट कॉम पर लिखती हैं कि "मैं देर तक हताश महसूस करती रही। श्रीनगर के भीतरी हिस्सों में बसे हिन्दू मोहल्लों के बहुमंजिला पुराने मकानों की पंक्तियाँ याद आ गईं, जहाँ जिंदगी चहकती थी। श्रीनगर अपने बाहरी घेरे में हसीन वादियों, डल झील के विस्तार और बर्फ ढकी पहाड़ियों का मुकुट पहने खूबसूरत लगता था मगर इसके भीतरी घेरे में एक-दो या तीन मंजिला इमारतों का ऐसा सिलसिला था जो तंग रास्तों, संकरी गलियों में फैला हुआ था। नीचे बाजार और ऊपर मकान की तर्ज पर। झेलम इसी घनी आबादीवाले भीतरी शहर के बीच नौ पुलों के नीचे से बहती है। मेरी दादी का पुश्तैनी घर हब्बाकदल में था। आज वहाँ जले हुए मकानों की कतारें की कतारें हैं।"[5] यहाँ एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अमिता निर्वासन के बाद स्पेन में रहते हुए भी अपनी जड़ों से जुड़ी रही। वह स्पेन के गलियों में जो बेहद संकरी थी उसमें भी वह समानता का पुट देखती है। वह स्पेन में रहकर भी श्रीनगर के उन भीतरी गलियों को याद करती है जिसमें हिन्दू-मुस्लिम समुदाय के मकान बने थे और उनमें एक दूसरे के लिए प्रेम और सद्भवाना का भाव था। निर्वासन का यह दर्द केवल अमिता नहीं झेलती बल्कि लेखिका ने अमिता के माध्यम से उन तमाम विस्थापितों की कहानी कही है जिनके लिए कश्मीर से जाना एक अभिशाप से कम नहीं था। 24 सितंबर 2004 को अमिता अपने ब्लाग पर लिखती हैं, "मैं जब भी 'मार्टिनी' पीती हूँ, उस रोज विदेशों में आ बसे अपने हमवतनों को इंटरनेट पर खोजती हूँ। बहुत से हैं... मेरे जैसे यहाँ-वहाँ बिखरे। वादी से खदेड़े जाने का गुस्सा और हताशा मन में लिए। अपने मन से 'वापस लौटने की उम्मीद के पेड़ों को जड़ों से उखाड़ते हुए। मैं देखती हूँ, घाव अब भी हरे हैं उनके। उनके अपने सच हैं, उनके आगे खड़े हुए, उनकी परछाइयों से भी बड़े-बड़े उनके पास बहुत से सच्चे किस्से हैं, कहानियाँ हैं। मेरे पास भी हैं पर मैं उन्हें नहीं बाँटती न मैं उनके लिखे पर कोई प्रतिक्रिया देती हूँ। सोचती हूँ-जिन जिन्दगियों की सच्चाइयाँ आँखों में गड़ती हों, उन्हें बयां करने की ताकत मैं जुटा भी लूँ तो क्या इन्हें पढ़ने वाले, पढ़ने की ताब ला सकेंगे?"[6] कश्मीर की राजनीति ने मानवीय मूल्यों को किस तरह ध्वस्त किया? निजी स्वार्थ में वशीभूत धर्म और राजनीति के ठेकेदारों ने जिस तरह इंसानियत का कत्लेआम किया, उससे लेखिका बेहद निराश दिखाई देती हैं, जिस पीढ़ी को उचित शिक्षा और रोजगार की दरकार थी उन्हें धर्म और संप्रदाय की भट्ठी में

झोंकर किस तरह राजनेता अपनी रोटियाँ सेंक रहे थे, उसका दर्द उपन्यास में बखूबी झलक उठा है। अप्ल्संख्यकों को वहाँ से निर्वासित करना और उन पर हथियार उठाना तत्कालीन नेताओं की सोची समझी योजना थी। निर्वासन की इन्हीं वजहों को उपन्यास में अमिता पीड़ा के साथ व्यक्त करती हैं। वह कहती हैं, "आज निर्वासित हूं.. ..क्योंकि तुमने चुना था निहत्थों को मारना। मैं आज निर्वासित हूं... मैंने चुना सम्मान से जीना.... हथियार न उठाना। मैं आज निर्वासित हूं... क्योंकि पूरा संसार चुप रहा... महज कुछ लोग ही तो मर रहे थे। मैं आज निर्वासित हूं. .. क्योंकि मेरा भारतीय होने में विश्वास था।"[7]

इतिहास गवाह है जंग कहीं भी हो, कैसी भी हो उसका सबसे ज्यादा नुकसान स्त्री कौम को ही होता है। घर परिवार की सलामती और सुरक्षा चाहने वाली कश्मीरी औरतों को अनेक समस्याओं से जूझने को मजबूर किया गया, फिर चाहे वे विस्थापित स्त्रियाँ हों या फिर कश्मीर में ही रह गई स्त्रियाँ हों। लेखिका ने उपन्यास में स्त्री जाति के प्रति अपनी पूरी संवेदना व्यक्त की है। उपन्यास में एक स्थान पर अमिता कहती हैं, "मेरे कश्मीर की मुसलमान औरत... मैं उनके बारे में जानकर तकलीफ में हूँ। मैं सो नहीं पा रही हूँ। सोचती हूँ, बिना जलावतन हुए भी यह कैसी बेदर्द जलावतनी थी नसीम की। और जो वहीं रह रही हैं...उनकी हर रोज जिस्म से रूह की जलावतनी। कौन ज्यादा दुख में है-हम, जो वहाँ से भगा दी गईं... मार दी गईं... जला दी गईं... या वो वहाँ लगातार भाग रही हैं अपने वर्तमान से, रोज मर रही हैं...? पता नहीं!"[8] अर्थात् दोनों तरह की स्त्रियाँ उस संकटग्रस्त समय में अपनी वजूद की लड़ाई लड़ रही हैं। कश्मीर की आजादी के लिए उपजे धार्मिक उन्माद के वातावरण ने एक ऐसी जंग शुरू की जिसमें हजारों कश्मीरी युवा अपना घर परिवार छोडकर आतंकी बनने लगे। दूसरी तरफ कश्मीर की सुरक्षा व्यवस्था को बनाए रखने का भार ढोते हजारों नवजवान सैनिक गोलीबारी और बारूदी हमलों में शहीद हुए। इन सारे पुरुषों ने अपने पीछे स्त्री की एक बड़ी कौम को असहाय और बेसहारा कर दिया। लेखिका डर और आतंक के साये में जीने वाली उन औरतों की आवाज बनकर सामने आती हैं। कश्मीर की औरतों के बारे में भारी मन से सोचते हुए अमिता लिखती हैं कि "हमारा हर दिन नई समस्याओं को जन्म देते हुए उगता है कश्मीर में। हर दिन विधवाओं की नई फसल तैयार हो जाती है। फौज और उग्रवादियों ने मिल-जुलकर ग्यारह हजार जवान विधवाओं की फसल तैयार की है, जिसे न समाज से कोई आसरा है ने सरकार से। वे अपने होंठ सिये घातक मानसिक रोगों तथा हताशाओं का शिकार होती जा रही हैं। हिजाब और जुल्म के बीच ऐसे पिसती हुई, जैसे कपड़े के थैले में कोई बर्फ के टुकड़ों को चूर-चूर करता हो कि टूटें तो लेकिन उनका बुरादा भी बाहर न बिखरे!"[9] इस उपन्यास में स्त्री जीवन की विसंगतियों को उसके सामाजिक संदर्भ से जोड़कर लेखिका देखती हैं। समाज की तंग व्यवस्था में जीने को विवश इन कश्मीरी औरतों को तत्कालीन सस्ती राजनीति ने भी गहरी चोट पहुंचाई है। उपन्यास में कश्मीरी औरतें एक ओर परदा-प्रथा, अशिक्षा, बेरोजगारी जैसी समस्याओं का दंश झेलती हैं तो वहीं दूसरी तरफ कट्टर राजनीति एवं धर्म ने उन्हें निष्प्राण एवं अवसादग्रस्त कर दिया है। उपन्यास के अनेक स्थलों पर जीवन और मौत के बीच झूलती इन औरतों के चेहरे झाँकते नजर आते हैं। इसी दंश को उपन्यास में देखा जा सकता है "बहुत सहन करके तो पृथ्वी भी विचलित हो जाती है, उसमे भी दरारें आ जाती हैं, वे तो बेटियाँ हैं इस जमीन की असहाय औरतें। वे खामोश हैं सीने में हजारों जख्म छिपाकर जीते चले जाने की विवशता में वे घुन-सी पिस रही हैं। असमंजस में हैं वे कि कौन सच कहता है- सरकार, उनके समाज के वे नुमाइन्दे जो तथाकथित कश्मीर की स्वतन्त्रता के हामी हैं, उनके पुरुष या कहीं और से डोर हिलाते वे कठमुल्ले, जो कभी कश्मीर की औरतों के लिए परदा बुरका या एसिड की सजा तय करते हैं? वे कुछ और नहीं, बस शान्ति चाहती हैं। मौतों के सिलसिलेवार हिंसक खेल से निजात चाहती हैं। आतंक के साये, मौतों के सिलसिले, गरीबी, अशिक्षा, परदा, सामाजिक रूप से दोयम दर्जे में रह रही यह औरत आखिर अपने हक में कहे भी तो क्या कहे? साल-दर-साल अमन के इन्तजार में बढ़ती दहशतगर्दी से उसका सब्र का प्याला टूट

चला है। कितना सहन करे?"[10] उपन्यास में अमिता के अतिरिक्त और भी स्त्री किरदार अपने-अपने हिस्सों की तकलीफें ढोते हुए दिखाई देते हैं। बचपन में अमिता के साथ पढ़ने वाली यास्मिन की उलझने और अनकही पीड़ा उसकी डायरी में दर्ज है। मनीषा जी ने उसकी डायरी के माध्यम से आजाद कश्मीर के सुनहरे सपनों के पीछे छीपी बदरंग क्रूर सच्चाईयों को बेहद संजीदगी से उद्घाटित किया है। नब्बे का दशक वहाँ की औरतों के लिए एक बुरे सपने की तरह आता है, जहाँ उनकी शिक्षा के स्वप्न, आजादी से घूमने के ख्वाब दम तोड़ने लगते हैं। धर्म का कट्टरपंथ इस कदर बढ़ गया कि रोज नए फरमान उनके अस्तित्व और पहचान को तार-तार करने वाले थे। यास्मिन अपनी डायरी में 01 मार्च 1991 की तारीख को दर्ज करते हुए लिखती है कि "आज सुबह अब्बू जो अखबार पढ़ रहे थे, उसके तीसरे पेज पर तस्वीर है, एसिड स्त्री से जली श्रीनगर की एक कॉलेज जानेवाली लड़की को, जो अब भी मिलिटरी अस्पताल में मौत से जूझ रही है।" अब पूरे कश्मीर में ही लड़कियों के लिए कट्टरपन्थियों ने बुरके की आखिरी तारीख तय कर दी है। इसके बाद बुरका या एसिड। "कैसा बुरका लाऊ वास्मीन?" पूछते हुए अम्मी भागी है बुरके की दुकान पर मेरे लिए। "कफन कैसा भी हो, लाश को क्या फर्क पड़ता है।" दालान में बैठे अब्बू बुदबुदाए।

मैं भीतर तक डर गई हूँ। मेरे कॉलेज में दाखिले की बात कब की खत्म हो गई है। अब्बू बदल रहे हैं। अब इन बातों की खिलाफत नहीं करते, छुपे शब्दों में तंज करते हैं। उनका दिल गवाही नहीं देता पर वो मजबूर हैं। देर रात तक अब्बू-अम्मी की बातें गूँजती रही हैं, फरहान की जिन्दगी और मेरी शादी को लेकर। मैं महसूस कर रही हूँ, कश्मीरी लड़कियों ने मेकअप करना छोड़ दिया है। उनके खूबसूरत बाल और माथा सफेद चादरों से ढँकने लगा है। कइयों ने पूरा जिस्म बुरका में लपेट लिया है। काजल लदी आँखें फीकी रहने लगी हैं। चम्पई जिल्दों पर जर्दी। उभर आई हैं। चेरी के खिले बागों पर बेमौसम बर्फ की सफेदी घिर गई हो जैसे।"[11] शिगाफ में ऐसी ही तमाम औरतें आतंकी साए में प्रेम, समर्पण, विश्वास जैसे मूल्यों को दम तोड़ते हुए देखती हैं। असुरक्षा भरे वातावरण में वे अवसाद का शिकार होती हैं, परिणामस्वरूप कई बार अपनी जान पर भी खेल जाती हैं। 'शिगाफ' उपन्यास में दर्ज स्त्रियों की दशा पर डॉ. विमलेश लिखते हैं कि "वहाँ बेबा हुई औरतें, अकेली छूटी औरतें, जवान और अनाथ लड़कियाँ अपनी जिन्दगी पर हक नहीं रखतीं। उनकी आँखों में अपनों से बिछड़ने के सवाल हैं। वे आँखें बरबस पूछती हैं कि उनके अपनों को किस जुर्म में मारा गया है। हंगामाखेज हालातों में पीछे छूटी औरतों के पति और बच्चे जेल में बंद हैं। पब्लिक सेफ्टी एक्ट जैसे कानून युवाओं के साथ ज्यादती कर रहे हैं। कई-कई औरतें मनोविकारों से जूझ रहीं है, दवाओं की जद में आकर वे उस खौफ को भूलने की कोशिश कर रहीं हैं, मानसिक दबाव में आकर महिलाएँ एक चुप्पा जीवन जीने को मजबूर है।"[12]

उपन्यास में लेखिका ने कश्मीर के कई महत्वपूर्ण सवालों की अभिव्यक्ति बेहद मुखर रूप में की है। उनकी सूक्ष्म पारखी दृष्टि कश्मीर के तत्कालीन राजनीति के जटिल समीकरणों को मार्मिक भाषा में जीवंत कर देती है। किस तरह कश्मीर को आजाद करने की जंग में उसकी सांस्कृतिक विरासत क्षत-विक्षत हुई इसका प्रमाण कई स्थानों पर मिलता है। यास्मिन की डायरी में ऐसे ही एक खौफनाक मंजर का जिक्र है "कल अब्बू घबराए हुए घर आए थे। वो ईद की खरीदारी के लिए श्रीनगर जा रहे थे, मगर रास्ते ही से लौटना पड़ा। चरार-ए-शरीफ दरगाह ख़ाक हो गई। साथ ही सैकड़ों घर। दरगाह पर हिजबुल के मुजाहिदीनों ने कब्जा कर लिया था...उस पर सिक्योरिटी फोर्स ने घेरा डाल के फायरिंग शुरू की। दो तरफा फायरिंग और ग्रेनेड हमलों ने कश्मीर के सूफियाना कल्चर की अमानत को ख़ाक कर दिया। बचपन में कितनी ही 'सूफी मजलिसों' में हम अब्बू के साथ यहाँ जाया करते थे।"[13] कश्मीर में जेहाद के नाम पर युवकों को नष्ट करने की दूषित राजनीति ने कश्मीर की जो दशा की, उसे लेखिका बखूबी समझती हैं। अमन और चैन से मोहब्बत करने वाले लोग चाहे वे किसी भी मजहब के क्यों न हों ऐसे भयावह वातावरण से मुक्त होना चाहते हैं। वे सब कुछ जानते हुए भी उन विपरीत

परिस्थितियों में जीने को विवश दिखाई देते हैं। उपन्यास में यास्मिन के माध्यम से लेखिका लिखती हैं "अब्बू भीतर आकर बड़बड़ा रहे थे, "मजहब की आड़ लेकर जेहाद-जेहाद चिल्लाकर पैसा, औरत, शराब और गोश्त के लालच में कश्मीर आनेवाले ये भाड़े के जेहादी हमारे बच्चों से हमारा ही पर जलवा रहे हैं। ये हमारे हमदर्द नहीं हो सकते। न जाने कब 'जोश मलीहाबादी एक बड़ा सच कह गए... यकीनन, उन शायरों की निगाह में दूर तक का देखने की ताब थी...' "क्या अब्बू...?" 'जन्नत के मजों पर जान देनेवालो, गन्दे पानी में नाव खेनेवालो हर खैर पर चाहते हो सत्तर हूरें, ऐ अपने खुदा से सूद लेनेवाली।'[14]

जंग चाहे जैसी हो वह अपने प्रभाव में आने वाले लोगों की आर्थिक अवस्था को बुरी तरह प्रभावित करती है। कश्मीर की धर्म आधारित जंग ने नई नस्लों को शिक्षा और रोजगार से हटाकर धार्मिक उन्माद की जिस आग में झोंका उसमें हजारों युवक मारे गए। उनके पीछे गरीबी और आर्थिक पराधीनता झेलते उनके परिवार किसी तरह जिंदगी बसर करने की कोशिश में दिखाई देते हैं। उपन्यास में लेखिका लिखती हैं कि "इस गाँव में बहुत लोग हैं, जहाँ बूढ़े ही अकेले कमानेवाले मर्द बचे हैं। मेरा बचपन का दोस्त अब्दुल रहमान मलिक घर का अकेला कमानेवाला जिन्दा मर्द बचा है। उसका एक बेटा और भाई दस साल पहले मर चुके हैं और दूसरा बेटा आर्मीवालों के शिनाख्त परेड के दौरान ले जाए जाने के बाद से गुम है। बूढ़ा मलिक... उसने भी मेरी तरह अपने पिछले दस साल या तो मरे हुओं का स्यापा करते बिताए हैं या आर्मी कैम्पों में खोए हुओं को ढूंढते, तीन बेटियों को अकेला घर पे छोड़ते हुए डरता है उनमें भी बड़ीवाली बेवा है। मलिक की बीवी दिल की मरीज है। वह बिना आँसुओं के रोया करती है चुपचाप उसके पास उसके बेटों के फोटो हैं जो उसका खजाना है"[15] उपन्यास में कश्मीर के जनजीवन को जिस बारीकी से लेखिका उकेरती हैं ऐसा लगता है मानो वे स्वयं उस जिंदगी का हिस्सा हैं। आतंकवाद ने कश्मीर की आम जिंदगी को बुरी तरह रक्तरंजित किया है, फिर चाहे वहाँ की कृषि व्यवस्था हो, चाहे उद्योग-धंधे हों या फिर जीवन जीने के अन्य छोटे-बड़े तरीके वे सब इस जंग की आग में झुलस गए। ऐसे में बेरोजगारी, गरीबी जैसी समस्याओं का उभरना बेहद स्वाभाविक है। यास्मिन की डायरी के जरिए लेखिका इस समस्या को प्रस्तुत करते हुए लिखती हैं कि "कालीन के कारखानों को बन्द हुए अरसा हो गया है केसर के खेत खाली पड़े हैं। गाँव के बाशिन्दों की किल्लतें खत्म होने का नाम ही नहीं लेतीं। उनके लिए जरिया-ए-माश कुछ नहीं रहा है। टूरिज्म और खेत दोनों खत्म हो चुके हैं। बड़े अब्बू चाहकर भी उनकी मदद नहीं कर पा रहे। कारखाने के मजदूर चुपचाप आकर कारखाने के सहन में सूनी आँखों से आसपास तकते हैं। बड़े अब्बू बेहद परेशान हैं।"[16]

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनीषा कुलश्रेष्ठ द्वारा लिखा गया यह उपन्यास कश्मीर की यथार्थ तस्वीर खींचता है। उपन्यास में बहुत सी समस्याएँ अलग-अलग किरदारों के माध्यम से सामने आती हैं, ये कश्मीर के इतिहास में घटित विभिन्न घटनाओं को पूरे जीवंतता के साथ खोलते हुए उनके कारणों की पड़ताल भी करता है। विस्थापन, धर्मनिरपेक्ष और सांस्कृतिक समस्याओं के दर्द को यह उपन्यास अपने फलक पर लेकर चलता है। इसलिए सच्चे मायनों में यह उपन्यास कश्मीरियों की एक महागाथा कहा जा सकता है।

संदर्भ :

1. गुप्त, विजय, खोया हुआ कश्मीर (इतिहास के दर्पण में), अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008. पृ. 31.
2. https://www.apnimaati.com/2021/07/blog-post_85.html
3. शर्मा, डॉ. विमलेश. 'हर जिंदगी पर तारी एक अनचाहा-आरोपित, शिगाफ.' अनुसंधान (2022), पृ. 57-65.
4. कुलश्रेष्ठ, मनीषा, शिगाफ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ. 16.

5. वही, पृ. 19.
6. वही, पृ. 20.
7. वही, पृ. 29.
8. वही, पृ. 79.
9. वही, पृ. 86–87.
10. वही, पृ. 87.
11. वही, पृ. 98.
12. गुप्त, विजय, खोया हुआ कश्मीर (इतिहास के दर्पण में), अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 62.
13. कुलश्रेष्ठ, मनीषा, शिगाफ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ. 105.
14. वही, पृ. 106.
15. वही, पृ. 167–68.
16. वही, पृ. 107.

❖❖❖

शोधालेख

दाम्पत्य के अनंत आतंक में प्रतिरोधी स्त्री-पुरुष मन

❍ प्रियंका श्रीवास्तव[1]

❍ डॉ. रीता सिंह[2]

संक्षिप्ति :

स्त्री जीवन में पर्व-त्योहार का विशेष महत्व है। विशेषकर पतियों के लिए स्त्री के द्वारा रखे गए करवा के व्रत का यदि अपना ऐतिहासिक महत्व है, तो समसामयिक सबसे बड़ी विडंबना भी इसी के साथ शुरू हो जाती है, जिससे दाम्पत्य जीवन सुखी दिख सकता है, लेकिन वास्तव में विभिन्न कष्टों से, विडंबनाओं से भरा होता है। समाज की अपनी कुछ सीमाएँ होती है, इन्हीं सीमाओं के भीतर हमारे संस्कारों का जन्म होता है। सामाजिक संरचना में देखें, तो स्त्री-पुरुष दोनों के विकास क्रम में अंतर और समाज का दोनों के मूल्यांकन के प्रति भिन्न नजरियाँ रहा। ऐसे में दोनों के संस्कार भी अलग रहे। संस्कार कभी शिक्षा पर हावी होता है, तो कभी फैशन के रूप में हमारे जीवन का हिस्सा बने रहकर स्वयं को समृद्ध बनाए रखता है। पति की लंबी उम्र के लिए व्रत का संस्कार इस सत्य से पड़े नहीं है। पढ़ी-लिखी डिग्रीधारी कामकाजी ऊँचे ओहदे पर आसीन औरतें भी पति की लंबी उम्र के लिए यदि व्रत रखती हैं तो संस्कारवश ही, भले ही पति-पत्नी का सामान्य जीवन शीतयुद्ध के समान ही क्यों न हो। इस व्रत की वास्तविकता को बिना जाने अन्य अनेक पूजा-पाठ की तरह औरतें इस व्रत का भी बखूबी बड़े गर्व से पालन करती दिखती है। हकीकत में पति की लंबी उम्र का वैज्ञानिक बोध बिल्कुल भी नहीं है। इसके बावजूद आए दिन करवाचौथ उत्सव का रूप धारण करने लगा है, लेकिन इसके जो बाइप्रोडक्ट्स माहौल बनते जा रहे हैं इस ओर यदि यशपाल ने अपना ध्यान खींचा हैं, तो सुधा अरोड़ा ने भी। एक ओर यशपाल की कहानी 'करवा का व्रत' है, तो दूसरी ओर सुधा अरोड़ा की कहानी 'करवाचौथी औरत'। इन्हीं दोनों की कहानियाँ 'करवा का व्रत' और 'करवाचौथी औरत' को केंद्र में रखकर दाम्पत्य की नई चुनौतियों को विषय बनाकर खोखली नैतिकता से जन्में विषाक्त परिवेश का विश्लेषण इस शोध आलेख का अभीष्ठ है।

बीज शब्द : पर्व त्योहार, संस्कार, करवा का व्रत, शीतयुद्ध, माहौल, उत्सव, खोखली नैतिकता, बाइप्रोडक्ट्स

एक तरफ स्त्री विमर्श शिखर पर है। स्त्री सशक्तीकरण के सरकारी, गैर सरकारी एवं सामाजिक संस्थान

1. शोधार्थी, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब
2. शोध निर्देशिका, असिस्टेंट प्रोफेसर, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब मोबाइल नंबर 8927595844, ई-मेल- priyanka.42000541@lpu.in

द्वारा प्रयास भी जारी है, इसके बावजूद आस्था और विश्वास के नाम पर, संस्कार के निर्वाह के नाम पर ढोंग बन चुके करवाचौथ का उत्सव भी बखूबी हमारे जीवन का हिस्सा है। स्त्री हो या पुरुष, विवाह के साथ ही उनसे हँसी-मजाक में कराई जाने वाली दूध से अँगूठी निकालने जैसी तरह-तरह की रश्में इस तथ्य को सामने रखती हैं कि पति हो या पत्नी भले इन दोनों के रिश्ते को सामान कहा जाता है। गाड़ी के दो ऐसे पहिए बताए जाते हैं, जो आगे-पीछे नहीं समानांतर चलते है, पर सत्य तो यह है कि दोनों में से किसी एक को दूसरे पर शासन करना है, हुकूमत चलाना है। संस्कार के तहत पुरुष संदर्भ को देखें, तो स्वामी बनने की नसीहत संस्कार के रूप में उसे मिलती है और पत्नी द्वार निभाए जाने वाला विभिन्न तरह के तीज, करवाचौथ का व्रत इसका प्रमाण; क्योंकि व्रत का इतिहास बतलाता है कि इसका उद्देश्य सामने वाले को प्रसन्न कर अपनी इच्छा की पूर्ति है और सामने वाले को प्रसन्न करने का प्रयास ही उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण है। जब पति श्रेष्ठ है तो अपनी श्रेष्ठता को बचाए रखने का उसका प्रयास भी जरूरी बन जाता है। ऐसे में पत्नी से अपनी श्रेष्ठता को बनाए रखने का प्रयास शुरू करता है, इस प्रयास में पति की पहली चिंता उसकी यही बनती है कि पत्नी सिर पर न चढ़ जाए अर्थात उस पर हावी न हो जाए क्योंकि सिर पर चढ़ना और हावी होना यानी खुद को पति से उत्तम मान लेना या उसके समकक्ष स्वयं को मान लेना। दांपत्य में पहला आतंक पुरुष के मन में यही रहता है कि पत्नी को कैसे अपनी मुट्ठी में रखा जाए। संस्कार के नाम पर पुरुषों को सिखाया जाता है कि स्त्रियाँ खासकर पत्नियाँ पैर की धूली के समान होती हैं। सेविका हैं और अगर उसे अधिक प्रेम दिया जाए, उसकी हर बात को मान लिया जाए तो सिर पर चढ़ जाएगी। ऐसी सोच और संस्कार के अंतर्गत पुरुष का गठन होता है और वह स्वयं को स्वामी मानने भी लगता है।

दाम्पत्य में दोनों के बीच एक वर्ग संस्कार से अगर स्वामी है तो दूसरे को तो दास होना ही पड़ेगा। 'होने' और 'मानने' का अंतर ही समस्या को जन्म देती है और समस्या आतंक को। यशपाल की कहानी 'करवा का व्रत' में पति कन्हैयालाल का गठन इन्हीं संस्कारों के तहत हो रहा है। हेमराज जैसे भुक्तभोगी की सीख मिलती है और बॉस की पत्नी का प्रत्यक्ष उदाहरण दिखता है, तो पुरुष से पति बना कन्हैयालाल भी आतंकित हो उठता है। हेमराज समझाता है...."बहू को प्यार तो करना चाहिए, पर प्यार से उसे बिगाड़ देना या सिर चढ़ा लेना भी ठीक नहीं। औरत सरकस हो जाती है, तो आदमी उम्र भर जोरू का गुलाम बना रहता है।"[1] हेमराज की सीख में कहीं न कहीं उसके उसके भुक्तभोगी होने की संभावना अधिक है और बॉस की पत्नी तो प्रत्यक्ष उसके आँख के सामने है। इसी कारण अपनी पुरुष सत्ता को पति सत्ता में बचाए रखने के लिए कन्हैयालाल अपनी पत्नी लाजवंती की दो बातों को मानता है, तो तीसरी को न भी कर देता है। डॉ. अजय कुमार साव अपने आलेख 'अस्मिता के सवाल और यशपाल' में इस संदर्भ में लिखते हैं, "नव विवाहित दंपति कन्हैयालाल और लाजवंती का जीवन प्रचलित संस्कारों द्वारा पोषित होने के कारण ही पौरूष-भाव द्वारा प्रदूषित भी है। संस्कारगत सबक पुरुष को उनके किन्हीं इंसानी भावों को दबाए अतीत की ओर खींचती है, तो स्त्री को भविष्य की ओर प्रेरित करती है।"[2] संस्कारगत सबक ही है जो कन्हैयालाल को लाजों की तीसरी बात को मानने से मना करता है, यद्यपि कन्हैयालाल की व्यक्तिगत इच्छा लाजो की हर इच्छा को पूरा करना था पर संस्कार के साथ-साथ यह डर कि कहीं सिर पर न चढ़ जाए बॉस की पत्नी की तरह, हेमराज और बॉस जैसा परिणाम न हो जाए और अगर ऐसा हो गया तो समाज क्या कहेगा, इस डर में कन्हैयालाल लाजों को न भी कर देता है। यशपाल लिखते हैं- "लाजो के कहने का ढंग कुछ ऐसा था कि कन्हैया का दिल इंकार करने का न करता, पर इस ख्याल से की बहू सरकस न हो जाए दो बातें मान कर तीसरे पर इनकार भी कर देता।"[3] कन्हैयालाल का यह आचरण दाम्पत्य में स्वयं को भयमुक्त रखने के प्रयास में है। कन्हैया के आचरण के बारे में विश्लेषण करते हुए डॉ. साव आगे लिखते हैं- "ऐसा करना कोई शौक नहीं बल्कि भय का परिणाम है। पारंपरिक संस्कारों से पोषित

पति अस्मिता की ऐसी-तैसी होने का भी। भय के साये में जो पति स्वयं है, वह यदि भय की सृष्टि करता है तो यह स्वाभाविक ही है।"[4] भय के सृष्टि के मूल में पति की उस अस्मिता की रक्षा है, जो संस्कार के कारण उसे मिले है। भले ही वास्तविकता में करवा के व्रत को निभाने के दिखावे की संस्कृति की तरह उसका (व्रत का) कोई औचित्य न हो, पर संस्कार हावी है। कन्हैया के आचरण को स्वाभाविक कहा जा सकता है पर अनुकरणीय नहीं क्योंकि इस स्वाभाविक आचरण का परिणाम सुखी दाम्पत्य को अस्वाभाविक और असह्य बना देता हैद्य।

करवाचौथ के व्रत के पीछे कई पौराणिक कथा है, जिसमें सबसे प्रचलित और मान्य कथा सात भाइयों की एकलौती बहन 'करवा' का भूलवश दीपक को चाँद समझकर अपना व्रत तोड़ने और परिणामस्वरूप पति की मृत्यु से जुड़ा है। भाई के बहन प्रेम में पड़कर की गई धूर्तता के कारण करवा के पति की मृत्यु हो जाती है, परंतु वह अपने पति का अंतिम संस्कार नहीं करती बल्कि पति के मृत देह के साथ साल भर तपस्या करती है, कष्ट झेलती है और अपने सतीत्व से पति को यमराज से जीतकर पुनर्जीवित करती है। नवभारत टाइम्स के अनुसार, "यह व्रत अखंड सौभाग्य और पति की लंबी उम्र की कामना करते हुए किया जाता है।"[5] इसी विश्वास के तहत स्त्रियों द्वारा एक समय तक व्रत का पालन किया जाता रहा और यशपाल की 'करवा का व्रत' की लाजवंती अपने पति के लिए इसी विश्वास के तहत व्रत रखती है। लाजवंती के मन में यह विश्वास है कि व्रत करने पर पति की आयु लंबी होगी और अगले जन्म में यही पति मिलेंगे और इसी विश्वास के तहत कन्हैया के लिए व्रत रखती है और इसी विश्वास के कारण जन्मे आतंक के कारण अपने प्रति कन्हैया का उपेक्षित नजारियाँ देख व्रत तोड़ भी देती है साथ ही सोचती हैं कि इस जन्म तो निबाह हो नहीं रहा अगले जन्म के लिए उसी मुसीबत को क्यों गले लगाएँ, "ये ही जनम निबाहना मुश्किल हो रहा है।...दूसरे जन्म के लिए वही मुसीबत पक्की कर रही हूँ...।[6] लाजवंती आठवीं पास पढ़ी-लिखी स्त्री है पर संस्कार के कारण यह विश्वास करती है कि व्रत से उसी पति की प्राप्ति हो सकती है और इसी के तहत व्रत करती है- "...जनम-जनम ये ही मिलें इसीलिए मैं भूखी मर रही हूँ।"[7] लाजवंती के व्रत करने के पीछे कोई वैज्ञानिक कारण नहीं है न ही कोई बहुत बड़ा मनोविज्ञान छिपा है इसके मूल में भी सीख और संस्कार है। यशपाल लिखते हैं, "जन्म-जन्म यही पति मिले इसलिए दूसरे व्रतों की परवाह न करने वाली पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी इस व्रत की उपेक्षा नहीं कर सकतीं।"[8] डॉ. अजय कुमार साव मार्क्सवादी आलोचक यशपाल द्वारा लाजों के व्रत तुड़वाने की घटना का विश्लेषण सामाजिक-पारिवारिक संरचना की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में करना उचित मानते है और उल्लेख करते हैं, "यहाँ सवाल अगले जन्म में पाने या न पाने का नहीं, बल्कि वर्तमान दाम्पत्य जीवन में अनपेक्षित, मानवीय ही नहीं, इतना हिंसक और क्रूर जो कुछ घटित हो रहा है, उससे मुक्ति का सवाल मुख्य है।"[9] और इसी मुक्ति के लिए लाजों अपने इस जीवन की निरर्थकता को जब देखती है, व्रत तोड़ देती है।

दाम्पत्य के बिगड़ते चेहरे की पृष्ठभूमि को जानने के लिए यह विचारणीय प्रश्न बन जाता है कि आज की पढ़ी-लिखी या अनपढ़, नौकरीशुदा या गृहवधू यह व्रत क्यों करती है। यशपाल लिखते हैं 'पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ भी इस व्रत की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। 'आज की स्त्रियाँ जानती हैं कि इस तरह के व्रत का कोई फायदा नहीं है। वैज्ञानिक धरातल पर ऐसे व्रत व्यर्थ हैं। ऐसे में प्रश्न बनता है कि ये स्त्रियाँ इस प्रकार का व्रत करती क्यों हैं। अगर उनसे पूछा जाए व्रत से क्या फायदे मिल रहे हैं, तो जवाब उनकी ओर से कुछ नहीं आएगा। पूछा जाएगा फिर क्यों करती हो? तो बस यह जवाब मिलता है कि करना पड़ता है इसलिए। अब इस करना पड़ता है के पीछे कारण क्या है? पति का आदेश, संस्कार या कुछ और। अगर पति के आदेश की बात करें तो इतना तो निश्चित है कि वर्तमान में जब पति को परमेश्वर मानने का कान्सेप्ट ही खत्म हो चुका है। स्त्री विमर्श इस बात की माँग करता है और मानता है कि पति-पत्नी रिश्ते में बराबर है और इस सोच को आत्मसात किए स्त्रियाँ

भी मंच पर बड़े-बड़े भाषण देते नहीं थकती। पति की हर आज्ञा को मौन हो यूँ ही स्वीकार कर लेने को वो तैयार नहीं है, तो ऐसे में पति के केवल आदेशानुसार व्रत करना संभव नहीं दिखाता। 'करवा का व्रत' की लाजवंती और 'करवाचौथी औरत' की सविता भी पति की हर आज्ञा को स्वीकार नहीं कर रही। लाजों के अंदर मुखर विरोध है और करवाचौथी औरत सविता के मन में मौन विरोध, तो ऐसे में उसकी आज्ञानुसार भूखे-प्यासे व्रत करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। यशपाल के यहाँ लाजवंती पर शिक्षा से मिले संस्कार बुरी तरह हावी हैं और इसलिए मानती है व्रत करके सौभाग्य की प्राप्ति हो सकती है- "मैं व्रत कर रही हूँ कि अगले जन्म में 'इन' से ही ब्याह हो और मैं सुहा ही नहीं रही हूँ।"[9] वहीं सुधा अरोड़ा की कहानी 'करवाचौथी औरत' की सविता तक आते-आते स्त्रियाँ इस मानसिकता से बाहर निकल चुकी है कि व्रत से सौभाग्य की प्राप्ति होगी बल्कि व्रत फैशन है। सविता अगले जन्म में अपने ही पति को पति के रूप में पाने के विश्वास तले व्रत नहीं करती बल्कि आज की स्त्री की तरह उस मजबूरी के मनोविज्ञान में व्रत करती नजर आती है, जो जानती है व्रत के फायदे नहीं पर करना जरूरी है। अपने व्रत की तुलना कुतिया के भूखे रहने से करती है। कुतिया फ्लॉपी का भोजन पसंद न होने के कारण भूखे रहना और सविता द्वारा व्रत करना एक ही है- "आज फ्लॉपी ने भी मेरे साथ करवा चौथ का व्रत रखा है।"[10] पौराणिक ग्रंथ तर्क देते हैं कि करवा के व्रत से दाम्पत्य में सुख, समृद्धि और प्रेम को बढ़ावा मिलता है। यह व्रत स्वस्थ दाम्पत्य का आधार होता है। वहीं सविता का कथन बतलाता है कि व्रत के मूल में भावना भूखे रहने की मजबूरी बस है।

विवाह उपरांत पुरुष का पति संदर्भ स्त्री के पत्नी रूप के आर्थिक उपलब्धि को पूरा करने का उत्तरदायित्व निभाता है साथ ही प्रेम, सहानुभूति की अपेक्षा रहती है, तो स्त्री का पत्नी रूप पुरुष के दैनंदिनी पारिवारिक जिम्मेदारी को उठाने का संकल्प, साथ ही शांति की व्यवस्था की अपेक्षा रहती है। ऐसे में अगर दोनों में से किसी एक के भी अभीष्ट की पूर्ति में बाधा दिखती है। किसी के भी समझौते में सामंजस्य की कमी दिखती है तो संबंध दिशाहीन हो जाता है। करवाचौथ पर लाजवंती के मायके से सरगी के आए पैसे जब दोस्तों के बीच न चाहते हुए भी किसी कारणवश कन्हैयालाल खर्च कर देता है और उसके लिए सरगी नहीं लाता है, तो पत्नी की आर्थिक उपलब्धि जिसके मूल में प्रेम रहा हो कि प्राप्ति में बाधा की सृष्टि होती है और दांपत्य में तनाव का सृजन हो जाता है। लाजो मुँह फुला कर बैठ जाती है और पति का अभीष्ट शांति की स्थापना में बाधा बनती है। उसके उतरे हुए चेहरे को देखकर भी माफी माँगना कन्हैयालाल का संस्कार अनुमति नहीं देता। भले गलती उसकी क्यों न हो वरना पत्नी सरकस हो सकती है। वहीं दूसरी, जिस व्यवस्था की चाहत पुरुष करता है जिसके अंतर्गत पारिवारिक जिम्मेदारी करवाचौथी औरत सविता को निभानी है, उसकी पूर्ति नहीं होती क्योंकि घर की कुतिया भूखी रह जाती है, ऐसे में दाम्पत्य में तनाव की सृष्टि होती है। लाजो अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिए तमाशा नहीं करती पर उसका फुला मुँह कन्हैयालाल की अभीष्ट व्यवस्था के अंदर शांति स्थापना में बाधा लगता है, वहीं सविता द्वारा कुतिया को भोजन न करवाने के कारण सविता का पति नाराज जरूर होता है पर कुतिया के लिए अलग से कुछ बनाने का आदेश नहीं देता बल्कि खुद जाकर उसका भोजन तैयार करता है। पति का स्वरूप बदल रहा है जहाँ लाजों द्वारा खाते वक्त मौन रहकर, मुँह फुलाकर नाराजगी व्यक्त करने पर कन्हैयालाल क्रोधित हो जाता है, उसे मारने को उठता है। वहीं 'करवाचौथी औरत' सविता के यहाँ पुरुष कन्हैयालाल का परिष्कृत वर्तमान रूप नजर आता है, जो नाराजगी व्यक्त जरूर करता है पर उम्मीद कुछ नहीं रखता। फ्लॉपी के लिए वो खुद भोजन तैयार करता है और उसके अपने लिए भी चिप्स तैयार करने की फरमाइश बेटी द्वारा की जाती है, पति खुद मौन है।

पति की लंबी उम्र के लिए की जा रही व्रत योजना वास्तव में किन जटिलताओं से ग्रसित है इसे भली-भाँति समझा जा सकता है कहानी 'करवा का व्रत' और 'करवाचौथी औरत' के माध्यम से। एक ओर तलाक की

संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। दाम्पत्य जीवन स्त्री-पुरुष के लिए सबसे बड़ी मजबूरी बनती जा रही है, वहीं पति की उम्र के लिए करवा का व्रत रखा जाना स्त्रियों के द्वारा कम नहीं हुआ बल्कि और भी शान-शौकत के साथ इसका पालन किया जा रहा है। धार्मिक संस्कार के अंतर्गत पत्नी के लिए व्रत करना जरूरी होता है भले व्रत के पीछे की भावना में अंतर आ गया हो। एक संस्कार हावी है जिसके तहत व्रत हो रहा है पर दूसरा संस्कार जो कहता है कि व्रत के दिन क्रोध, किसी की बुराई, मुख से अपशब्द नहीं निकालना चाहिए ताकि व्रत के फल की प्राप्ति हो वो गायब है। वर्तमान में व्रत के औचित्य का ज्ञान नहीं है स्त्रियों को। व्रत संस्कार में है इसलिए इसे निभाना है, मूल संवेदना जो है वो समाप्त है। करवाचौथी सविता का आचरण इसे व्यक्त करता है- "उधर सविता ने खीझ में अपना सिर झटक दिया। अब सारा दिन चाय की तलब सताएगी।"[11] सविता को व्रत को लेकर कोई खुशी या उत्साह नहीं है बल्कि नियम है, संस्कार से बनाए गए है इसलिए निभाना जरूरी है। दाम्पत्य का आतंक है कि विवाहित है तो रश्मों को निभाना पड़ेगा। भले ही उसका कोई फायदा होते न दिखे। इसके पीछे कोई वैज्ञानिक कारण न हो। एक ओर जहाँ इस रश्मों को लेकर स्वयं पत्नी उत्साहित नहीं है वहीं दूसरी ओर पत्नी की अपेक्षा रहती है कि पति जरूर उत्साहित दिखे और अगर वो उत्साहित नहीं है तो भी उसके आचरण में पत्नी के प्रति प्रेम, आदर, श्रद्धा, एहसान अधिक से अधिक दिखे और अगर ऐसा नहीं दिखता तो दाम्पत्य में तनाव की सृष्टि होती है। लाजों सोच बैठती है, " इन्हीं के लिए व्रत रख रही हूँ और यही ऐसी रूखाई दिखा रहे है।..."उन मर्दों को ख्याल है न कि हमारी बहू हमारे लिए व्रत रख रही है; इन्हें जरा भी ख्याल नहीं।[12] पति द्वारा एहसान न मानना दाम्पत्य में तनाव को जन्म दे रहा है। करवाचौथी औरत सविता के दर्द के पीछे भी यहीं कारण है कि उसके किए गए व्रत के प्रति एहसान न मानकर पति मेज पर रखा भोजन कैसे कर सकता है। ऐसे में एक सवाल उठकर खड़ा हो जाता है कि पति एहसान क्यों माने ? क्योंकि उसने तो व्रत करने कहा नहीं और उसके एहसान न मानने के कारण ही सविता जैसी करवाचौथी औरत परिवार में तिरस्कृत है। न तो बच्चे ही पूछ रहें है और न ही कोई और।

सुधा अरोड़ा की 'करवाचौथी औरत' की सविता उपेक्षा सह कर भी व्रत कर रही है जबकि वो जानती है इसका कोई फायदा नहीं है। वहीं यशपाल ने बहुत पहले ही अपनी कहानी 'करवा का व्रत' में लाजवंती के माध्यम से दिखा दिया है कि उपेक्षा होते ही स्त्री व्रत तोड़ देती है। संस्कारों से लड़ने का साहस यशपाल के यहाँ दिख रहा है, जबकि लाजवंती संस्कारगत जड़ता से बुरी तरह प्रभावित है और विश्वास करती है कि व्रत के बदले पति की प्राप्ति हो सकती है। केवल इस जन्म में ही नहीं बल्कि अगले जन्म में भी। यशपाल के यहाँ संस्कारगत जड़ता टूटती भी है और उसका कुछ परिष्करण भी हुआ है क्योंकि हेमराज भी मारना-पीटना बुरा मानता है। 'मारपीट बुरी बात है।' कन्हैयालाल भी लाजवंती की तीन में से दो इच्छा को पूरा कर रहा है। वहीं दूसरी ओर सुधा अरोड़ा की सविता उपेक्षित होकर भी अनमने भाव से ही सही व्रत को कर रही है। भले ही भावना-संवेदना में बदलाव आ चुका है। न तो पति की लंबी उम्र की इच्छा, न ही अगले जन्म उसी पति की प्राप्ति का संकल्प है, पर संस्कारगत जड़ता से निकल नहीं पाती और इसीलिए व्रत तोड़ नहीं पाती। यशपाल की लाजों सुधा अरोड़ा की सविता से पुरानी है पर उसका यह व्यवहार उसे सविता से आगे और आधुनिक बनाता है। डॉव अजय कुमार साव लिखते हैं- "यशपाल ने कन्हैयालाल के माध्यम से यह दिखाया कि जिस स्त्री के पत्नी रूप को हम निरीह मानते है,वह हिंसक भी हो सकता है,जो कि स्वाभाविक और मानवीय अस्मिता के संदर्भ में अनिवार्य है।"[13] भले ही संस्कारवादी जड़ता में जकड़ा समाज का एक भाग लाजों द्वारा व्रत तोड़ने को उचित न समझता हो,पर मानवीय अस्मिता के संदर्भ से देखे तो स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी है।

संस्कार के नाम पर शिक्षा स्त्री-पुरुषों दोनों को ही मिलती है। जिसमें स्त्रियों को एक ओर व्रत की परंपरा सौगात के रूप में मिलती है, तो दूसरी ओर यह शिक्षा कि जो इच्छा अपने मायके में पूरी नहीं हो सकी, ससुराल

में पति के साथ पूरी हो जाएगी। जब इस सोच के तहत स्त्रियों का गठन होता है तब अनकही बातों को भी पति द्वारा समझने की उम्मीद रखी जाती है। वास्तव में अनकही बातों को न समझने और सुनने की प्रताड़ना है दाम्पत्य में। पति-पत्नी दोनों की अपेक्षा रहती है कि जो बातें कही भी नहीं गई हो सामने वाला न केवल उसको सुने और समझे बल्कि मान भी ले। इसी सोच के तहत पति चाहता है भले ही अपने मुँह से जाहिर न करे पर पत्नी है तो सेवा करे। विवाहित कन्हैयालाल सोचता है कि पत्नी है तो खाना परोसे, पानी से हाथ धुलवाए, बिस्तर लगाए मूल रूप से सेवा करते रहे- "मुझे बाजार या होटल से खाना पड़े तो शादी का क्या लाभ।"[14] पुरुष के लिए विवाह का लाभ ही सेवा से जुड़ा है। तो दूसरी ओर संस्कार से मिली सीख के तहत 'करवा की व्रत' की लाजवंती भी सोचती है- "बहुत सी चीजों के शौक थे।... उसके पिता और बड़े भाई पुराने ख्याल के थे। सोचती थी, ब्याह के बाद इन चीजों के लिए कन्हैया से कहती।"[15] उसकी इच्छाएँ, कम से कम सभी इच्छाएँ कन्हैया के सामने जाहिर नहीं है पर दाम्पत्य की जटिलता ही है कि कन्हैया के द्वारा पूरा न होने का अफसोस है और ऐसे में प्रेम में सहज स्वाभाविक रूप से पाने की उम्मीद जिन चीजों की रहती है उसके लिए नखरा बनावटीपन शुरू हो जाता है और अगर तब भी पूरा न हो तो संवेदना विहीन संबंध ही देखने को मिलता है जैसा कि 'करवाचौथी औरत' सविता का संबंध है। जहाँ पति से कोई इच्छा नहीं, पति के घर लौटने पर चेहरे पर कोई खुशी नहीं, न ही संवेदना है न ही कोई अपेक्षा और शिकायत या प्रतिकार। लाजो अपने मन को मार रही है और मारते-मारते कन्हैयालाल को अभिनय के लिए विवश करके जाती है। इस विवश पति का वर्तमान रूप कैसा स्वरूप गठन कर रहा है यह भी विचारणीय है। तो करवाचौथी औरत की सविता मन मार चुकी है। बड़ी नीरसता से संबंध निभा रही है। लाजवंती के यहाँ उम्मीद जिंदा है, इसलिए मुखर विरोध है, पर सविता ने तो उम्मीद का दामन ही छोड़ दिया है। स्त्रियों के संबंध में देखें तो व्रत करने पति ने नहीं संस्कार ने कहा पर उदासी गुस्सा, खीझ पति पर है। दूसरी ओर पुरुष के संबंध में देखें तो खुश होकर पत्नी पूरे परिवार की सेवा करेगी ऐसा कोई वायदा पत्नी ने नहीं किया संस्कार ने बताया पर पूरा न होने पर अफसोस है और खीझ है तो पत्नी पर। सविता का पति घर लौटते ही भूखी कुतिया को देख कहता है, "ह्वॉट रबिश, यू कांट बी सो क्रुएल; बौखलाते हुए साहब मजबूत कदमों के साथ रसोई में दाखिल हुए, डीप फीजर से फ्लॉपी का मनपसंद पोर्क मिंसड निकाला, डिफ्रॉस्ट किया और गैस पर चढ़ा दिया।[16]

करवाचौथ का व्रत पति अस्मिता को भी आहत करता है। यद्यपि वर्तमान में करवाचौथ के व्रत के प्रति पति-पत्नी दोनों को विश्वास नहीं है पर उत्सव के रूप में इसका पालन स्त्रियों के लिए आज भी जरूरी हो जाता है। करवाचौथ के व्रत को निभाने के पीछे स्त्री की अपनी वजह रही है। पति की ओर से कोई जोर जबरदस्ती नहीं है परंतु फिर भी यह महसूसने पर वो बाध्य है कि व्रत करके उसपर एहसान किया जा रहा है। पत्नी की इसी सोच के तहत दाम्पत्य में पति प्रताड़ित भी हो जाता है और आतंकित भी। लाजो सोचती है, "इन्हीं के लिए व्रत रख रही हूँ और यही ऐसी रूखाई दिखा रहे हैं।..." "इन्हीं के लिए व्रत कर रही हूँ और इन्हें गुस्सा ही आ रहा है।..."[17] यद्यपि कन्हैयालाल ने लाजवंती को व्रत रखने नहीं कहा पर बावजूद इसके यह उम्मीद रहती है पत्नी की कि पति का आचरण उसके अभीष्ठ के अनुसार रहे; चुँकि उसके लिए व्रत रखा जा रहा है इसलिए एहसानमंद रहे और जब ऐसा नहीं रहता तो यही बात पत्नी के लिए तकलीफदेह हो जाती है। लाजवंती को भी इसी बात की तकलीफ है। यहाँ दाम्पत्य की समस्या के मूल में कारण यही है। यद्यपि कन्हैया का व्यवहार लाजो के प्रति कई दिनों से रूखा था पर करवा के व्रत के दिन लाजो द्वारा भूखे-प्यासे रहना उसके लिए व्रत करना और उस पर उसकी उपेक्षा ही दाम्पत्य की समस्या बन जाती है। वर्तमान में स्त्रियाँ इस बोध के तहत व्रत से नहीं जुड़ी है कि वही पति मिलेगा या उसकी आयु लंबी होगी बल्कि यह सोच है कि व्रत है तो निभाना है। 'करवाचौथी औरत' की सविता इसी मानसिकता के तहत व्रत कर रही है। अगर महानता

की जाती है तो उस महानता के बदले कम से कम प्रशंसा की इच्छा जरूर रहती है। पति व्रत की अपेक्षा नहीं रखता लेकिन करवा का व्रत करती औरत पति से बदले में उसके साथ व्रत करने और व्रत न तो कम से कम उसके प्रति कृतज्ञता का बोध रखने की अपेक्षा रखती है। इसी के तहत यशपाल के यहाँ पति कन्हैयालाल लाजवंती को पहले तो व्रत रखने से मना करता है सिर्फ इतना ही नहीं उसके न मानने पर एक समझौते के तहत स्वयं भी लाजवंती के लिए व्रत रखता है ताकि पत्नी की भावना आहत न हो और होता भी कुछ ऐसा ही है... "पति को उपासे दफ्तर जाने पर उसका हृदय गर्व से फूला नहीं समा रहा था।"[18] सुधा जी की 'करवाचौथी औरत' के यहाँ ऐसा नहीं है। बल्कि उनके यहाँ वह नया पुरुष है जिसने यथास्थिति को मौनता के साथ स्वीकार भी कर लिया है और बेपरवाह भी हो गया है। व्रत को कन्हैयालाल की तरह व्यर्थ समझता है। व्रत का फायदा नहीं है पर इतने वर्षों में उसे यह समझ में आ गया है पत्नी को इन बातों को समझाने का भी कोई फायदा नहीं इसलिए इस व्रत से उसे कोई लेना-देना भी नहीं है। न तो वो इनकार ही करता है और न ही स्वीकार कर कन्हैया की तरह खुद व्रत करता है बल्कि एक तरह से कहा जाए तो बेपरवाह हो उठता है। आफिस से आता है तो भूखी पत्नी के प्रति कोई चिंता नहीं दिखाता पर कुतिया का भूखा रहना उसे खलता है। सविता जब कहती है कि फ्लॉपी ने भी व्रत रखा है.. "आज फ्लॉपी ने भी मेरे साथ करवा चौथ का व्रत रखा है।"[19] इस पर पति का 'ह्वॉट रबिश' कहना इस तथ्य की पुष्टि करता है किस तरह इस व्यवस्था से उसे चिढ़ है। डॉ. अजय कुमार साव लिखते हैं, "अप्रिय और गैरजरूरी को आचरण बनाना कहीं न कहीं मौन-मूक समझौता की विवशता का सूचक है।"[20] कन्हैयालाल का व्रत करना और करवाचौथी औरत सविता के पति का बेपरवाह होना मौन-मूक समझौता की विवशता ही है। एक और करवाचौथी औरत लाजो कन्हैया की पीड़ा का कारण बनती है, तो दूसरी ओर करवाचौथी औरत सविता खुद पीड़ा में है। यहाँ एक और बात विचारणीय है कि कन्हैयालाल नव विवाहित है, अत: फैशन के तौर पर एक बार मन न रहते हुए भी व्रत करना उसके लिए संभव है और वो कर लेता है। वहीं करवाचौथी औरत की सविता और उसके पति दाम्पत्य में एक लंबा समय बीता चुके हैं। उनके घर में बड़े होते बच्चे इसका सबूत है। ऐसे में जिन चीजों के प्रति कन्हैयालाल फैशन में, पत्नी को खुश करने के लिए निर्वाह कर रहा है उसके प्रति वितृष्णा पैदा हो चुकी है। ऐसा नहीं है कि सविता का पति अपनी पूर्वनिर्धारित योजना के तहत या सीख के तहत उसके प्रति उपेक्षित व्यवहार रखता है बल्कि उसकी स्वाभाविकता में चीजें घटित हो जाती हैं। वर्तमान में देखें तो पत्नी के करवाचौथ के व्रत से पति को कोई खुशी नहीं है, कोई भावना नहीं है और न ही कोई बाध्यता है कि ऐसा वह करे। लेकिन पत्नी के अंदर अगर वो पति के लिए व्रत रखे तो पति भी उसके लिए व्रत रखे ऐसी चाहत पाई जाती है और अनकही ये चाहत भी दाम्पत्य में समस्या को जन्म देती है। ऐसा नहीं है कि सविता का पति सविता के बारे में कुछ नहीं सोच रहा बल्कि खाने की टेबल पर खाते हुए चाँद के निकलने को लेकर चर्चा करता है परंतु वह स्वयं इस ढोंग का हिस्सा नहीं बनना चाहता है, बेपरवाह हो चुका है। सविता का पति कन्हैयालाल के ही भविष्य की छवि है तो सविता भी लाजवंती का ही बदला रूप, जिसे अब भी लाजो की तरह पति द्वारा परवाह न करने के कारण अपनी परवाह होती है लेकिन एक लंबे समय को दाम्पत्य में बीता चुकने के कारण लाजो की तरह क्रांतिकारी हो व्रत नहीं तोड़ती। कुछ तो है जो उसे व्रत तोड़ने से रोक रहा है पर पति की उपेक्षा के कारण अगले जन्म में उसी पति का वरदान भी नहीं माँगती। लाजो अपने बारे में सोचकर व्रत तोड़ती है वहीं सविता व्रत और आशीर्वाद के दौरान सिर्फ और सिर्फ अपने बारे में सोचती है। सविता के पति का व्यवहार जानबूझकर ऐसा नहीं है और न ही कोई पूर्वनिर्धारित योजना और पत्नी पर गुस्सा है परंतु जो स्वाभाविक रूप से मान्य नहीं है उस आचरण से मुक्त होने का कम से कम खुद को मुक्त रखने का प्रयास है, कन्हैयालाल की तरह जबरदस्ती में चीजों को मानने को तैयार नहीं है।

वैवाहिक जीवन में स्त्री अपने अनुरूप व्यवस्था चाहती है तो पति का अभीष्ठ शांति की स्थापना है और व्यवस्था और शांति का टकराव ही समस्या को जन्म देता है। पत्नी की व्यवस्था कहती है कि व्रत जब पति के लिए हो रहा है तो पति कम से कम उसके प्रति आदर, श्रद्धा और एहसान का भाव रखे, वहीं दूसरी ओर पति शांति के लिए जो होता है होने देता है रोकता नहीं, भले ही कितनी ही वितृष्णा क्यों न भरी हो उसके होने के प्रति। करवाचौथ के बदले जिस आदर, श्रद्धा और उपकार का भाव पत्नियाँ पाना चाहती है वास्तव में वो अर्जित व्यवहार है। पर जब करवाचौथ के मामले में सामने पति को दिख रहा है कि इस कृत का कोई फायदा नहीं तो पत्नी के प्रति ऐसी भावना के जन्म का सवाल ही नहीं उठता और ऐसी अवस्था ही दाम्पत्य में तनाव के घेरे में चला आता है और पति आतंक में जीने को बाध्य।

यशपाल के यहाँ लाजो का पति कन्हैयालाल दाम्पत्य में प्रवेश करते ही शुरू से अंत तक डरा हुआ है। शुरुआत में पति सत्ता में अपनी पुरुष सत्ता को बचाए रखने का डर है इसलिए मारपीट तक नहीं पहुँचता पर पत्नी की तीन बातों में से दो बातों को मानकर एक को छोड़ देता है ताकि पत्नी सिर पर न नाचे। लाजवंती के विरोध के बाद इस डर में जी रहा है कि लाजवंती कहीं संबंध-विच्छेद न कर ले और समाज में उसकी जग हँसाई न हो जाए या फिर पलटकर उसे जवाब देने की उसकी आदत न बन जाए। पहली अवस्था में वो समाज की इस भूमिका से आतंकित है कि समाज उसे जोरू का गुलाम न मान ले या पत्नी उसके सिर पर तांडव न करे और दूसरे भाग में इस डर से आतंकित है कि कहीं पत्नी के छोड़ कर चले जाने पर पत्नी को न संभाल पाने की बदनामी न मिले। विमर्श में तो विरोध-प्रतिरोध का तांता लगा रहता है पर जब संस्कारों की बात आती है तो स्त्रियाँ मौन ही नहीं कुसंस्कारों(जड़ संस्कारों) को और खाद-पानी देते रहती हैं। वहीं 'करवाचौथी औरत' में घर की स्त्री आतंकित है संबंध को बचाने के लिए तभी फ्लॉपी के प्रसंग को लेकर पति और बच्चों द्वारा चार बातें सुनकर भी चुप रह जाती है। उसकी आत्मा में असंतोष इस हद तक भरा पड़ा है कि पति के साथ के लिए रखे जाने वाले व्रत में ही वो पति का साथ या सलामती नहीं माँगती। आधुनिक कहानी होते हुए भी सविता के मन में अपनी स्थिति को लेकर खीझ है पर विरोध नहीं। दूसरे का विरोध कर पाना तो दूर खुद अपने संस्कारों का भी प्रतिरोध या विरोध नहीं कर पाती है। लाजो इस जन्म में अपनी स्थिति में बदलाव लाती है वहीं सविता पुनर्जन्म के विश्वास को अपने मन में पालती है कि अगले जन्म में वह किसी साहब के घर की पालतू कुतिया बने। यहाँ सवाल खड़ा होता है वैवाहिक जीवन में जब इतना असंतोष और आतंक है तो साथ में क्यों है? कानूनी व्यवस्था में अलग होने का उपाय है तो अलग क्यों नहीं हो सकते? तो इसके पीछे भारतीय समाज और उसके संस्कार ही उतरदायी हैं। कानूनी व्यवस्था में अलग होने का विकल्प है परंतु सामाजिक व्यवस्था में अलग होना और समाज द्वारा उसे स्वभाविकता से स्वीकार कर लेना उतना सहज नहीं है। भारतीय समाज में तलाक का सवाल भी इज्जत के सवाल से जुड़ा हुआ है, प्रतिष्ठा से जुड़ा हुआ है और सामाजिक प्रतिष्ठा को न तो 'कन्हैयालाल' जैसा मध्यवर्गीय पुरुष खो सकता है और न ही सविता जैसी मध्यवर्गीय नारी। अत: मजबूरी की तरह उसे ढो रहे है। डॉ. अजय कुमार साव लिखते हैं, "यथार्थ तो यह है कि आज विवाह स्त्री-पुरुष संबंध में व्याप्त कुंठा का एक अनिवार्य कारण के समान होने के कारण-अप्रासांगिक बन गया हैं।"[21] अप्रसांगिक होने के बावजूद इस कुंठाग्रस्थ दाम्पत्य को निभाते रहना नियति है। दाम्पत्य के मूल में प्रेम की मजबूरी जुड़ जाती है और ऐसे में प्रेम की तलाश घर के बाहर शुरू हो जाता स्वाभाविक है क्योंकि वहाँ न तो आतंक है और न ही असंतोष। समाज की नजर में नैतिकता के विरुद्ध है पर वर्तमान में देखे तो दाम्पत्य को बचाए रखने का साधन यहीं है।

निष्कर्षत: सुखी दाम्पत्य के लिए संस्कारों के परिष्करण की जरूरत है। पुरुष संस्कार में परिष्करण का कार्य स्त्री द्वारा ही संभव है क्योंकि संस्कारों निर्माण भले ही पुरुषसत्ता द्वारा होता है पर व्यवहार में उसे शामिल करने

का काम स्त्रियाँ ही करती हैं। परिवार के बीच पलता पुरुष अपने घर-परिवार में ही माँ, बहन आदि को देखते हुए यह उम्मीद लगा बैठता है कि घर परिवार की जिम्मेदारी का निर्वाहन स्त्री के कर्तव्य क्षेत्र के अंतर्गत है और विवाह के बाद संस्कार के कारण ही उम्मीद पत्नी पर आ बैठती है और जब ऐसा नहीं होता तो कन्हैयालाल जैसा नव विवाहित बल प्रयोग करता है और करवाचौथी औरत सविता का पति समय के साथ समझौता कर बेपरवाह हो जाता है। पत्नी-पति के संदर्भ में संस्कार के परिष्करण का कार्य कर सकती है और करती भी है परंतु अपने संस्कार के अंतर्गत पुनःउसी संस्कारों को पुनर्जीवित करती है। 'करवा के व्रत' में जब कन्हैयालाल व्रत करने की सोचता है तो लाजो कहती है 'क्या पागल हो। कहीं मर्द भी करवाचौथ करते है।' कहीं न कहीं उन्हीं संस्कारों को पुनर्जीवित कर रहा है, जिसके विरोध में संघर्ष है। अतः पूजा होनी है तो पति की क्योंकि वह स्वामी है। ऐसे में दाम्पत्य की समस्या का समाधान कैसे हो। पुरुष उलझा हुआ है वह स्वामी बने या नहीं। ऐसे में पत्नी की इच्छा के प्रति अपेक्षित आचरण ही पुरुष को दाम्पत्य के आतंक से राहत दे सकता है पर प्रश्न हैं पत्नी के संस्कार का परिष्करण कैसे हो? संस्कार से मिले पति को परमेश्वर मानने के व्यवहार से आज स्त्रियाँ मुक्त हैं न तो लाजो के लिए ही कन्हैयालाल परमेश्वर है और न ही सविता के लिए उसका पति, क्योंकि अगर पति को परमेश्वर मानती तो उसके किसी भी व्यवहार से असंतुष्टि नहीं होती। लाजो से सविता तक का सफर करती हुई स्त्रियाँ अब तो इस तथ्य से भी परिचित हो गई हैं कि व्रत करके पति की उम्र न तो लंबी हो सकती है और न वही पति दुबारा मिल सकता है पर व्रत करने की जो भारतीय संस्कृति है, उससे मुक्त नहीं हो पा रही। समाज भी उस पर अब उस तरह से हावी नहीं है। करें तो करें, न करें तो न करें। जब पूछने वाला भी कोई नहीं फिर भी चली आ रही व्रत की संस्कृति में बँधी स्त्री का संस्कार पोषित व्यक्तित्व का फैशनेबुल संस्करण ही दाम्पत्य में समस्या की जन्मदातृ है, दोषी है। अतः दाम्पत्य के अनंत आतंक के साये से ग्रसित स्त्री-पुरुष मन का संस्कार ही सुखी दाम्पत्य का बीज बन सकता है।

संदर्भ :

1. यशपाल, 'करवा का व्रत' कहानी, www.hindisamay.com
2. साव, डॉ. अजय कुमार. "अस्मिता के सवाल और यशपाल", 'पैरोकार' पत्रिका, वर्ष-4, अंक-1, जनवरी-मार्च 2015, पृ. 12
3. यशपाल, 'करवा का व्रत' कहानी, www.hindisamay.com
4. साव, डॉ. अजय कुमार, "अस्मिता के सवाल और यशपाल", 'पैरोकार' पत्रिका, वर्ष-4, अंक-1, जनवरी-मार्च 2015, पृ. 12
5. नवभारतटाइम्स.कॉम
6. यशपाल, 'करवा का व्रत' कहानी, www.hindisamay.com
7. वही।
8. वही।
9. साव, डॉ. अजय कुमार. "अस्मिता के सवाल और यशपाल", 'पैरोकार' पत्रिका, वर्ष-4, अंक-1, जनवरी-मार्च 2015, पृ. 14
10. अरोड़ा, सुधा, करवाचौथी औरत, कहानी www.hindisamay.com
11. वही।
12. यशपाल, 'करवा का व्रत', कहानी, www.hindisamay.com
13. साव, डॉ. अजय कुमार, "अस्मिता के सवाल और यशपाल", 'पैरोकार' पत्रिका, वर्ष-4, अंक-1, जनवरी-मार्च 2015, पृ. 15

14. यशपाल, 'करवा का व्रत', कहानी, www.hindisamay.com
15. वही।
16. अरोड़ा, सुधा, करवाचौथी औरत, कहानी, www.hindisamay.com
17. यशपाल, 'करवा का व्रत' कहानी, www.hindisamay.com
18. वही।
19. अरोड़ा, सुधा, करवाचौथी औरत, कहानी, www.hindisamay.com
20. 'अस्मिता के सवाल और यशपाल', अजय कुमार साव, 'पैरोकार', पत्रिका, वर्ष-4, अंक-1, जनवरी-मार्च 2015, पृ. 16
21. वही

❖❖❖

शोधालेख

महाराष्ट्र की कोकणा आदिवासी लोक-संस्कृति

❍ निलेश शिवाजी देशमुख✡

संक्षिप्ति :

आदिवासी विमर्श आज चर्चा का विषय है। हर कोई आदिवासी संस्कृति तथा साहित्य को जानना चाहता है। भारत के विभिन्न राज्यों में आदिवासी समुदाय की संख्या लगभग 8.5 प्रतिशत है। उनमें से कुछ जनजातियाँ खत्म होने के कगार पर खड़ी हैं। सबसे प्रथम जब हम देखते हैं कि आदिवासी अस्सल मे कौन है? आदिवासी किसे कहा जाता है। तब हम पाते हैं कि आदिवासी शब्द के लिए विद्वानों में मतभेद देखने को मिलते हैं। भारत में आदिवासी के लिए मूलनिवासी, वनवासी, जंगली, गिरीजन, आदिवासी आदि नामों से परिभाषित किया जाता है। महाराष्ट्र राज्य में निवास करने वाला कोकणा आदिवासी समाज प्रकृति से जुड़ा हुआ समाज है इसलिए वह हमेशा से प्रकृति को सर्वस्व मानता है। इनकी अपनी संस्कृति है अपना धर्म है। इस प्रकृति पूजक समाज में प्रकृति से सम्बन्धित डोंगरदेव, कंसरामाऊली, वाघदेव, नागदेव, ऐसे अनेक देवी देवता निसर्ग के संबंध में है। जिनकी अलग-अलग समय पर पूजा की जाती है। कोकणा यह जल-जंगल-जमीन और जानवर को मानने वाली जनजाति नगर से दूर-दराज पहाड़ों के सान्निध्य में निवास करती है। हजारों सालों से महाराष्ट्र के सहयाद्री के पूर्व और पश्चिम के सतपुड़ा, भामरागढ़ पर्वत श्रेणी के सानिध्य में रहने से उनका सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास अच्छे से हो नहीं पाया है। आदिवासी संस्कृति के बारे में महाराष्ट्र के आदिवासी साहित्यकार वाहरू सोनवणे कहते हैं, "आदिवासियों के स्वतंत्र तीज-त्योहार, देवी-देवता और उनकी पूजा विधि है। आदिवासियों के स्वतंत्र विचार है नित्य नियम हैं आदिवासी की स्वतंत्र संस्कृति है।" जिससे आदिवासी संस्कृति को समझ सकते हैं। आदिवासी सिर्फ मनुष्य की ही बात नहीं करता वह जल-जंगल-जमीन, पशु-पक्षी, प्राणी, पेड़-पौधों को बचाने की बात करता है।

बीज शब्द : कोकणा, आदिवासी, लोकसंस्कृति, डोंगरदेव

कोकणा आदिवासी समाज महाराष्ट्र के नासिक, ठाणे, धुले, नंदूरबार तथा गुजरात के डांग, सूरत, वलसाड और दादरा नगर हवेली एवं राजस्थान के कुछ क्षेत्र में देखने को मिलता है हजारों सालों से आदिवासी समाज यह जंगलों एवं पहाड़, नदियों के आसपास के क्षेत्र इनका निवास स्थान रहा है। कोकणा, कुंकणी, कोकणी यह कोकणा आदिवासी के समानतादर्शक नाम है इनमें कोकणा यह नासिक ठाणे, कोकणी-धुले नंदुरबार कुंकणा,

✡ *शोधछात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, मो. नं 9404787698*

कुंकणी- गुजरात में प्रचलित नाम हैं पर यह एक ही वंशज से माने जाते हैं। विद्वानों ने कोकणा आदिवासियों की उत्पत्ति महाराष्ट्र के अरबी समुद्र के किनारे के 'कोकण' इस क्षेत्र से मानी हैं प्रा.बी.ए.देशमुख का कहना है कि 1300 के पास दुर्गादेवी का अकाल पड़ने के कारण कोकणा आदिवासी समाज ठाणे नासिक से लेकर धूले नंदुरबार एवं गुजरात के डांग वलसाड सूरत तक फैल गया इसलिए कोकण प्रदेश से आने से इन्हें 'कोकणा' कहा गया। कोकणा आदिवासी समाज नाग वंशज से संबन्धित हैं जो कि बहुत प्राचीन समय से निवास कर रहे हैं पर आचार्यों ने इनके तरफ लक्ष्य केंद्रित नहीं किया। कोकणा आदिवासी समाज प्रकृति पूजक समाज है इस समाज में डोंगरदेव, कन्सरामाऊली, वाघदेव, नागदेव, रानशिवारदेव ऐसे अनेक देवी-देवताओं की पूजा की जाती है यह निसर्ग के संबंध में है। इनकी अपनी स्वतंत्र संस्कृति देखने को मिलती है। संस्कृति के बारे में डॉ.कृष्णदेव उपाध्याय का मानना है कि "लोक संस्कृति से हमारा अभिप्राय जन-साधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती थी जिसकी उत्स-भूमि जनता थी। इस संस्कृति के अनुयायी बौद्धिक विकास के निम्न धरातल पर अवस्थित थे"। इस परिभाषा में डॉ. उपाध्याय जी कहते हैं कि संस्कृति यह जनसाधारण समाज से प्रेरित होती है और उसका विकास होता रहता है। लोक संस्कृति लोक की अपनी अलग पहचान एवं विशेषता है। लोक में व्याप्त जनजीवन के पूरा काल से लेकर अद्यतन काल तक के लोक-विश्वास, धार्मिक मान्यताओं एवं सामाजिक संस्कार तथा आस्थाओं व रीति-रिवाज, विधि-पर्व, अनुष्ठान, उत्सव प्रथाओ परंपराओं आचार विचार व जीवनदृष्टि आदि के समस्त रूप को लोक संस्कृति में समाहित किया जा सकता है। कोकणा आदिवासी लोग सीधे-सादे अपने में ही मस्त और खुश दिखाई देते हैं। कोकणा आदिवासी समाज में वर्ष की शुरुआत बरसात के दिनों से होती है मुख्यत: महाराष्ट्र में हिंदू परपंरा से अप्रैल महीने में गुड़ीपाड़वा के समय से नए वर्ष की शुरुआत मानी जाती है। लेकिन कोकणा आदिवासी समुदाय बरसात होने के 15 दिन बाद पेड़ पौधों पर नयी पल्लव आने लगती हैं और वह हरे-भरे दिखाई देते हैं। उसी समय 'कवली की सब्जी' भी खाने लायक हो जाती हैं। इसी के साथ करटुला, तेरा, देवी, आळु आदि सब्जियाँ जंगल से विशिष्ट दिन लेकर आते हैं और नए साल की शुरुआत मानी जाती हैं। इस सब्जी को पकाने के बाद विधिवत पूजा करते हैं तब खाते हैं। इसी दिन रात के समय ढोल वाद्य पर नृत्य का आयोजन होता है। इसके अलावा जंगल से विभिन्न प्रकार के कंदमूल भी लेकर आते हैं, जो शरीर के लिए बेहद फायदेमंद होते हैं। शायद यही कारण होगा कि वे हर साल खाने में कम से कम एक बार उपयोग करते हैं। कोकणा आदिवासी समाज में नासिक, धुले आदि क्षेत्र में आज बड़ी मात्रा में लोग खेती व्यवसाय करते हैं, साथ ही पशुपालन, मछली पकड़ना, शिकार करना यह आज भी अनवरत रूप से चल रहा है। खेती में वह बाजरा गेहूं चावल, रागी आदि की खेती करते हैं, साथ ही उड़द मूंग, अरहर चना जैसे धान उपजाते हैं। लेकिन एक वर्ष चलेगा इतना अनाज उनके पास नहीं होता, इस वजह से उन्हें पशुपालन अथवा शिकार करनी पड़ता है। कोकणा आदिवासी समुदाय भी अन्य समुदाय की तरह विभिन्न तीज-त्योहार, उत्सव मनाते हैं। जिनमें चैत्र-उत्सव(घर देवता), आखाजी, सुख भंडारा, बैल-पोला, पित्रा, नवरात्र उत्सव, दसरा, बाघबारस, दीपावली, डोंगरदेव उत्सव, होली-शिमगा उसी के साथ नागपंचमी, गणपति उत्सव, कार्तिक स्वामी पूजा, संक्रांति, महाशिवरात्रि, हनुमान जयंती (5 साल में एक बार) आदि छोटे-मोटे तीज-त्योहार बड़ी धूमधाम से कोकणा समाज में मनाए जाते हैं। इनके विधि-विधान तथा मौखिक गीत-नृत्य के माध्यम से लोक-संस्कृति का दर्शन होता है इससे यह मालूम होता है कि यह आदिवासी संस्कृति कितने पुराने समय से चली आ रही है। जिसका पुट आज भी देखने को मिलता है।

कोकणा आदिवासी समाज की खान-पान की पद्धतियाँ सरल तरीके से देखने को मिलती है। जो शरीर के लिए फायदेमंद है रागी, बाजरा, गेहूं, चावल की रोटी एवं उड़द, कुलित, चना, अरहर, मटर आदि की दाल और अन्य कडधान्य तथा चावल का उपयोग खाने में किया जाता है। कोकणा आदिवासी समाज आदिम काल से

ही जंगल के सानिध्य में रहने से उन्हें कंदमूल उतने ही प्यारे लगते हैं जितने नगर के लोगों को पिज्जा और बर्गर। इसलिए हर साल एक-न-एक कंदमूल खाता जरूर है। उसी के साथ मांसाहार भी करता है डोंगरदेव उत्सव, चैत्रउत्सव, सुख भंडारा आदि उत्सव समाप्ति के बाद बकरे की बलि देने की प्रथा है। उस वक्त वह बकरे का मटन वह मिलबांट कर खाते हैं उसी के साथ महुआ की शराब भी पीते हैं। शराब गाँव के आसपास के महुआ के पेड़ पर लगे फूल से शुद्ध शराब बनाई जाती है जिसका इस्तेमाल औषधि के रूप में भी किया जाता है। जब कभी छोटे बच्चों को खांसी आती है तो उस वक्त चाटने के लिए दी जाती है उससे वह ठीक हो जाता है इसलिए प्रौढ व्यक्ति मटन के साथ शराब पीना फायदेमंद समझते हैं। इस तरह कोकणा आदिवासी समाज ने अपनी परंपरा से चली आ रही खानपान की पद्धति को कायम रखा है। इस समाज में खाना होने के बाद दिन की थकावट मिटाने के लिए गमत का आयोजन किया जाता है या संबल वाद्य पर नृत्य किया जाता है इसमें स्त्री-पुरुष का भेदभाव नहीं किया जाता एक साथ में वे नृत्य करते हैं। इस समाज में घर चलाने का हक जितना पुरुष का है उतना ही स्त्री का भी। क्योंकि कोकणा आदिवासी में मतभेद कम देखने को मिलता है। इस जनजाति में दहेज प्रथा जैसे विषय नहीं हैं बल्कि पुरुष को 'वधुमुल्य' चुकाना पड़ता है। महिलाएँ खुद खेती करती हैं, बाजार जाती है और उपजा हुआ धान क्रय-विक्रय करती हैं साथ ही घर चलाने के लिए जरूरी सामान बाजार से लेकर आती हैं। इतनी क्षमता आदिवासी स्त्रियों में दिखाई देती है। यह पूरी तरह से अपने परिवार का ध्यान रखती है। तीज-त्योहार में अपनी अहम भूमिका निभाती है। इनका चरित्र स्वच्छ, सहज, सरल और स्वाभिमानी है। इसलिए कोकणा आदिवासी की एक अलग विशेषताएँ देखने को मिलती है।

हिंदू परंपरा में जिस तरह षोडश संस्कार मनाए जाते हैं उसी तरह से कोकणा आदिवासी समाज में जन्म, मुंडन, बारसे, विवाह, मृत्यु, दहावा आदि संस्कार मनाए जाते हैं। संस्कारों में इनके विविध तरह के विधि-विधान तथा मौखिक गीत गाए जाते हैं। जन्म, मुंडन, विवाह आदि के वक्त महिलाएँ खुशी के गीत गाती हैं। जिसमें वह विवाह में मंडप के गीत, धर निकालने के गीत, हल्दी के गीत, देवका के गीत, तेलवना के गीत, वाघा के वक्त के गीत, शादी के गीत, गौणा के गीत आदि। पुरुष मृत्यु के नौवे दिन रात में और डोंगरदेव उत्सव मे आठ दिन तक गीत गाते हैं, कथाएँ गाते हैं। इन लोकगीत, लोककथाओं में आदिवासी समाज का दर्शन होता है। यही उनकी धरोहर है जिनका कहीं भी लिखित स्वरूप दिखाई नहीं देता। यह मौखिक गीत कथाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सतत हस्तांतरित होती रही हैं जिससे आदिवासी समाज की संस्कृति के विभिन्न तत्व का पता चलता है। आदिवासी संस्कृति कितनी पुरानी है यह उनके रीति-रिवाज, आचार-विचार, खान-पान रूढ़ि-परंपराओं, गीत-संगीत-नृत्य से भी लगाया जा सकता है। उनके जीवन शैली के मूल्य आज भी बरकरार दिखाई देते हैं। कोकणा आदिवासी समाज में प्रमुख उत्सव के रूप में डोंगरदेव उत्सव मनाया जाता है जिसे कार्तिक मार्गशीर्ष के पूर्णिमा के समय आयोजित किया जाता है। होता इस उत्सव में कुछ मान्यताएँ, नियम है जिसमें सिर्फ पुरुष ही सहभाग लेते हैं और महिलाएँ दूर से दीप पूजन करती है। इस उत्सव में गीत-नृत्य-गाथा एक साथ देखने को मिलती है। उत्सव में हर परिवार का एक सदस्य पुरुष का सहभाग रहता है। 10-12 दिन तक चलने वाले उत्सव में गाँव के आसपास के लोग भी उत्साह सहभागी होकर नाचते गाते हैं। सम्पूर्ण उत्सव गाँव समूह से मनाया जाता है। जिनमें प्रमुख भूमिका पुजारी (भगत), मुधानी, भोप्पा/खुट्या, साधु, माऊलीया आदि की रहती है। उसी के साथ पावरकर, टापरागवारी, कथकरी (कथा गाणेवाला) जो गाथा लगाते हैं यह सभी व्यक्ति अलग-अलग कार्य करते हैं एक जगह समूह में रहना और गीत नृत्य गाना तथा विधि-विधान करना पहाड़ (गढ) की पूजा करना इससे भी कोकणा आदिवासी समाज की संस्कृति का दर्शन होता है। इनके माध्यम से उनके पुरखा साहित्य के गीत, कथा, गाथा, नृत्य, संगीत, वाद्य का सामंजस्य दिखाई देता है।

कोकणा समाज में बहुत सारे लोक विश्वास मान्यताएँ और अंधश्रद्धा जैसे विषय ने अपने आसपास घर कर

लिया है। वास्तविकता यह है कि ग्राम में रहते हुए उन्हें भूत-पिचासिनिओं और देवी शक्तियों का भी अनुभव हुआ इस कारण वे जादू, मंत्र, टोना टोटका आदि की तरफ मुड़े वे खुद न जाते हुए भी उन्हें वैसी परिस्थिति ने धकेला है। इनमें प्रमुख समस्याएँ यह रही है जनजातीय समाज में अशिक्षा, दुर्गम क्षेत्र में निवास, वैज्ञानिकता का अभाव, भगत पर अधिक विश्वास, डॉक्टर का अभाव, पैसों का अभाव आदि कारणों से यह समाज अधिकतर अंधश्रद्धा में जी रहा है। गाँव में किसी व्यक्ति को बिच्छू वगैरह जब काटता है, तब डॉक्टर के पास ले जाने के बजाए गाँव के किसी भगत के पास उसे ले जाते हैं जिससे वह व्यक्ति अपनी मंत्र विधि से उसे ठीक कर पाता है। जब गाँव में कभी गाय, बैल, बकरी बीमार रहती है तब जंगल से लाई हुई जड़ी बूटी औषधियाँ लगा देने से या पिला देने से वह ठीक हो जाती है। इससे उनके ज्ञान का परीक्षण किया जा सकता है। कोकणा जनजाति का विश्वास जिन बातों पर है उस पर वे खरे उतरते हैं। पूरी श्रद्धा भाव से उसे पूरा करते हैं। भगत सिर्फ पुरुष ही होते हैं महिला नहीं क्योंकि महिला रही तो वह भूत होती है, बच्चों को खाती है। इस तरह के अनेकों मान्यताएँ कोकणा आदिवासी समाज में परंपरा से चली आ रही है। लोकविश्वास पर लेखक ने कहा है कि "आदिवासी समाज में लोक विश्वास, मान्यताएँ, रूढ़ि परंपरा यह बहुत प्रचलित है। लोकविश्वास अज्ञात की प्रतिक्रिया से प्रकट होता है इसका रचनाकार कौन है? कोई नहीं जानता लोग बिना सच्चाई का पता किये स्वीकार कर लेते हैं और समाज में लोग विश्वास रूप में प्रचलित हो जाते हैं। वृक्ष पूजा, जानवरों की पूजा, सरीसृप की पूजा, जीव जंतु और मृतकों की पूजा लोक विश्वास का मूल है। लोक संस्कृति का विस्तार अत्यंत व्यापक है लोक जीवन की व्यापक भूमि पर लोकगीतों में होने वाली बहुआयामी व्यंजना लोक संस्कृति को ऊर्जावान बनाती है। लोक विश्वास और पारंपारिक जीवन शैली पर आधारित जीवन की उस चेतना को लोक संस्कृति की व्याख्या दी जा सकती है"। कोकणा आदिवासी समाज ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व निर्माण किया है। जो महाराष्ट्र में भिल्ल, मावची, गावित, वारली, महादेव कोली, आंध आदि समाज के साथ वह दिखायी देता हैं।

आदिवासी समाज की पोशाक की बात करें तो इनमें महिला रंग बिरंगे कपड़े, आभूषण पहनती हैं साथ ही माथे पर गोंदन करती हैं। यह महिला साड़ी के दो भाग करके, एक को फड़की कहा जाता है जो सिर पर ओढी जाती है तो दूसरे को लुगड़ा कहा जाता है जो कंबर के नीचे पहनते हैं साथ ही चोली या ब्लाउज/पोलका भी पहनती हैं। इसमें इनकी फड़की की अलग विशेषताएँ हैं। यह लाल रंग की होती है जिस पर सफेद डॉट रहते हैं और पुरुष पैंट शर्ट तथा कुछ प्रौढ व्यक्ति धोती कुर्ता और और सिर पर सफेद गाँधी टोपी पहनते हैं। ज्यादातर महाराष्ट्र में सफेद कपड़ा पहनना अच्छा मानते हैं और आदिवासी समाज में भी पुरुष सफेद कपड़े ही पहनना पसंद करते हैं कोकणा आदिवासी समाज में विशिष्ट त्योहारों पर नए कपड़े लिए जाते हैं जैसे कि विवाह, दीपावली, होली आदि के वक्त वर्तमान में परिवर्तित रूप देखने को मिलता है अब कभी भी लेकर पहनते हैं इस समाज में रहन-सहन की बात करें तो इनका निवास स्थान जंगलों के आसपास ही देखने को मिलता है इसलिए इनके मकान खपरैल की छप्पर से बने होते हैं और दीवार मिट्टी की होती है। एक बाजू में वह खुद तो दूसरी बाजू में अपने पशुओं के लिए मकान बनाकर एक साथ खुशी से रहते हैं ज्यादातर यह जंगल की लकड़ियों का ही प्रयोग करते हैं जैसे खेती के लिए औजार और खेती से उपजा हुआ धान/अनाज रखने के लिए मुड़ी/साटा, घर बनवाने के लिए, मनोरंजन के वाद्य बनाने के लिए मुख्य रूप से इनका उपयोग होता है।

निष्कर्ष : कोकणा आदिवासी समाज में कोई भी उत्सव हो वह पूरे समूह में मनाया जाता है यह इनकी अलग संस्कृति है। क्योंकि आदिवासियों की समूह में रहने कि एक अलग विशेषता है आदिवासी समाज परंपरा से समूह में टोली बनाकर रहते आया है उन्होंने जंगल को कभी संपत्ति के रूप में देखा नहीं वह अपना सर्वस्व चांद, सूर्य, हवा, अग्नि और जंगल को ही माना है इस प्रकृति पूजक समाज की संस्कृति आज भी जस की तस देखने को मिलती है।

सन्दर्भ :

1. डॉ. संजय लोहकारे, आदिवासी लोक साहित्य शोध आणि बोध, मेधा पब्लिशिंग हाउस, अमरावती, पृ.15
2. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, लोकसंस्कृति की रूपरेखा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 12
3. आणि जिवण, कोकणा : कोकणी इतिहास, प्रा.बी.ए.देशमुख, सुगावा प्रकाशन, पुणे
4. गगनांचल साहित्यिक पत्रिका, सितम्बर-दिसम्बर, 2019

❖❖❖

शोधालेख

समकालीन हिंदी ग़ज़ल में पर्यावरणीय चेतना

- विनीत कुमार यादव[1]
- डॉ. क्षमा शर्मा[2]

संक्षिप्ति :

भारतीय संस्कृति आदि काल से ही पर्यावरण के प्रति सचेत रही है। हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में प्रकृति और पर्यावरण संरक्षण का उल्लेख मिलता है। समकालीन साहित्य में हिंदी गजल की अपनी अलग पहचान है। यह अपनी सहजता, सरलता, व्यंग्यात्मकता, तीक्ष्णता, सांकेतिकता, चंचलता और संक्षिप्तता के कारण वर्तमान समय में काफी लोकप्रिय है। आज की हिंदी गजल समाज में हो रहे सूक्ष्मतम बदलाव पर भी पैनी नजर बनाए हुए है। मानव जीवन और प्रकृति का सम्बन्ध शाश्वत है। मनुष्य की यह सहज मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है कि वह अपने आस-पास के पर्यावरण से प्रभवित भी होता है और उसको प्रभावित भी करता है। पर्यावरण संरक्षण के लिए पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले कारणों पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। पर्यावरण संरक्षण किसी एक व्यक्ति या एक देश का काम नहीं है यह पूरे विश्व के लोगों का कर्तव्य बनता है कि वह पर्यावरण को संरक्षित रखें। जब पूरी मानवता पर्यावरण के प्रति संवेदनशील होने का प्रयत्न कर रही है तो हिंदी साहित्य और विशेषकर हिंदी गजल इससे निर्लिप्त कैसे रह सकती है। हिंदी गजल ने बड़ी की कुशलता से अपना पर्यावरणीय दायित्व निभाते हुए साहित्य की सार्थकता को सिद्ध किया है।

बीज-शब्द : हिंदी गजल, पर्यावरण, प्रदूषण, प्रकृति, जैव विविधता संरक्षण।

भारतीय संस्कृति आदि काल से ही पर्यावरण के प्रति सचेत रही है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं को ऋतुस्वरूप, वृक्षस्वरूप, नदीस्वरूप एवं पर्वतस्वरूप बताया है। ऋग्वेद में वर्णित सभी देवी-देवता जैसे अग्नि, वरुण, सूर्य, उषा, अदिति आदि प्रकृति के ही अंग हैं। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतलम् के मंगलाचरण में कहा है कि, 'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिष्टाभिरीशः'। अर्थात महाकवि कालिदास ने जल, वायु, अग्नि आदि को ईश्वर का ही स्वरूप (शिव) माना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध 'कुटज' में पृथ्वी को माता एवं स्वयं को उसका पुत्र माना है। हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में प्रकृति और पर्यावरण संरक्षण का उल्लेख मिलता है।

1. शोधार्थी, 2. शोध पर्यवेक्षक, लखनऊ विश्वविद्यालय
पता : 403 , टावर 1 , बी. बी. डी. ग्रीन सिटी, लखनऊ , उत्तर प्रदेश 226028
Email : vinit.edu@gmail.com, 9654327365

समकालीन साहित्य में हिंदी गजल की अपनी अलग पहचान है। यह अपनी सहजता, सरलता, व्यंग्यात्मकता, तीक्ष्णता, सांकेतिकता, चंचलता और संक्षिप्तता के कारण वर्तमान समय में काफी लोकप्रिय है। गजल मूलत: अरबी भाषा का शब्द है। परंतु साहित्य की एक विधा के रूप में इसका विकास फारसी भाषा में हुआ। ईरानी आक्रमणकारियों के साथ यह काव्य रूप भारत में प्रविष्ट हुआ। तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण गजल की विषय वस्तु बहुत सीमित रही। गजल, राज-दरबारों की विलासिता से बाहर नहीं निकल सकी। लोक जीवन की समस्याएँ एवं चुनौतियाँ इसकी परिधि से बाहर ही रहीं।

हिंदी गजल को समकालीन सामाजिक सरोकारों से जोड़ने का क्रांतिकारी कार्य संभवत: दुष्यंत कुमार ने ही किया। दुष्यंत कुमार ने हिंदी गजलों में तत्कालीन युग बोध को अभियक्ति दी। उनके परवर्ती काल में हिंदी गजल को एक नई दिशा एवं ऊर्जा मिली। हिंदी गजलों में समकालीन मुद्दे; जैसे, पर्यावरण-संरक्षण, आतंकवाद, उपभोक्तावाद, तकनीकी विकास, स्त्री-विमर्श, सामाजिक असमानता, पत्रकारिता, संस्कृति आदि की अभिव्यक्ति होने लगी। इस नई परम्परा में मुन्नवर राणा, अदम गोंडवी, बल्ली सिंह चीमा, विनय मिश्र, ममता किरण, प्रदीप साहिल, गौतम राजऋषि, ज्ञान प्रकाश विवेक, गिरिराजशरण अग्रवाल, रामकुमार कृषक, राम मेश्राम, जहीर कुरेशी, कमलकिशोर श्रमिक, माधव कौशिक, देवेन्द्र आर्य, मधुवेश, महेश अग्रवाल, हरेराम समीप, राजेश रेड्डी, विज्ञान व्रत, तुफैल चतुर्वेदी, डॉ. उर्मिलेश, इंदुश्रीवास्तव, किशन तिवारी, शिवओम अम्बर, डी.एम. मिश्र आदि गजलकारों ने समकालीन परिस्थितियों और चुनौतियों को अपनी गजलों का विषय बनाया है।

मानव जीवन और प्रकृति का सम्बन्ध शाश्वत है। मनुष्य की यह सहज मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है कि वह अपने आस-पास के पर्यावरण से प्रभवित भी होता है और उसको प्रभावित भी करता है। पर्यावरण शब्द संस्कृत भाषा के 'परि' उपसर्ग (चारों ओर) और 'आवरण' से मिलकर बना है जिसका अर्थ है ऐसी चीजों का समुच्चय जो किसी व्यक्ति या जीवधारी को चारों ओर से आवृत्त किये हुए हैं। हिंदी गजल में पर्यावरण के कई घटकों को शामिल करते हुए प्रभावशली शेर कहे गए हैं। हिंदी गजल के शिल्प को नई परिभाषा देते हुए ममता किरण ने तो प्रकृति को गजलमय मान लिया है। जैसे -

चाँद तारे नदी पेड़ पौधे
खूब कुदरत के भी काफिये हैं।

- ममता किरण

औद्योगिक विकास और प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन से पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव जग जाहिर है। मानव जाति के समक्ष पर्यावरण को संतुलित बनाये रखने की चुनौती है। पर्यावरण के संरक्षण को लेकर आज विश्व समुदाय एकमत है। प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन से नाना प्रकार की समस्याएँ पैदा हो रही हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ सहित कई अंतराष्ट्रीय संगठन और गैर-सरकारी संगठन पर्यावरण को बचाने में लगे हुए हैं। समकालीन शहरी जीवन का अकेलापन और प्रकृति से बढ़ती दूरी एक कटु सत्य है। जब पूरी मानवता पर्यावरण के प्रति संवेदनशील होने का प्रयत्न कर रही है तो हिंदी साहित्य और विशेषकर हिंदी गजल इससे निर्लिप्त कैसे रह सकती है। ज्ञान प्रकाश विवेक ने मानव जीवन और प्रकृति के समन्वय को अपनी गजलों में ढाला है-

कोई पक्षी मेरे आँगन में न उतरे दिन भर
मेरे भगवान ! मुझे इतना अकेला न बना

- ज्ञान प्रकाश विवेक

प्रकृति सदा से ही साहित्य को सुशोभित करती रही हैं। परन्तु समकालीन साहित्य का ध्यान इसके संरक्षण पर भी है। बढ़ती जनसंख्या के कारण मनुष्य की प्रकृति पर निर्भरता बढ़ी है। प्राकृतिक संसाधनों पर अत्यधिक

दबाव है। वृक्षों का आवरण धीरे-धीरे घट रहा है। वृक्षों से हमें न केवल ऑक्सीजन और भोजन मिलता है अपितु यह हमारे जीवन को जीने के लिए अति आवश्यक वस्तुएँ जैसे कि भोजन, दवाइयाँ, स्वच्छ हवा, स्वच्छ जल, वर्षा आदि प्रदान करने में अपना विशेष योगदान देते हैं। पेड़ हमें बहुत सारी प्राकृतिक आपदाओं से भी सुरक्षित रखते हैं तथा प्रकृति के साथ मानव जीवन के समन्वय को सम्भव बनाते हैं। हिंदी गजल की सूक्ष्म दृष्टि पर्यावरणीय विमर्श पर भी है। समकालीन गजलकारों ने पर्यावरण संरक्षण की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसे अपने गजलों में ढाला है। प्राकृतिक संसश्यनों के दोहन से न सिर्फ पर्यावरण में परिवर्तन हुआ है बल्कि इसका प्रभाव सामाजिक-राजनितिक ढांचे पर भी हुआ है। कविता विकास ने इस अन्तर्सम्बन्ध को बखूबी समझते हुए कहा है -

अब न सजती चौपालें, पेड़ कट गए सारे
आम, नीम, पीपल की अब कहाँ निशानी है

- कविता विकास

विभिन्न प्रकार के जीव जंतुओं का अस्तित्व मानव जीवन के लिए जरूरी है। जैव-विविधता के बिना पृथ्वी पर मानव जीवन असंभव है। पृथ्वी की वर्तमान जैव-विविधता लगभग 400 करोड़ वर्षों के विकास का परिणाम है। इस जैविक धन के निरंतर क्षय ने मनुष्य के अस्तित्व के लिये गम्भीर खतरा पैदा कर दिया है। दुनिया के कई देशों में जैव-विविधता का लगातार हो रहा क्षरण चिन्ता का विषय है। प्रकृति में कुछ भी अनायास नहीं है। मानव जाती के लालच ने प्रकृति के संतुलन को बिगाड़ दिया है। हिंदी गजल की चिंता प्रकृति के नैसर्गिक रूप को पुनः प्राप्त करने की है। राजेश रेड्डी सम्पूर्ण मानवता से इसके लिए आग्रह करते है -

मोतियों ही की तवक्को न समुन्दर से रखें
सीपियाँ भी हैं समुन्दर का जरूरी हिस्सा

- राजेश रेड्डी

भौतिक विकास की अंधी दौड में इंसान पूरी धरती को अपने तरीके से बनाने, बिगाड़ने या संवारने में लगा हुआ है। शायद इंसान यह भूल चुका है इस धरती पर वह अकेला नहीं है। इंसानी अस्तित्व ही प्रकृति के समन्वय का प्रतिफल है। इस सृष्टि पर जितना अधिकार इंसानों का है उतना ही अन्य जीव-जंतुओं और पेड़-पौधों का भी है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जारी रिपोर्ट स्टेट ऑफ द वर्ल्ड फॉरेस्ट्स के आंकड़ों को देखें तो दुनिया में 31 फीसदी से ज्यादा भूमि पर वन हैं। यह जंगल पेड़-पौधों की अनगिनत प्रजातियों का घर हैं। वहीं यदि इन जंगलों के बढ़ते विनाश की बात करें तो 1990 से लेकर अब तक करीब 42 करोड़ हेक्टेयर वन क्षेत्र नष्ट हो चुके हैं। 2015 से 2020 के बीच दुनिया भर में वन क्षेत्र एक करोड़ हेक्टेयर प्रति वर्ष की दर से नष्ट हो रहें हैं। हिंदी गजल ने इस समस्या को बखूबी समझते हुए इसे बड़ी संजीदगी से अभिव्यक्त किया है। जैसे -

घोंसलों में अपने गौरैया है बैठी सोचती
जाये वो किस बाग में अमरुद खाने के लिये

- गौतम राजऋषि

भारत में सदियों से भारत में नदियों की पूजा करने की परंपरा रही है। भारत में नदियाँ केवल जल ही नहीं, अपने साथ एक सांस्कृतिक धरोहर लेकर बहती हैं। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक, पर्यटन, स्वास्थ्य, कृषि, शैक्षिक, औषधि और न जाने कितने क्षेत्र हैं जो हमारी नदियों से सीधे-सीधे जुड़े हुए हैं। मनुष्य ने अपने जरूरत के हिसाब से पहले प्रकृति को नुकसान पहुँचाया और अब नदियों को भी प्रदूषण की चपेट में लेने लगे है, जो कि एक बहुत ही चिंताजनक बात है। आज नदियों के जल को स्वच्छ रखना सभी के लिए एक बड़ी

चुनौती है।

जीवन का आधार है नदिया
सपनों का संसार है नदिया

– ममता किरण

भारत के मुख्य शहर प्रमुख नदियों के तटों पर विकसित हुए हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसी प्राचीन सभ्यताएँ नदियों के तटों पर ही जन्मीं और जब नदियों ने अपना रास्ता बदल लिया, तो ये सभ्यताएँ नष्ट हो गईं। आज भारत में कई नदियाँ विलुप्त होने के कगार पर खड़ी हैं। नदियों का अप्राकृतिक कारणों से सूखना सम्पूर्ण मानवता के लिए शर्म की बात है। विनय मिश्र की गजलों में नदियों की लाचारी साफ झलकती है। जैसे –

अपनी माटी अपने मन की भाषा एक नदी
भूल गई है जाने कब से बहना एक नदी
रेत उधर से उड़कर आई कहने कानों में
खतरे में है जीवन जब है मुर्दा एक नदी

– विनय मिश्र

सूर्यभानु गुप्ता एक ऐसे गजलगो हैं जो प्रकृति के घटकों जैसे सूरज, जंगल, हवा, नदी, पानी, समुन्दर आदि के माध्यम से नए बिम्ब सृजित करते हैं। इनकी गजलों में अछूते बिम्बों की दृश्यात्मकता एक नया अनुभव संसार गढ़ती है। हिंदी गजल में ऐसे प्रतीकों का प्रयोग समकालीन समस्याओं के लिये किया जाना इस बात का सुबूत है कि समकालीन हिंदी गजल पर्यावरण के प्रति कितनी सचेत है। इन प्रतीकों के माधयम से एक ओर जहाँ आज के पर्यावरणीय हालात बयाँ होते हैं वहीं दूसरी ओर भविष्य के प्रति पर्यावरण संरक्षण की जरूरत भी महसूस होती है।

ऐसी काई है अब मकानों पर
धूप के पाँव भी फिसलते हैं
हम तो सूरज हैं सर्द मुल्कों के
मूड आता है तब निकलते हैं

– सूर्यभान गुप्त

ज्ञान प्रकाश विवेक ने सूर्यभान गुप्त की गजलों के बारे में लिखा है– "सूर्यभान गुप्त महज गजलें नहीं लिखते, गजल का पर्यावरण रचते हैं। उनकी गजलों में– हवा, धूप, पानी, दिन, जंगल, सन्नाटा, पेड़, नदी, सूरज, खामोशी जैसे रदीफों का प्रयोग होता है। ये प्रयोग अपनी सीमा तय कर लेते हैं। यानी जंगल, सन्नाटा, पानी रदीफ हैं तो शेर भी उसी विषय पर केंद्रित होंगे"।

यह आज की सच्चाई है कि पेड़ कटते जा रहे हैं और धरती पर वन आवरण लगातार कम होता जा रहा है। आज के समय में पर्यावरण असंतुलित हो गया है। पर्यावरण प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन, ग्रीन हाउस के प्रभाव, ग्लोबल वार्मिंग, ब्लैक होल इफेक्ट आदि को कम करने के लिए पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण संरक्षण के लिये कई प्रयास किये जा रहे हैं। हिंदीं गजलकारों ने इन्हीं प्रयासों को ध्यान में रखते हुए ऐसे शेर भी कहे हैं जिनमें यह उम्मीद है कि आने वाले समय में यह स्थिति सुधर जाएगी। शिकारियों ने सुकून जंगल का सारा बरबाद कर दिया है –

बहुत जरूरी है टारजन की किसी तरह वापसी का होना

– नादिर अरीज

इस नए दौर की हकीकत है
आँख खोलूं तो पास दहशत है
तन गयी धुंध की घनी चादर
ऐ हवाओं तेरी जरूरत है

– अनिरुद्ध सिन्हा

पर्यावरण संरक्षण की चेतना तभी साकार हो सकती है जब हम नदियाँ, पर्वत, पेड़, पशु-पक्षी, प्राणवायु और हमारी धरती को बचाने के लिये एकजुट हों। इसके लिए सामान्य जन को अपने आसपास हवा-पानी, वनस्पति जगत और प्रकृति उन्मुख जीवन के क्रिया-कलापों जैसे पर्यावरणीय मुद्दों पर जाकरूक रहना जरूरी है। विकास की नीतियों को लागू करते समय पर्यावरण पर होने वाले प्रभाव पर भी समुचित ध्यान देना होगा।

बहुत बेखौफ होकर फूल जो सहरा में उगता था
बदलते वक्त में वो भी खुदा से बागबाँ चाहे

– पवन कुमार

आज मानवता उस मोड़ पर खड़ी है, जब इसे पुनः यह सोचने की आवश्कता है कि पर्यावरण को हमें जीवन में पहले स्थान पर रखना है या भौतिक विकास को। विकास की कोई सीमा नहीं, नित नए आविष्कार होते ही रहेंगे और हम यूं ही प्रकृति को नुकसान पहुँचाते रहेंगे। फिर हम अगली पीढ़ी से ये उम्मीद करेंगे की वह जागरूक हो और इसका संरक्षण करे। पर्यावरण संरक्षण के लिए पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले कारणों पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। वर्तमान समय की आवश्यकता सतत विकास को ध्यान में रखते हुए विकास करने की है। पर्यावरण संरक्षण किसी एक व्यक्ति या एक देश का काम नहीं है यह पूरे विश्व के लोगों का कर्तव्य बनता है कि वह पर्यावरण को संरक्षित रखें। हिंदी गजल ने बड़ी की कुशलता से अपना पर्यावरणीय दायित्व निभाते हुए साहित्य की सार्थकता को सिद्ध किया है।

संदर्भ :

1. ममता किरण, आँगन का शजर, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 49
2. ज्ञान प्रकाश विवेक, घाट हजारों इस दरिया के, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2017, पृ. 24
3. कविता विकास, आजकल : प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, अंक : अप्रैल 2021, पृ. 49
4. राजेश रेड्डी, वुजूद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2011, पृ. 103
5. गौतम राजऋषि : नीला नीला, राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2020, पृ. 120
6. ममता किरण, आँगन का शजर, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2020, पृ. 52
7. विनय मिश्र, लोग जिंदा हैं, लिटिल बर्ड पब्लिकेशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2022, पृ. 118
8. साभार, रेख़्ता फाउंडेशन, लिंक : https://shorturl.at/kvU26
9. ज्ञान प्रकाश विवेक, हिंदी गजल की नयी चेतना, प्रकाशन संसथान नई दिल्ली, संस्करण : 2018, पृ. 95
10. तुफैल चतुर्वेदी, सात पाकिस्तानी शायर, राजपाल एंड सन्ज, नई दिल्ली, संस्करण : 2019, पृ. 62
11. अनिरुद्ध सिन्हा, आजकल, प्रकाशन विभाग नई दिल्ली, अंक : मई 2023, पृ. 41
12. ज्ञान प्रकाश विवेक, हिंदी गजल की नयी चेतना, प्रकाशन संसथान नई दिल्ली, संस्करण : 2018, पृ. 180

❖❖❖

सत्राची फाउंडेशन, पटना

शोध, शिक्षा एवं प्रकाशन की समाजसेवी संस्था

यह संस्था –

– साहित्यिक सम्मान देती है।

– शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित करती है।

– पुस्तकें प्रकाशित करती है।

– सेमिनार आयोजित करती है।

– राजभाषा/राष्ट्रभाषा सेवियों को प्रोत्साहित करती है।

– शोधकर्ताओं को स्तरीय शोध के लिए प्रोत्साहित करती है।

– नेट/जे.आर.एफ. के अभ्यर्थियों को निःशुल्क मार्गदर्शन देती है।

– हिन्दी साहित्य के शिक्षार्थियों को प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करती है।